श्री जैन सिद्धान्त भास्कर
The Jaina Antiquary
An Anglo-Hindi Quarterly Journal

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ३] [किरण १

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९३

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग——

ग्रन्थमाला-विभाग——

अंग्रेजी-विभाग——

भास्कर

दिल्ली के [illegible] जैन मन्दिर की वि० सं० १४३ की जैन मूर्ति

(देहली के बाबू पन्नालाल जी अग्रवाल के सौहार्द से प्राप्त

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ३ | जून, १९३६ । ज्येष्ठ वीर नि० २४६२ | किरण १

भट्टारक अकलंक के और एक अलभ्य ग्रन्थ की प्राप्ति

(ले०—प्रो० श्रीयुत पण्डित सुखलाल)

मैं गत गर्मी की छुट्टियों में पाटन में जो कि कभी गुजरात की राजधानी थी और जो जैन पुस्तक-भाण्डारों की राजधानी अभी तक है—था। अन्य काम करते हुए एक रोज दिल में आया कि सब पुस्तक-सूचियाँ देखूं इस दृष्टि से कि श्वेताम्बरीय भाण्डारों में दिगम्बरीय ग्रन्थ कितने और कौन कौन से हैं। इस दृष्टि से एक छोटी सी यादी कर ली, जिसमें प्रमाण-संग्रह का नाम नम्बरवार मेरे पास रहा।

इधर काशी में मेरे दो पण्डित जैन मित्रों में से एक पं० महेन्द्र कुमारजी हैं, उन्होंने मुझ से कहा कि प्रमाण-संग्रह ग्रन्थ अकलंक-कर्त्तृक है और उसका उल्लेख आया है, अत एव यह ग्रन्थ खास खोजना चाहिए। मैंने तुरन्त ही कहा कि मेरे पास की यादी

में प्रमाण-संग्रह का नाम है, वह अकलंक का ही होना चाहिए। यद्यपि याद्दी में कर्त्ता का नाम नहीं है। इसके बाद शीघ्र पत्र-व्यवहार शुरू हुआ और फल-स्वरूप वही ग्रन्थ प्राप्त हुआ जिसकी खोज करनी थी।

इस प्रमाण-संग्रह ग्रन्थ की मूल प्रति ताड़पत्र की है। इसके ऊपर से एक नकल कराई हुई है जिसे श्रद्धेय मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने जो कि पुस्तक-भाण्डारों की रक्षा-व्यवस्था में ही दत्तचित्त हैं और जो जैन साहित्य के विविध प्रकाशनों में प्रवीण तथा पटिष्ठ हैं—मेरे पास भेजा। इस नकल के अन्त में तो अकलंक का नाम नहीं है पर बीच में अकलंक का नाम आया है और वह निःसन्देह अकलंक की ही कृति है।

इसके आठ प्रस्ताव कारिकाबद्ध हैं और साथ स्वोपज्ञ-संक्षिप्त विवृति है। कुल श्लोक-परिमाण हजार से ज्यादह नहीं, जैसे स्वविवृतियुक्त लघीयस्त्रयी, जैसे न्याय-विनिश्चय, जैसे अष्टशती, वैसे ही अकलंक का यह भी एक छोटा प्रकरण अन्दाजन उक्त प्रकरणों के बराबर ही लिखा जान पड़ता है। आठ प्रस्तावों के उपरान्त उपसंहार में थोड़ा सा नयविवरण है। विषय इसका नाम से ही स्पष्ट है। इसमें प्रमाणों की जैन-दृष्टि से व्यवस्था, व्याख्या और मीमांसा की गई है।

माणिक्यनंदी के सूत्र, वादीदेवसूरि के तथा आचार्य हेमचन्द्र के सूत्र ग्रन्थों का प्रमाण-संग्रह वैसा ही आधार है जैसी अकलंक की अन्य कृतियाँ। यद्यपि सिद्धसेन और समंतभद्र ने जैन न्याय का बीजारोप किया है तथापि अभी तक के अवलोकन से यह जान पड़ता है कि जैनन्याय का विशेष व्यवस्थापक और प्रस्थापक अकलंक ही हैं। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि अकलंक ने बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति की न्यायकृतिओं को देख कर जैन न्याय की पूर्ति के वास्ते विविध दृष्टियों से अनेक प्रकरण बनाए। धर्मकीर्ति और अकलंक की कृतिओं की जब तुलना करते हैं तब अकलंक को जैन धर्मकीर्ति कहने का मन हो जाता है। प्रमाण-संग्रह छोटा होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। क्योंकि परीक्षामुख में नहीं पर वादिदेव सूरि के प्रमाणनय-तत्त्वलोक में विद्यमान नय और वाद-परिच्छेद की चाबी प्रमाण-संग्रह में से मिल जाती है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अपनी जैन तर्क-भाषा लघीयस्त्रयी के आधार पर जिस तरह लिखी है उसी तरह से अकलंक की प्रमाण-संग्रह कृति के आधार पर परीक्षामुख, प्रमाणनय-तत्त्वालोक, प्रमाण-मीमांसा आदि की रचना हुई है। अकलंक के अनुपम और

* प्रमाण-संग्रह यह नामकरण दिङ्नाग के प्रमाण-समुच्चय और शान्तरक्षित के तत्त्व-संग्रह की याद दिलाता है।

महत्त्वपूर्ण सिद्धिविनिश्चय का पता भी करीब नव वर्ष के पहिले इसी तरह चला था। जैसे सिद्धिविनिश्चय की एक ही प्रति प्राप्त हुई वैसे ही प्रमाण-संग्रह की। असली प्रति अभी तक एक ही प्राप्त हुई है पर मेरा ख्याल है और कुछ अस्पष्ट स्मरण भी है कि इसकी अन्य प्रतियाँ गुजरात के ही भाण्डारों से मिलेंगी। क्योंकि पिछले श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इसका उपयोग हुआ है। प्राप्त प्रति सिद्धिविनिश्चय जितनी तो अशुद्ध नहीं है फिर भी वह अशुद्ध ही है। पर मेरा ख्याल है कि ताड़पत्र के साथ मिलाने तथा अन्यान्य प्रतियों के प्राप्त करने पर यह बिलकुल शुद्ध हो सकेगी। इसके वास्ते अकलंक की सब कृतियों का गंभीर परिशीलन खास अपेक्षित है।

जब कि श्वेताम्बरीय भाण्डारों में से सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण-संग्रह जैसे ग्रन्थ मिल रहे हैं तब इसका पूरा संभव है कि वे तथा अन्य ग्रन्थ दिगम्बरीय भाण्डारों से अवश्य मिल सकेंगे। वादिदेव सूरि के रत्नाकर में विद्यानन्द के महोदय का उल्लेख है; मेरी धारणा है कि वह ग्रन्थ जल्दी से श्वेताम्बरीय ग्रन्थ-संग्रहों में से प्राप्त होगा।

यह मानने का कोई कारण नहीं है कि दिगम्बर भाई ग्रन्थ-रक्षा और संग्रह में उदासीन या प्रमत्त थे। फिर भी दसवीं, एकादसवीं शताब्दी के बाद का जैन साहित्य-विषयक इतिहास देखने से जान पड़ता है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर विद्वानों की तरह अपनी जबाबदेही का पालन नहीं किया। इसी से श्वेताम्बर साहित्य उस समय के बाद भी बढ़ा और खूब बढ़ा। तब दिगम्बरीय साहित्य उसी स्थान पर रह गया। दिगम्बर-परम्परा की एक भारी गलती ईस्वी सन के प्रारम्भ के आसपास आगमिक साहित्य फेंक देने में जैसे हुई थी वैसी ही दूसरी गलती ग्यारहवीं शताब्दी से शुरू हुई, जिसमें नव-साहित्य-सर्जन की तो बात ही क्या पर पूर्ववर्ती हजार वर्ष के भारतीय साहित्य में स्थान पाने योग्य अपनी परम्परा के बहुमूल्य ग्रन्थों का रक्षण संशोधन और पठन-पाठन ही करीब लुप्त-प्राय हो गया। यही कारण है कि मध्यकालीन महत्त्वपूर्ण दिगम्बरीय ग्रन्थ जो समग्र जैन साहित्य की दृष्टि से बहुमूल्य हैं वे खुद दिगम्बर भाण्डारों में से अदृश्य हो गये या अशुद्ध एवं विरल रह गए।

अब भास्कर के पाठकों के वास्ते प्राप्त प्रति में से प्रमाण-संग्रह का थोड़ा सा भाग नमूने के तौर पर यहां दिया जाता है। जैसा प्रति में पाठ है वैसा ही दिया जाता है। अशुद्ध के स्थान में जहां शुद्ध पाठ की कल्पना लिखते समय हो आई है वहां वह कोष्ठक में रक्खा गया है। प्रत्येक प्रस्ताव का आदिम और अंतिम अंश उद्धृत किया गया है जैसा कि प्रति में है। सब से अंत वाला भाग प्राप्त प्रति के लेखक ने जो अभी अणहिलपुर पाटन में जीवित है नकल करते समय लिखा है।

नमः श्रीवर्द्धमानाय ।

श्रीमत्परमर (मगं) गंभीर स्याद्वादामोघ (घ)लाञ्छनम । जीयात्रै(त्रै)लोक्यनाथस्य सा(शा)सनं जिनसा(शा)सनम् ॥१॥

प्रत्यक्षं विस(श)दज्ञानं तत्त्वज्ञानं विम(श)दमिंद्रियप्रत्यक्षमनिंद्रियप्रत्यक्षमनीन्द्रियप्रत्यक्षम् त्रिधा श्रुतमविप्लवम्। प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तं परोक्षं प्रत्यभिज्ञादिस्मरणपूर्वकं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं इदं एव प्रमाणं इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः प्रतिभासभेदेन सामग्रीविशेषोपपत्तेः ॥.........

लक्षणं सममेतावान्विशेषो ज्ञेयगोचरम् ।
अक्रमं करणातीतमकलंकं महीयसाम् ॥

इति प्रमाणसंग्रहे प्रथमः प्रस्तावः ।

प्रमाणमर्थसंवादात्प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः ।

इन्द्रियज्ञानं हिताहितप्रतिपत्तौ न वै साधकतम (मम्) स्मृतिव्यवधानात्। .... ।

आत्मैव मतिमां (मान्) दृष्टसामान्यार्थाभिनिबोधतः ।
परोक्षोप्यविलाभावमुपैति श्रुतपाहवात् ॥

इति प्रमाणसंग्रहे द्वितीयः प्रस्तावः ।

अनुमानसमासार्थमनुमानमतः परम् ।
प्रमाणं क्वचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ॥१॥
तत्र चित्रं भवेदेकमिति चित्रतरं ततः ।
चित्रसून्य (शून्य) मिदं सर्वं वेत्मि चित्रतमं ततः ॥

इति प्रमाणसंग्रहे तृतीयः प्रस्तावः ।

अन्यथासंभवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

× × ×
× × ×

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणाम् ।
ततः सर्वा व्यवस्थेति निन्येन् (नृत्येत्) काको मयूरवत् ॥

इति प्रमाणसंग्रहे चतुर्थः प्रस्तावः ।

अन्यथा निश्चितं सत्वं विरुद्धमचलात्मनि ।
निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ॥

× × ×
× × ×

विरुद्धाव्यभिचारो स्यादर्थमात्रावधारणात् ।
अन्तर्व्याप्त्य(ता)वसिद्धायां बहिरंगमनर्थकम् ॥

इति प्रमाणसंग्रहे पंचमः प्रस्तावः ।

समर्थवचनं वादः । प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमक्षं जिगीषतोरेकत्र साधनदूषण-वचनं वादः ॥

× × ×
× × ×

पदादिसत्वे साधुत्वनू(न्यू)नाधिक्यक्रमस्थितिः ।
प्रकृतार्थाविघातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम् ॥

इति प्रमाणसंग्रहे षष्ठः प्रस्तावः ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमार्थानुशासनम् ।

× × ×
× × ×

गुणयोगवियोगाभ्यां संसारपरिनिवृ(र्वृ)ती ।
संप्लवः सर्वभावानां शास्त्रं दृष्टेट(ष्ट)बाधितम् ॥

इति प्रमाणसंग्रहे सप्तमः प्रस्तावः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविधानप्रतिषेधतः ।
सहक्रमविवक्षायां सप्तभंगी तदात्मनि ॥

....

प्रमाणनयनिक्षेपैरात्मादिप्रविभागतः ।
संप्रेक्षे नितरास्तिद्धन्तत्वज्ञानमनन्तरम् ॥

इति प्रमाणसंग्रहे अष्टमः प्रस्तावः

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते ।
नयो ज्ञानतु(ज्ञातुर)भिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥

....

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादनात् ।
संख्यालक्षणगोचरार्थकथनं किं चेतसां कारणम् ॥
आज्ञातं सकलार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः ।
प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सम्मोहविच्छिन्त(त्त)ये ॥

इति प्रमाणसंग्रहं नाम प्रकरणम् समाप्तम् ।

इदं पुस्तकं श्रीमदणहिलपुरपत्तनस्थसंघवीपाटकचित्कोशगतताडपत्रपुस्तकोपरितः संवत् १९७० वर्षे मार्गशीर्षकृष्णपंचम्यां गुरुवासरे पत्तनवास्तव्यश्रीमालिज्ञातीयलक्ष्मीशंकरात्मजेन गोवर्धनेन त्रिवेदिना प्रवर्तकश्रीमत्कान्तिविजयमुनेः कृते लिखितम् ॥

यद्यपि ऊपर उद्धृत अंश के ऊपर तथा समग्र ग्रन्थ के ऊपर समालोचनात्मक तथा तुलनात्मक विवेचन करने की आवश्यकता है; वैसी इच्छा भी रही तथापि जब तक यह काम न हो तब तक इस लेख को स्थगित रखना योग्य नहीं है यह समझ कर अभी विद्वानों की जिज्ञासा जागृति के निमित्त तथा उसकी तृप्ति के निमित्त योंही लेख छपवा रहा हूँ।

शुरू में जो "शासनं जिनशासनं" ये दो पद हैं वे सिद्धसेन के सम्मतितर्क के प्रथम गाथागत "कुसमयविसासणं सासणं" इन दो पदों की याद दिलाते हैं, अकलंक के ऊपर सिद्धसेन का प्रभाव स्पष्ट है।

प्रत्यक्ष लक्षण में विशद पद का विन्यास करने वाला जैन-परंपरा में सर्वप्रथम शायद अकलंक ही है।

"लक्षणं सममेतावान्" वाला श्लोक तत्वार्थश्लोकवार्तिक (१-१२ श्लोक ६) से लिया गया है।

"समर्थवचनं वादः" इत्यादि अंश के आधार पर ही देवसूरि ने वाद लक्षण का सूत्र बनाया है।

"ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः" वाला श्लोक लघीयस्त्रयी (परि ६-२) में है।

जिस भाण्डार की ताडपत्रीय प्रति के ऊपर से यह नकल की गई है वह भाण्डार केवल ताडपत्रीय ग्रन्थों का है। जिसमें से हजारों प्रतियां नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर भी अभी हजारों प्रतियां विद्यमान हैं। इस भाण्डार के और दूसरे अनेक भाण्डारों के रक्षण तथा व्यवस्थापन का श्रेय वयोवृद्ध प्रवर्तक श्रीकान्तिविजय जी को है। उनके शिष्य मुनि श्रीचतुरविजय जी तथा प्रशिष्य मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने भी अपने गुरु पर्व से इसी मौन-सेवा की दीक्षा ली है। उन्होंने अपने भाण्डार तथा औरों के वास्ते भी हजारों नकलें नई नई करवा कर के जहां तहां ग्रन्थों को नष्ट होने से बचा लिया है। इतना ही नहीं उनका अनेक विधि साहित्य-प्रकाशन सतत चालू है और पुराने ग्रन्थों की नई नकलें करवाने का कार्य भी सतत चालू है।

जिस लेखक ने यह नकल की है वह पुरानी लिपिओं के वाचन में इतना कुशल है कि गायकवाड़ सरकार की ओर से उसे तद्विषयक प्रमाणपत्र मिल गया है। इसके सिवाय अन्य भी कई लेखक पाटन में मौजूद हैं। मानों पुरातन लेखकों की परम्परा को उक्त मुनिओं ने तथा वहां के श्रावकगण ने जीवित रक्खा है।

मैंने उपर्युक्त बाह्य वर्णन संक्षेप में इसलिये किया है कि दिगंबर धनिक शास्त्रभक्त तथा पण्डित-मुनिगण इस से कुछ सबक सीखें।

भारत में जैन और बौद्ध धर्मों का तुलनात्मक पतन

(ले०—श्रीयुत सुपार्श्वदास एम. बी.ए.)

मैं इस लेख में इस बात की विवेचना करने की कोशिश करूँगा कि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि भारत से क्यों बहिष्कृत हुआ और जैनधर्म क्यों यहां अब तक विद्यमान है।

इसके कारण दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, एक आभ्यंतरिक, दूसरे बाह्य। आभ्यन्तरिक कारणों में (१) हिन्दू, बौद्ध तथा जैनधर्मों के सिद्धान्तों का पारस्परिक साम्य तथा विभेद, और (२) आचरण-सम्बन्धी गार्हस्थ्य नियमादि सम्मिलित हैं। बाह्य कारणों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों का जैन तथा बौद्धों पर अत्याचार तथा हिन्दू धर्म की सार्वभौमता रक्खी जा सकती हैं।

प्रथम में आभ्यन्तरिक कारणों पर विचार करूँगा। इसके लिये तीनों धर्मों के सिद्धान्तों का साधारण ज्ञान अत्यावश्यक है। हिन्दू धर्म में अनेक दर्शन हैं और उनके सिद्धान्त भी भिन्न भिन्न हैं; फिर भी कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें प्रायः सभी हिन्दू जनता मानती है। वे सिद्धान्त तथा जैन और बौद्धधर्मों के सिद्धान्त नीचे कोष्ट में सामने सामने दिये जाते हैं।

हिन्दू	जैन	बौद्ध
१ ईश्वर में विश्वास।	१ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और वीतराग है। वीतराग होने के कारण न वह दयालु है, न न्यायी और न अन्यायी। न वह दीनबन्धु है और न शत्रु।	ईश्वर के अस्तित्व में पूर्ण अविश्वास।
२ ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायी, दीनबंधु, तथा इसी प्रकार के अनेक गुणों से संयुक्त है।	२ ऐसे ईश्वर में विश्वास।	२ आत्मा के अस्तित्व में पूर्ण अविश्वास।

हिन्दू	जैन	बौद्ध
३ ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है। उसी की इच्छा पर सृष्टि का अस्तित्व निर्भर है। उसी की इच्छा से सृष्टि का विसर्जन होता है।	३ ईश्वर सृष्टिकर्त्ता नहीं है। सृष्टि अनादि और अनन्त है।	३ सृष्टि का कोई कर्त्ता नहीं।
४ धर्म तथा अपने भक्तों की रक्षा के लिये ईश्वर समय समय पर अवतार लेता है।	४ ईश्वर अवतार नहीं लेता। उसे किसी प्रकार की इच्छा प्रसित नहीं करती।	४ कर्मानुसार जीवधारियों के पुनर्जन्म में विश्वास।
५ आत्मा और शरीर दो भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्मा ब्रह्म का अंश है। मोक्षप्राप्ति के बाद आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाती है। आत्मा अनादि, तथा अमर है।	५ आत्मा और शरीर दो भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्माएँ असंख्य हैं। वे किसी अन्य परमात्मा के अंश नहीं हैं। वह स्वयं रागजनित कर्मों से छुटकारा पाकर परमात्म पद को प्राप्त करती है। आत्मा अनादि तथा अमर है।	५ सांसारिक वासनाओं से मुक्ति अर्थात् निर्वाण में विश्वास।
६ मोक्ष-प्राप्ति के पहले आत्मा अनेकानेक योनियों में भ्रमण करती है। अर्थात् प्रत्येक जीवधारी का पुनर्जन्म कर्मानुसार हुआ करता है।	६ मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व आत्मा अनेक योनियों में भ्रमण करती है।	६ निर्वाण-प्राप्ति के लिए कष्टप्रद तपश्चरण में अविश्वास।
७ मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति के अलावा योग तथा तपस्या की आवश्यकता में विश्वास।	७ मोक्ष-प्राप्ति के लिए श्रद्धा ज्ञान के सिवा तपश्चरण की भी आवश्यकता है।	७ पूजा-पाठ आदि क्रियाओं में अविश्वास।
८ मूर्ति पूजा में विश्वास।	८ मूर्तिपूजा में विश्वास।	८ वेदों में अविश्वास।
९ वेदों के अपौरुषेयत्व तथा विधानों में विश्वास।	९ वेदों में अविश्वास।	

तीनों धर्मों के इन सिद्धान्तों पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से, इनके पारस्परिक साम्य तथा विभेद स्पष्ट हो जाते हैं। जहाँ हिन्दू ईश्वर को दयालु तथा सृष्टिकर्त्ता मानकर उसके अनुनय विनय तथा भक्ति में तल्लीन रहे और रहते हैं, वहाँ जैन उसे सृष्टिकर्त्ता और दयालु

न मानते हुए भी आदर्शरूप से उसकी अर्च्चना करते हैं। बौद्धों की तो कोई बात ही नहीं: जब उन्हें ईश्वर में विश्वास ही नहीं तब अर्च्चना किसकी। हाँ, सांसारिक जीवों में जन्मगत असमान अवस्थाओं को देखकर उन्हें उनका एक कारण ढूंढ़ निकालने की आवश्यकता हुई और वह कारण उन जीवधारियों के कर्म्मों का फल माना गया। बुद्ध भगवान् के मतानुसार मृत्यु के साथ ही जड़ शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु इस शरीर-द्वारा किये गये कर्म्मों का फल विद्यमान रहता है। इसी फल के अनुसार नये जीवधारी की प्रकृति, स्थिति तथा भविष्य निश्चित होते हैं। नये शरीर की उत्पत्ति का कारणक्रम डाक्टर राइस डैविड्स ने इस प्रकार किया है। Sensations originate in the contact of the organs of sense with the exterior world: from sensation springs a desire to satisfy a felt want, a yearning, a thirst (तृष्णा); from तृष्णा results a grasping after objects to satisfy the desire (उपादान); that grasping state of mind causes the new being (not of course a new soul but a new set of skandhas (स्कन्ध), a new body with mental tendencies and capabilities.) अर्थात् बाह्य जगत के साथ कर्म्मेन्द्रियों का स्पर्श होने से चेतना उत्पन्न होती है, चेतना से वाञ्छित आवश्यकता की पूर्त्ति की कामना पैदा होती है जिसे तृष्णा कहा गया है। तृष्णा से उस वाञ्छित आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये बाह्य पदार्थों की ओर आकर्षण होता है और यही आकर्षणकारी मानसिक अवस्था नये जीवधारी का कारण होती है। हिन्दुओं की समझ में यह बात नहीं आयी कि किस प्रकार आत्मा का अस्तित्व न मानते हुए और जड़ शरीर का सम्पूर्ण विनाश स्वीकार करते हुए कर्म्मेन्द्रियों का बाह्य जगत् से संसर्ग हो सकता है और चेतना पैदा हो सकती है। सच तो यह है कि यह सिद्धान्त आज तक किसी मतावलम्बी की समझ में नहीं आया है और अभी तक यह एक रहस्य ही रहा है।

ठीक यही विचारधारा उनके निर्वाण में भी लागू है। निर्वाण से उनका तात्पर्य्य उस परमानन्दपूर्ण अवस्था से है जो सांसारिक दुःख, दारिद्र्य, पाप, मोह आदि वासनाओं से मुक्ति-प्राप्ति के पश्चात् प्राप्त होती है। किस चीज की यह अवस्था है यह भी एक रहस्य ही रहा है। क्योंकि बौद्धों को आत्मा में विश्वास नहीं होता। यह अवस्था कहीं कहीं मानसिक अवस्था कही गयी है। ईश्वरवादी हिन्दू तथा जैनों को यह सिद्धान्त वाग्जाल ही मालूम हुआ और यथाशक्ति उन्होंने इसका खूब विरोध किया। दूसरी ओर जनता को आकर्षित करने के लिये बौद्धों के यहां पूजा-पाठ यात्रा नृत्य आदि का कोई विधान न रहा। यद्यपि जैन सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में विश्वास नहीं करते फिर भी वह हिन्दुओं

से बहुत दूर नहीं है, क्योंकि स्वयं सांख्य दर्शन सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में विश्वास नहीं करता और आत्मा की अनेकता का हामी है।

जिस प्रकार साँख्य तथा जैन दोनों ही दर्शनों में आत्मा का भिन्न व्यक्तित्व और बहुसंख्यकता मानी गई है इसी प्रकार यौगिकदर्शन से भी जैनदर्शन बहुत कुछ मिलता जुलता है। इन दोनों हिन्दू दर्शनों और जैनदर्शन में बहुत बड़ा भेद यह है, कि प्रथम दोनों वेदों को मानते हैं और उन्हें अपौरुषेय तक बतलाते हैं। लेकिन जैनदर्शन किसी भी रूप में इन वेदों को नहीं मानता।

जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त भी हिन्दुओं के कर्मसिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता जुलता है: भेद इतना ही है, कि हिन्दू मतानुसार कर्मफल दाता ईश्वर माना गया है पर जैनधर्मानुसार कर्मफल का प्रकृतन आत्मा और कर्मों के परमाणुओं के संसर्ग द्वारा होता है। यह भेद भी साधारण जैन जनता में पूर्णरूप से दृष्टिगोचर नहीं होता है। अधिकांश गृहस्थ जैनी व्यावहारिक जीवन में ईश्वर को ही कर्मफल दाता और कृपालु एवं दीनबंधु समझते हैं। उनके भजन, स्तुति आदि में भी यही भाव पाये जाते हैं। एक भजन की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिये:—

> हे दीनबन्धु श्रीपति करुणानिधान जी,
> अब मेरी व्यथा क्यों न हरो देर क्या लगी,
> मालिक हो दो जहान के जिनराज आपही,
> ... ...
> श्रीपाल को सागर विषे जब सेठ गिराया,
> तत्काल ही उबार लिया, हे कृपानिधी।

मनुष्य स्वभावतः सहानुभूति तथा कृपा का इच्छुक होता है। दुःखों और विपत्तियों से परावृत मनुष्य सदा किसी न किसी रूप में एक बड़ी शक्ति का आह्वान करता है। उसे ऐसी शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है जो अपनी सहानुभूति और कृपा से उसे धैर्य्य प्रदान करे और उन दुःखों और विपत्तियों को सहन करने की शक्ति दे। इन अवस्थाओं में बौद्ध धर्म कातर मनुष्यों की कुछ भी सहायता नहीं करता, विशेषकर हम भारतीयों की, जिनकी नस नस में आस्तिकता का रक्त चिरकाल से प्रवाहित हो रहा है। हमें यह धर्म ऐसे समय में शुष्क प्रतीत होता है। कृत सत्कर्मों के स्मरण से कुछ आश्वासन भले ही प्राप्त हो जाय, पर वह कड़ी विपत्तियों को सहन करने की शक्ति प्रदान करने में पर्य्याप्त नहीं होता।

समानता के इन कारणों से हिन्दुओं और जैनों के बीच इतनी द्वेषाग्नि नहीं प्रज्वलित हुई जितनी बौद्धों और हिन्दुओं के मध्य हुई। यदि जैन नास्तिक धर्म है, तो सांख्य, योग और पूर्व मीमांसा कम नास्तिक नहीं हैं। न्याय दर्शन का ही प्रथम प्रयत्न ईश्वर को सृष्टिकर्ता प्रमाणित करना था। शंकर के मतानुसार पूर्व मीमांसा से ईश्वर प्रमाणित नहीं होता। मनु ने नास्तिक की "नास्तिको वेदनिन्दकः" परिभाषा करके हिन्दू धर्म से इतर धर्मों पर नास्तिकता का सेहरा बाँधा।

महावीर स्वामी के पहिले वैदिकी हिंसा इस रूप में प्रचलित थी कि आर्यजाति का एक बहुत बड़ा अङ्ग इसका प्रचण्ड विरोधी हो गया था। कुछ भी संदेह नहीं यदि इस अङ्ग ने महावीर स्वामी की पुकार सुनी और उनके धार्मिक सिद्धांत ग्रहण किये। पर नूतन सिद्धान्त ग्रहण करने पर भी उनके और हिन्दुओं के व्यवहारिक जीवन के सम्बन्धों में विशेष अन्तर न पड़ा जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण आधुनिक सामाजिक सम्बन्धों में भी पाया जाता है। आज भी जैन तथा वैष्णव धर्मावलम्बी हिन्दू अपनी अपनी जातियों के अन्दर विवाह संस्कार करते हैं। ये बात हिन्दुओं और बौद्धों के अन्दर इस रूप में कभी भी देखने में नहीं आई।

जिस योग और तपस्या की महिमा हिन्दूधर्म में इतनी गाई गई है और जिसके कारण बड़े बड़े ऋषि, महर्षियों ने उच्चपद प्राप्त किया, उसी योग तथा तपस्या की निन्दा बुद्ध भगवान ने की। बौद्धधर्म के इन विरोधी मूल सिद्धान्तों ने हिन्दू पठित समाज के बीच विशेषकर पुरोहित ब्राह्मणों के बीच द्वेष की प्रबल अग्नि भड़का दी और वे दिन-रात येन केन प्रकारेण बौद्धों के विनाश करने के प्रयत्न में लगे रहे।

दूसरी श्रेणी के आभ्यन्तरिक कारणों में सब से प्रथम हमारा ध्यान गृहस्थ जैनों के आचार-सम्बन्धी नियमों की ओर जाता है। ये हिन्दुओं के दैनिक आचरण सम्बन्धी नियमों से कठिन हैं। सूर्यास्त के बाद भोजन निषेध, कन्द-मूलों का सेवन निषेध पंच उदुम्बर तथा मधु का भक्षण निषेध, वर्षा ऋतु में सब्जियों का खाना निषेध इत्यादि नियमों से जकड़ा हुआ जीवन मनुष्य मात्र को उतना सुलभ प्रतीत नहीं होता, जितना इन बन्धनों से मुक्त जीवन प्रतीत होता है। यदि जैनों की संख्या में बराबर कमी होती गई तो आश्चर्य्य की कोई बात नहीं।

दूसरा कारण अहिंसा का सिद्धान्त उपस्थित करता है। हम यह तो नहीं कह सकते कि इसके कारण साधारण जनता में इस धर्म के प्रति अभक्ति रही, पर इतना है, कि राज्य-विस्तार के लोलुप भारतीय राजा जिन्हें चक्रवर्ती होने और अश्वमेध यज्ञ

करने का नशा बराबर पागल बनाये रखता था, इसे तथा बौद्ध धर्म को अपने रास्ते में कंटक समझने होंगे। यद्यपि ये धर्म भी शत्रुनाश के विरोधी नहीं हैं, फिर भी इतना स्पष्ट है, कि ये धर्म निष्प्रयोजन रक्तपात कर राज विस्तार के समर्थक नहीं हैं। यदि असभ्य तथा अशिक्षित अथवा अर्ध शिक्षित जनपदों के सुधार का मिष उपस्थित किया जाय तो भी यह तर्क के सामने खड़ा नहीं रहता, क्योंकि सुधार बिना धन के नहीं होता और धन जनता के आय से कर-रूप में राजा को प्राप्त होता है। फिर भला यह कब सम्भव कि ऐसे जनपदों का सुधार बिना उन्हें राज्यान्तर्गत किए किया जा सके। यद्यपि अशोक का राज्य और भारतीय राजाओं के राज्य से अधिक विस्तृत था, पर इस विस्तार का श्रेय उसे न होकर उसके पिता तथा पितामह को प्राप्त था। अपने चालीस वर्ष के राजकाल में उसने सिर्फ कलिंग ही पर धावा किया और तज्जनित नरहत्या के पैशाचिक काण्ड को देखकर इतना दुःखित हुआ, कि उसने मृत्यु पर्यन्त फिर कभी ऐसी घटना न दुहराने की शपथ कर ली।

इसी श्रेणी का तीसरा आभ्यंतरिक कारण मध्यकालीन बौद्ध साधुओं की भ्रष्ट चरित्रता है। अशोक जैसे बौद्ध राजाओं से सम्मानित और पुरस्कृत होने के कारण उनमें परिग्रह-लिप्सा बहुत आगई और वे आदर्श से च्युत हो गये, जिससे राजा और प्रजा दोनों की भक्ति उनके और उनके धर्म के प्रति कम होगई।

बाह्यकारण

यदि अशोक तथा कनिष्क जैसे राजाओं का साहाय्य बौद्धधर्म को प्राप्त न होता तो इसका इतना प्रचार संसार में होता इसमें सन्देह ही है। जिस अहिंसा सिद्धान्त के कारण बौद्धधर्म का इन शासकों ने ग्रहण किया उसके जैनधर्म में भी और भी अच्छे रूप में रहने पर भी उन शासकों ने उसे ग्रहण न किया इसका भी कोई कारण होना चाहिये। मेरी समझ में इसके तीन चार प्रधान कारण हैं: एक तो बुद्धभगवान के जीवन-काल में ही महावीर स्वामी के शरीर त्याग के कारण, एक प्रबल विरोधी का धार्मिक-युद्ध क्षेत्र से हट जाना, दूसरे नवीनता के कारण बौद्धधर्म का आकर्षण, तीसरे बुद्ध भगवान् का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व। इन शासकों द्वारा बौद्धधर्म का प्रचार विदेशीय जनता के अन्दर जिसके लिये इसका अहिंसा सिद्धान्त और यह सिद्धान्त कि सत्कर्म करने से भविष्य में दुःखी जीवधारियों की संख्या कम होती जायगी, बहुत ही रुचिकर और उत्साहजनक प्रतीत हुए, पर भारतीय जनता में ब्राह्मणों के प्रबल विरोध के कारण बौद्धधर्म का गहरा प्रवेश न हो सका। अशोक ने शिलालेखों द्वारा इसके नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार किया।

जो नैतिक सिद्धान्त हिन्दू धर्म में भी मौजूद थे। दैनिक जीवन में तत्कालीन हिन्दू शत प्रतिशत उन्हें न पालते हों, पर वे उनके धर्मग्रन्थों में निहित थे, यह बात सर्वस्वीकृत है। फाहियान, हुयेनस्वांग आदि चीनी यात्रियों के वृत्तान्त से यह नहीं मालूम होता कि हिन्दू जनता के अन्दर बौद्धधर्म ने घर कर लिया था। उन लोगों ने अपनी यात्रा में अनेक स्तूप, अनेक मठ, असंख्य बौद्ध साधु देखे, जिससे बौद्धधर्म के सर्व जगह प्रचार का अनुमान किया। यही कारण है, कि पीछे के राजाओं द्वारा बौद्धधर्म पर काफी गहरा आक्रमण हुआ। और उसे अपनी जन्मभूमि से बिदा लेनी पड़ी।

अशोक की मृत्यु के बाद बौद्ध धर्म पर विपत्ति के बादल मड़राने लगे। सुंग राजा पुष्पमित्र ने जो ब्राह्मण धर्मावलम्बी था, बौद्धों पर जबरदस्त आक्रमण किया। कहा जाता है कि उसने मगध से जालन्धर तक के सभी बौद्ध मठों और साधुओं को नष्ट कर डाला। यही अवस्था बङ्गाल के शैव राजा सशांक के द्वारा हुई। उसने नेपाल की तराई तक के सभी मठों, स्तूपों और बौद्ध-साधुओं का समूल नाश किया, यहां तक कि बोधगया के पवित्र बोधि वृक्ष को भी उखाड़-जला डाला और पाटलीपुत्र में बुद्ध चरणाङ्कित पत्थर को तोड़-फोड़ डाला। जैनों के साथ ऐसे क्रूर व्यवहारों का उदाहरण उत्तर भारत के इतिहास में नहीं पाया जाता। हाँ, मुसलमानों ने तो इन तीनों धर्मों का समान रूप से विरोध किया, क्योंकि वे उनके लिये समान रूप से बुतपरस्त थे।

बौद्धधर्म के ह्रास का दूसरा बाह्य कारण हिन्दूधर्म की व्यापकता भी कहा जा सकता है। धीरे धीरे महायानपंथ के जन्म के पश्चात् बौद्ध देवताओं का प्रादुर्भाव होने लगा। उनमें हिन्दू देव भी सम्मिलित होने लगे। दक्षिण भारत में तो सातवीं तथा आठवीं शताब्दी के बाद से बौद्ध धर्म नाम मात्र को रह गया। दक्षिण भारत में केरल चोल आदि राज्यों में तो जैन धर्म का डंका बज रहा था। उसके बाद बौद्धधर्म का भारत के जिन जिन भागों में नामोनिशान रह गया था, वह भी मुस्लिम काल में जाता रहा। ११९३ ई० में बिहार पर चढ़ाई करने के समय बख्तियार के लड़के मोहम्मद ने बौद्ध साधुओं की ऐसी क्रूर हत्या की, कि उसके बाद एक भी जीवित साधु ऐसा न मिला जो मठस्थ पुस्तकालयों की पुस्तकों को पढ़ कर उनका विषय बता सके। इसी प्रकार के आक्रमणों से बौद्धधर्म हमेशः के लिये भारतवर्ष में निर्जीव सा होगया।

प्रकाश-द्वार

कल्याण कुमार जैन 'शशि'

कविता है हृत्तंत्री का स्वर
वीणा ! स्वर लहरी अजरामर
बता स्वयं तू ही है, कविवर

तेरी कविता को अपनाऊँ
या वीणा का प्यार ?

कौन गा रहा है यह निष्फल ?
कर विभंग आलाप अनर्गल
कुछ लेना है तो तू भी चल

भेद क्षितिज मे बहुत दूर
अस्ताचल के उस पार !

तेरा आनँद क्षण-भंगुर है
पीड़ा आनँद का अंकुर है
वह इसमें पनपा प्रादुर है

कवि ! अक्षुण्ण रहने दे
मेरी पीड़ा का संसार !

पर यह पीड़ा का उदयाचल
किसने बना दिया हर्षस्थल ?
निष्ठुर ! अभी और पल दो पल

इनको तू जागृति रहने दे-
कर मुझ पर उपकार !

अर्थहीन है वाद्य-उपकरण
मत जगने दो ध्वनि-आकर्षण
मोह रखो कुछ और सवरण

छुओ न इस नीरव वीणा को,
अस्तव्यस्त हैं तार !

निस्पन्दितम् तूलि के ! सुन्दर
मूक हुई जग-जीवन मे भर
दो थे, दोनों हुये धुरन्धर

सम्भवतः अब ऐक्य-रूप
निस्सीम हुआ विस्तार !

इच्छा है मैं भी जय पाऊँ
पर यह भय है भूल न जाऊँ
उभय रूप मे क्या अपनाऊँ ?

अभी अचल हूँ आशा का
अञ्चल पकड़े सुकुमार !

पर सहसा क्यों मौन हुआ जग
यह कैसा प्रकाश है जग-मग
यह तो खींच रहा मेरे पग

अब समझा यह अंधकार था
नव प्रकाश का द्वार !

तोम हुआ नीराज्य निरंजन
शस्य-श्याम युग का आलिंगन
फलित हो गया भेद चिरन्तन

प्राप्त हुआ अब मेरा मुझको
चिर लक्षित आधार !

हिन्दी और अपभ्रंश

(प्रो० श्रीयुत हीरालाल जैन, एम.ए., एल.एल.बी.)

आज से बीस वर्ष पूर्व, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सप्तम अधिवेशन में पंडित नाथूराम जी प्रेमी ने अपने एक निबन्ध में यह प्रकट किया था कि "प्राचीन हिन्दी का आदि स्वरूप अपभ्रंश प्राकृत से मिलता जुलता है, हिन्दी की शरीर-रचना में अन्य भाषाओं का भी थोड़ा बहुत हाथ रहा हो, पर उसकी मूल जननी अपभ्रंश ही है। ऐसा जान पड़ता है कि प्राकृत का जब अपभ्रंश होना प्रारम्भ हुआ, और फिर उसमें भी विशेष परिवर्तन होने लगा तब उसका एक रूप गुजराती के साँचे में ढलने लगा और एक हिन्दी के साँचे में। यही कारण है जो हम १६वीं शताब्दी से जितने ही पहले की हिन्दी और गुजराती देखते हैं, दोनों में उतनी ही अधिक सदृशता दिखलाई देती है। यहाँ तक कि १३वीं १४वीं शताब्दी की हिन्दी और गुजराती में एकता का भ्रम होने लगता है"। उन्होंने अपने निबन्ध में यह भी कहा था कि "प्राकृत के बाद और हिन्दी गुजराती बनने के पहिले जो एक अपभ्रंश भाषा रह चुकी है उसपर जैनों का विशेष अधिकार रहा है और जो कई ग्रन्थ अभी अभी उस भाषा के उपलब्ध हुए हैं वे सब जैन विद्वानों के बनाये हुए हैं"। प्रेमी जी ने जिस समय ये शब्द कहे थे उस समय तक अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य का ज्ञान विद्वत्समाज में भी बहुत ही कम और अस्पष्ट था। एक भी पूर्ण ग्रन्थ इस भाषा का संशोधित रूप में प्रकाशित नहीं हुआ था और इसलिये उस भाषा का हिन्दी व अन्य प्रचलित देश भाषाओं से संबन्ध का कोई विशेष अध्ययन नहीं हुआ था। किन्तु गत १५-१६ वर्षों में अपभ्रंश भाषा के बहुत से ग्रन्थों का पता चला है, उनमें से अनेक सुसंशोधित और प्रकाशित भी हो चुके हैं तथा इस भाषा का हिन्दी व अन्य प्रचलित भाषाओं से सम्बन्ध का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया है, जिससे पता चलता है कि अपभ्रंश भाषा अपने अनेक रूपों में देशव्यापी थी और उसीने हिन्दी गुजराती ही नहीं किन्तु उत्तर भारत की समस्त भाषाओं व मराठी, बंगाली आदि को भी जन्म दिया है। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा इस देश के भाषा इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वह प्राचीन आर्यभाषाओं जैसे संस्कृत व मागधी आदि प्राकृत तथा वर्तमान काल की भाषाओं के बीच की एक कड़ी है, जिसके न मिलने से यहाँ के भाषा-शास्त्र में एक बड़ी त्रुटि का अनुभव होता था और १२वीं १३वीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी आदि भाषाओं का कुछ इतिहास ही समझ में नहीं आता था। अपभ्रंश साहित्य के मिलने से यह त्रुटि

दूर हो गई है और यह स्पष्ट होता जा रहा है कि प्रचलित हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि भाषाएँ एक समय इसी अपभ्रंश-रूप में विद्यमान थीं।

इस अपभ्रंश साहित्य को सुदीर्घकाल से सुरक्षित रखने तथा हाल ही में उसे प्रकाश में लाने का बड़ा भारी श्रेय मध्यप्रान्त को है। सन् १६२२ में मध्यप्रान्त की सरकार ने इस प्रान्त में जगह जगह बिखरे हुए प्राचीन संस्कृत प्राकृत हस्तलिखित ग्रन्थों की एक प्रामाणिक सूची तैयार कराने का निश्चय किया और यह कार्य यहाँ के सुयोग्य और सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ स्वर्गीय रायबहादुर डा० हीरालाल जी को सौंपा गया। रायबहादुर साहब ने जैन ग्रन्थों की खोज और सूची-निर्माण में मुझ से साहाय्य लिया। उस समय मैंने बरार के अन्तर्गत कारंजा के अति प्राचीन और विशाल जैन-शास्त्र भंडारों का निरीक्षण किया, और वहाँ सुरक्षित हजारों ग्रन्थों में से लगभग दश बारह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा के खोज निकाले। इन ग्रन्थों का मध्यप्रान्तीय सरकार-द्वारा प्रकाशित सूची में विशेष परिचय दिया गया जिससे भाषा-विशेषज्ञों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। विद्वानों की इस साहित्य में असाधारण दिलचस्पी से प्रोत्साहित होकर मैंने इस साहित्य को प्रकाशित करने के लिये ग्रन्थमाला की आयोजना की जिसके द्वारा गत पाँच वर्षों में ही पाँच ग्रन्थ सुसम्पादित और प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक अभी प्रेस में तथा संपादन में हैं। यही नहीं मैंने इस साहित्य की और भी खोज जारी रक्खी है और अनेक स्थानों के जैन शास्त्र-भंडारों से बीसों ग्रन्थ इस भाषा के प्राप्त किये हैं। हर्ष का विषय है कि इसी बीच बौद्धों के संत साहित्य में भी इस भाषा के अनेक छोटे मोटे ग्रन्थों का पता चला है जिसका श्रेय 'महापंडित' त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृतायन जी को है। ब्राह्मण-साहित्य में इस भाषा का आदर बहुत कम किया गया है, पर वहाँ भी इस भाषा के ग्रन्थों का सर्वथा अभाव नहीं है। संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना करनेवाले विद्यापति जी ठक्कुर ने भी इस 'अपभ्रष्ट' भाषा को अपनाया है। यही नहीं, उन्होंने इस भाषा की ऐसी तारीफ की है जो उल्लेखनीय है, उन्होंने उसे संस्कृत और प्राकृत से अधिक लोकप्रिय और मिष्ट बतलाया है।

सक्कय वाणी बहुअ न भावइ। पाउअ रसको मम्म न पावइ॥
देसिल बअना सबजन मिट्ठा। तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा॥

यह विद्यापति के समय अर्थात् १४वीं शताब्दी के मैथिल देशीय अपभ्रंश का रूप है। इसका पुरानी हिन्दी से सम्बन्ध स्पष्ट ही है। हर्ष है कि ठक्कुर जी का यह सुन्दर काव्य 'कीर्तिलता' डा० बाबूराम जी सक्सेना-द्वारा सुसम्पादित और अनुवादित होकर नागरी

प्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस प्रकार जैन, बौद्ध व हिन्दू सभी धर्मों के लेखकों और कवियों ने इस भाषा को अपनाया है, यद्यपि उसका विशेष आदर और प्रचार जैन साहित्य में हुआ है।

इस अपभ्रंश भाषा की मुख्य विशेषताएँ तीन हैं—

(१) अनेक संस्कृत धातुओं से सिद्ध न होने वाले 'देशी' शब्दों का प्रयोग।

(२) शब्दों के व्याकरण रूपों में, जैसे कारक रचना और क्रिया रचना में, विशेषता, और

(३) नये नये छन्दों का प्रादुर्भाव तथा तुकबन्दी का प्रभुत्व।

उपर्युक्त लक्षणों से यह भाषा संस्कृत प्राकृत से भिन्न और वर्तमान भाषाओं के कुछ अधिक समीपवर्ती सिद्ध होती है। कितने ही देशी शब्द इस साहित्य में ऐसे मिलते हैं जो किसी एक वर्तमान भाषा में प्रचलित हैं और दूसरों में नहीं पाये जाते। कोई शब्द हिन्दी में रूढ़ हो गये हैं पर गुजराती, मराठी में नहीं; कोई गुजराती में हैं, हिन्दी मराठी में नहीं और कोई मराठी में हैं हिन्दी गुजराती में नहीं। यही बात कारक और क्रिया विभक्तियों तथा छंदों की है। अपभ्रंश की ये विशेषताएँ भी भिन्न भिन्न भाषाओं में प्रतिष्ठित हो गई हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक ही माता की सम्पत्ति उसकी अनेक बेटियों ने बांट ली हो।

अब मैं यहाँ इस भाषा के एक उच्चकोटि के कवि का उनके एक दो काव्यों के कुछ अवतरणों सहित संक्षिप्त परिचय कराता हूँ। जितने अपभ्रंश ग्रन्थ अभीतक मुझे देखने को मिले हैं उनमें पुष्पदन्त-कृत काव्य भाषा और कवित्व दोनों दृष्टियों से मुझे सर्वोत्कृष्ट जँचते हैं। इनके मुझे अभीतक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। एक है चार परिच्छेदों का जसहर-चरिउ अर्थात् यशोधर-चरित्र जिसमें महाराज यशोधर का चरित्र वर्णन किया गया है। दूसरा है नौ परिच्छेदों का णायकुमार-चरिउ* अर्थात् नागकुमार-चरित्र जिसमें कामदेव के अवतार नागकुमार का चरित्र वर्णित है, और तीसरा है एक सौ दो परिच्छेदों का महापुराण जिसमें जैनियों के तीर्थंकरादि समस्त महापुरुषों के चरित्रादि वर्णित हैं। इस महापुराण की प्रस्तावना में कवि ने अपना कुछ परिचय दिया है। कहीं दूर देश से भटकते भ्रमते ये महाकवि क्षीणकाय, श्रान्त और खेदखिन्न हुए मान्यखेट नगरी के उपवन में आ पहुंचे। वहाँ से उनका परिचय राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के मंत्री भरत से हो गया जिन्होंने उन्हें अपने शुभतुंग प्रासाद में बड़ी भक्ति और बड़े आदर से रक्खा और वहीं

* इस काव्य का परिचय भास्कर में एक अंग्रेजी लेख-द्वारा पहले भी दिया जा चुका है।

उनसे काव्य रचना कराई। ये कवि बड़े स्वाभिमानी और लापरवाह थे। उन्होंने अपने को कई बार 'अभिमान मेरु' कहा है। लोगों के रोष-तोष की उन्हें कुछ परवाह नहीं थी वे अपने विषय में कहते हैं—

केण वि कव्व पिसल्लउ मरिणउ।
केण वि ठट्ठु भणिवि अवगणिउ॥

अर्थात् किसी ने तो काव्य-कुशल कह कर मेरा सम्मान किया तो किसी ने ठट्ठा उड़ाकर अपमान किया। उन्होंने यह भी कहा है कि उनके माता-पिता मुग्धा देवी और केशवभट्ट पहले कश्यप ऋषि गोत्रीय शिवभक्त थे, पश्चात् गुरु के उपदेश से जिनभक्त होगये और उन्होंने जैन-संन्यास-विधि से समाधिमरण किया। उपलब्ध प्रमाणों पर से कवि का रचनाकाल विक्रम सम्वत् १०२० के आस-पास सिद्ध होता है। उन्हीं के समय में मालवा के हर्षदेव ने राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण किया था और उनकी राजधानी मान्यखेट को लूटा और जलाया था। इस घटना का हमारे कवि ने एक संस्कृत श्लोक में बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। वे कहते हैं:-

दीनानाथधनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं
मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथ-नरेन्द्र-कोप-शिखिना दग्धं विदग्धप्रियं
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः॥

अर्थात् जो मान्यखेट पुरी दीनों और अनाथों का धन थी, सदा बहुसंख्यक नरनारियों से भरी रहती थी, जहाँ फली हुई लताओं और वेलाओं से उपवन सुशोभित रहते थे, वह इन्द्र की नगरी की शोभा को चुरानेवाली विद्वानों की प्यारी पुरी धारानाथ के कोप-रूपी अग्नि से दग्ध हो गई। अब ये पुष्पदन्त कवि कहाँ निवास करें?

हिन्दी-साहित्य के प्राचीन इतिहास में उल्लेख मिलता है कि हिन्दी के आदिम कवि पुण्य हुए हैं। शिवसिंह सरोज के कर्त्ता ने यह उल्लेख किया है। कहीं कहीं पुण्य की जगह पुष्प पाठ भी पाया जाता है। पुण्य और पुष्प के पाठ में भ्रम हो जाना साधारण बात है। अभी तक इन पुण्य या पुष्प की कविता का कोई ग्रन्थ नहीं मिला। आश्चर्य्य नहीं जो पुण्य से इतिहास लेखकों का तात्पर्य इन्हीं पुष्पदन्त महाकवि से रहा हो और उन्होंने उनकी अपभ्रंश रचनाओं को ही हिन्दी के आदिम ग्रन्थ माना हो। पुष्पदन्त का लघुरूप 'पुष्प' साधारण बात है, जैसे भीमसेन का भीम, रामचन्द्र का राम व केशवदास का केशव और बिहारी लाल का बिहारी। यद्यपि हिन्दी-इतिहास में पुण्य या पुष्प कवि को संवत्

७०० के लगभग हुए कहा जाता है, किन्तु समय के उल्लेख पर कोई विशेष विश्वास नहीं किया जा सकता।

अब इन कवि की रचना की कुछ बानगी देखिये। नागकुमार-चरित्र की रचना कवि ने भरत मंत्री के पुत्र नन्न की प्रार्थना से की थी, इस काव्य में उन्होंने णण्ण की बड़ी प्रशंसा की है जिसमें उन्होंने व्यतिरेक अलंकार की छटा दिखायी है। वे कहते हैं—

बुद्धिय णण्णु सुरगुरु ण भंति पर णण्णहो 'णउ' वइरिय जिणंति।
पहु-भत्तिए हणुवसमाणु दिट्ठु पर णण्णु ण वाणरु णरु विसिट्ठु।
गंगेउ सउच्चें जणिय-तुट्ठि पर णण्णु ण वइरिहुं देइ पुट्ठि।
धम्मेण जुहिट्ठिलु धम्मरत्तु पर णण्णु पवासदुहेण चत्तु।
चाएण कण्णु जणदिण्णचाउ पर णण्णु ण बंधुहुं देइ घाउ।
कंतीए मणोहरु छण-संसकु पर णण्णहो णउ दीसइ कलंकु।
गरुयत्तें महि-सुविसुद्ध-चरिउ पर णण्णु ण किडिदाढाइ धरिउ।
सुथिरत्तें मेरु भणंति जोइ पर णण्णु पुरिसु पत्थरु ण होइ।
सायरु व गहीरु कयायरेहिं पर णण्णु ण मंथिउ सुरवरेहिं॥

णा० १, ४।

अर्थात् बुद्धि में णण्ण सुरगुरु हैं इसमें भ्रान्ति नहीं, भेद केवल इतना है कि णण्ण को उनके वैरी नहीं जीत सके। प्रभु-भक्ति में वे हनुमान के समान देखे जाते हैं, अन्तर इतना ही है कि हनुमान बन्दर थे और णण्ण पुरुष। सत्य में वे गांगेय के समान लोगों को संतुष्ट करनेवाले हैं पर णण्ण कभी वैरियों को पीठ नहीं दिखाते। धर्म में वे युधिष्ठिर के समान धर्मरत हैं पर प्रवास के दुःख से बचे हैं। त्याग में वे कर्ण के समान हैं पर अपने बंधुओं पर आघात नहीं करते। कान्ति में पूर्ण चन्द्र हैं, पर उनमें कलंक नहीं दिखता। गुरुता में मिट्टी के समान विशुद्ध चरित्र हैं, पर उन्हें शूकर ने अपनी दाढ़ पर नहीं धारण किया। स्थिरता में मेरु हैं पर णण्ण पुरुष हैं पत्थर नहीं, वे सागर के समान गंभीर हैं पर उन्हें देवों ने मथा नहीं है।*

एक जगह कवि एक बड़े दुर्दम घोड़े का वर्णन करते हैं—

वंकाणणु दूसहु णं दुज्जणु कसहो ण थक्कइ णाइ कुकंचणु।
अणहिय-कुसु णं णट्ठउ बंभणु णर-सम-जणणु णाइ रविणंदणु।
लक्खण-करु व खद्धलंकेसउ जव खेत्तु व अवलद्ध विसेसउ। इत्यादि।

*यहाँ कवि ने हिन्दू पुराणों की मान्यताओं के आधार पर अलंकार की रचना की है

अर्थात् 'वह अश्व दुर्जन के समान वक्रानन और दुःसह था। कशा (कोड़ा) लगाने से भी नहीं चलता था जैसे खोटा सोना कश पर नहीं चलता। वह कुशा (लगाम) ग्रहण नहीं करता था और इसलिये नष्ट ब्राह्मण के समान था जो कुश (दर्भ) तृण हाथ में नहीं लेता। वह रविनन्दन अर्थात् शनि के समान लोगों को श्रम (क्लेश) पहुंचाता था, अथवा रविनन्दन अर्थात् यम के समान लोगों को शम अर्थात् मृत्युदायक था; अथवा रविनन्दन अर्थात् कर्ण जैसे नर अर्थात् अर्जुन को श्रम अर्थात् कष्ट देता था उसी प्रकार वह नर अर्थात् लोगों को कष्टदायक था। लक्ष्मण का हाथ जैसे लंकेश अर्थात् लंकाधिपति रावण को खा गया, उसी प्रकार वह लंकेश अर्थात् चणक खाता था। उसमें बड़ा जव अर्थात् वेग था और इसलिये वह यव अर्थात् जौ के खेत के समान था'। इस वर्णन में श्लेष अलंकार की महिमा है।

नागकुमार एक युद्ध में जुटे हुए हैं। उस युद्ध का वर्णन देखिये—

> भडमुह-मुक्क-हक्क-लल्लक्कइं भेसियसुक्कसक्कचंदक्कइं।
> वज्जमुट्ठिचूरियसीसक्कइं उरयलभरियफुरियचलचक्कइं।
> सुरकामिणि-मण-णयणणिरिक्कइं विजयलच्छिसुरगणियमिरिक्कइं।
> मोडियछत्तदंडधयसंडइं विहडियणिवडियाइं सयखंडइं।
> मुंडखंडखावियचामुंडइं रुंडपिडडेवियभेरुंडइं।
> महियलि लोट्टथोट्टदुग्घोट्टइं कुलबलविहवमरट्टविसट्टइं।
> लोहियलोहियाइं गयजोवइं जमभडणीयइं पित्तइं पीयइं।
> रणरयमइयइं मुच्छए घुलियइं हयमुहलालाजलविच्छुलियइं।
> विलुलियंतमालापक्खलियइं कढिणगयापहारणिद्दलियइं।
> असिणिहसणभणहुयवहजलियइं सूलसेल्लकुंतग्गिहिं हुलियइं।

णा० ७-७

अर्थात् भटों के मुंह से जो हाँके और ललकारें निकलती थीं उनसे शुक्र, शक्र, चंद्र और सूर्य भी दहल जाते थे। वज्र-मुष्टियों से सिर चूर चूर हो रहे थे और चमचमाते हुए चक्र योद्धाओं के वक्षस्थलों पर आघात पहुँचा रहे थे। उधर सुराङ्गनाएं अपना मन और आँखें इन योद्धाओं पर लगाये हुए थीं। यहाँ छत्रों के दंड और ध्वजाओं की पंक्तियां टूट फूट कर सौ टुकड़ों में गिर रहीं थीं, कटे हुए मुंड लुढ़क पुढ़क रहे थे और रुंड भेरुंड नाच रहे थे। इत्यादि।

यहाँ शब्दों की योजना कैसी रस के अनुकूल हुई है यह ध्यान देने योग्य है। उपर्युक्त

युद्ध-वर्णन की शैली छंद के मुकाबले में एक जलक्रीड़ा के वर्णन की शैली देखिये—

लीलाकसमयगलगामिणिहिं आहारणइं लइयइं कामिणिहिं ।
कुसुमावलिपरिमलपरिमलिया सलिलहिं कयकडियलमेहलिया ।
एकइं अलिकेसहिं लिहकविउ अण्णइं कमलोवरि दक्खविउ ।
जलविब्भमु इक्कणिएइ पिय अण्णेक्क सणाहि णियंति थिय ।
अवरइं गच्छंतु हंसु भणिउ मह्नु गइविलासु पंइ कहिं गुणिउ ।
अणोकए मोरपिंछु धरिउ णं मयणबाणपत्तणु फुरिउ ।
अणणेक चवइ लग्गेवि ण मुउ मायंदकुसुममंजरिहे सुउ ।
अणणेक्कए णियसद्दें तविया कलयंठि लवंती वहविया ।

णा० २, १

यशोधर चरित में एक कौल मार्गी भिक्षुक भैरवानन्द का प्रसंग आया है जिसका कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

तीह जगह भयाउलु अलियरासि भइरउ अहिहाणिं सव्वगासि ।
तहि भमइ भिक्ख अरु देइ सिक्ख अण्णयहं जणहं कुलमग्गदिक्ख ।
बहुसिक्ख हिंसहियउ डंभधारि धरि धरि हिंडइ हुकरकारि ।
सिरि टोप्पी दिण्णरवण्ण वण्ण सा भंपवि संठिय दोण्णि कण्ण ।
अंगुलदुतीसपरिमाण दंडु हत्थंउप्फालिवि गहइ चंडु ।
गलि जोगवट्टु सज्जिउ विचित्तु पाउडियजम्मु पइ दिण्णु दित्तु ।
तडतडतडतडतडतडियसिंगु सिंगग्गु छेवि किउ तेण चंगु ।
अप्पि अप्पहो माहप्पु दप्पु अणउंछिउ जंपइ थुणइ अप्पु ।
मह्नु पुरउ पसप्पिय जुयजयारि हउं जरइं ण घिप्पमि कप्पधारि ।
णल णहुस वेणु मंधाय जेवि महि भुंजिवि अवरइं गयइं तेवि ।
मइं दिट्ठ रामरावण भिडंत संगामरंगि णिसियर पडंत ।
मइं दिट्ठ जुहिट्ठिलु बंधुसहिउ दुज्जोहणु ण करइ विण्हुकहिउ ।
हऊं चिरजीविउ मा करहु भंति हउं सयलहं लोयहं करमि संति ।
हहउं थंभमि रविहि विमाणु जंतु चंदस्स जोणह छायमि तुरंतु ।
सव्वउ विज्जउ मह्नु विप्फुरंति बहु तंत मंत अग्गइ सरंति ।

जस० १, ६

अर्थात् वहाँ एक तीनों लोकों को भयाकुल करनेवाला, असत्य की राशि, अपने अभिमान में सबको हीन गिननेवाला एक भैरवानन्द भिक्षुक घूमता फिरता और उसके

पीछे लगनेवाले लोगों को कौल धर्म की शिक्षा देता था। वह सिरपर पचरंगी टोपी दिये था जिसके दोनों बाजू के पंखों से उसके दोनों कान ढके थे। गले में उसके विचित्र योगपट्ट विराज रहा था और पांवों में सुन्दर पावड़ी की जोड़ी। उसके हाथ में एक सींग थे जिसे वह अपने हाथ पर तड़ातड़ मार रहा था। वह अपने आप, बिना पूछे, अपना माहात्म्य बतला रहा था और अपनी प्रशंसा करता था। 'मेरे सामने ही तो चार युग व्यतीत हो चुके। मैं कल्पधारी हूँ, मुझे बुढ़ापा नहीं सता सकता। नल, नहुष, वेणु और मान्धाता आदि मेरे सामने पृथ्वी का भोग करके चले गये। मैंने राम और रावण को लड़ते हुए और निशाचर को संग्राम में गिरते हुए देखा है। मैंने युधिष्ठिर को उसके भाइयों के सहित देखा है और (वह प्रसंग भी देखा है जब) दुर्योधन ने कृष्ण का कहना नहीं माना। मैं चिरजीवी हूँ इसमें शंका मत करो, मैं समस्त लोगों की शान्ति कर सकता हूँ। मैं सूर्य के विमान की गति को रोक सकता हूँ, चन्द्रमा की ज्योति को फीका कर सकता हूँ। मुझ में सब विद्यायें स्फुरायमान हैं बहुत से तंत्र मंत्र मेरे आगे आगे चलते हैं।

ये महाकवि पुष्पदन्त के अपभ्रंश काव्य के कुछ उदाहरण हैं। इनसे यहाँ मेरा प्रयोजन विशेषतः अपभ्रंश भाषा का कुछ परिचय कराना ही है जिससे इस भाषा का हिन्दी से शब्द और छंद का साम्य स्पष्ट समझ में आ जावे। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के इतिहास को पूर्ण बनाने के हेतु इस साहित्य की ओर विद्वानों को विशेष ध्यान देना चाहिये। साथ ही अपभ्रंश काव्य की रमणीयता भी कुछ हृदयंगम होगी और विद्यापति ठक्कुर की उक्ति 'दे सिल वयना सब जन मिट्ठा' का अर्थ भलीभांति समझ में आ जायगा।

राजा देवराज और आत्मतत्त्वपरीक्षण

(ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

गत वर्ष मैसूर राजकीय प्राच्य पुस्तकागार की ग्रन्थ-तालिका के पन्ने उलटते समय एक जगह मुझे राजा देवराजकृत आत्मतत्त्वपरीक्षण नामक ग्रन्थ का नाम दृष्टिगोचर हुआ। इस अश्रुतपूर्व ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ का नाम देखकर इसके अवलोकनार्थ मुझे प्रबल उत्कण्ठा हुई। फलतः मैंने दूसरे ही दिन मैसूर के उक्त प्राच्य पुस्तकागार के प्रधान अधिकारी की सेवा में इस आत्मतत्त्वपरीक्षण की प्रतिलिपि करा कर भेजने के लिये एक प्रार्थनापत्र लिख भेजा। निदान, उक्त प्रधानाधिकारी के सहज सौहार्द से कुछ ही दिनों में प्रतिलिपि होकर उक्त ग्रन्थ की एक प्रति मेरे पास आगई।

यह प्रति १४"×६॥" इञ्च लम्बे चौड़े कागज के तेरह पत्रों में समाप्त हुई है। पत्रों के बायें-दायें १॥ इञ्च, तथा ऊपर नीचे १। इञ्च हाँसिया छुटी हुई है। प्रत्येक पृष्ठ पर ८ पंक्तियाँ एवं इनके भीतर २५ से ऊपर ३५ के भीतर अक्षर हैं। पत्रों के मध्य में क्रमशः ५, ७, ६ (पूर्वपृष्ठ) १२ (पूर्वपृष्ठ) इन पत्रों में "अत्र ग्रन्थपातः" अथवा "अत्र पातः" यों प्रतिलिपिकार ने लाल स्याही से लिख कर कुछ स्थान यों ही रिक्त छोड़ दिया है। ग्रन्थ के प्रत्येक विलास (प्रकरण) एवं ग्रन्थान्त में कुछ हेरफेर करके निम्नलिखित प्रशस्ति मिलती है—

"इति श्रीमदर्हत्परमेश्वरचारुचरणारविन्दद्वन्द्वमधुकरायमाणात्मीयस्वान्तेन सद्युक्तियुक्तमवचननिचयविजितवाचस्पतिना अतिसूक्ष्ममतिना परमयोगियोग्यस्वभोग्यवैराग्यसमुपेक्षितभाग्येन सुकृतिकृतिविततिभागधेयेन सज्जनविधेयेन समुचितपवित्रचरित्रानुसन्धेयेन जैनराजजननजलनिधिराजायमानसिततटाकनिलयदेवराजराजाभिधेयेन रणविवरणवितरणाकरणप्रवीणेन अगण्यपुण्यवरेण्येन प्रणीते आत्मतत्त्वपरीक्षणे....................."

कवि ने प्रशस्ति में अपने को "सिततटाकनिलय"—निवासी लिखा है। यह सिततटाक लोकविश्रुत श्रवणबेळ्गोळ होना चाहिये। क्योंकि 'सिततटाक' इस शब्द का अर्थ श्वेत या धवल सरोवर होता है। श्रवणबेळ्गोळ के सात-आठ सौ वर्ष के पुराने लेखों में इस स्थान का नाम श्वेतसरोवर, धवलसरः और धवल सरोवर यों पाया जाता भी है।*

---

* देखो "जैन-शिलालेख-संग्रह" के लेख नं० ५७, १०८।

साथ ही साथ 'बेळ्गोळ' यह शब्द कन्नड भाषा के बेळ् और गोळ इन दो शब्दों के योग से बना है। बेळ् का अर्थ धवल या श्वेत होता है और गोळ या गुळ कोळ का अपभ्रंश (तद्भव) है, जिस का अर्थ सरोवर होता है। इस प्रकार "बेळ्गोळ" शब्द का अर्थ कन्नड भाषा के व्युत्पत्यनुसार भी धवल सरोवर ही स्पष्ट है। अब रही श्रवण (श्रमण)शब्द की बात जो पूर्वोक्त बेळ्गोळ शब्द के पूर्व में समस्तपद रूप से मौजूद है तथा उल्लिखित सिततटाक के साथ नहीं है। श्रवण (श्रमण) का अर्थ जैन मुनि होता है। अतः समष्टि रूप से श्रवण-बेळ्गोळ शब्द का अर्थ जैन मुनियों का धवल (स्वच्छ) सरोवर हुआ। इसका अभिप्राय संभवतः ग्राम के मध्य में आज भी विद्यमान एक सुरम्य निर्मल सरोवर से है। पूर्व में यहां की भूमि अगणित मुनि-महात्माओं की तपस्या की क्रीड़ास्थली थी। इसी से बेळ्गोळ शब्द के पूर्व प्रयुक्त इस श्रवण शब्द की सार्थकता सर्वथा प्रतीत होती है। प्रशस्तिगत सिततटाक शब्द के पूर्व श्रवण शब्द न होने से प्रायः कतिपय विद्वानों की धारणा हो सकती है कि देवराज-द्वारा प्रतिपादित बेळ्गोळ श्रवणबेळ्गोळ न होकर उसी के आस-पास आज भी वर्तमान हळे बेळ्गोळ और कोडि बेळ्गोल इन दो बेळ्गोळों में से अन्यतर हो सकता है। पर इसकी संभावना नहीं की जा सकती। क्योंकि देवराज जैसे आत्मतत्वान्वेषी विद्वान् निकटस्थ श्रवणबेळ्गोळ-सदृश परम पुनीत स्थान को छोड़कर उल्लिखित साधारण स्थानों में क्यों कर रहने लगे? बहुत कुछ संभव है कि देवराज अन्तिम समय में आत्मकल्याणार्थ उल्लिखित श्रवणबेळ्गोळ को ही निवासोपयुक्त समझ कर वहाँ रहे हों एवं वहीं इस प्रस्तुत आत्मतत्त्व-परीक्षण का प्रणयन किया हो। बल्कि उल्लिखित सिततटाक के साथ श्रवण शब्द का होना कोई जरूरी नहीं है। क्योंकि प्राचीन लेखों में इस स्थान (श्रवणबेळ्गोळ) का नाम श्वेतसरोवर, धवलसरः, धवल सरोवर, बेळ्गोळ, बेळगुळ, बेळ्गुळ एवं बेळ्गुळ ही केवल पाया जाता है*। अतः सिततटाक से श्रवणबेळ्गोळ ही आत्मतत्त्वपरीक्षण के प्रणेता का अभीष्ट निवास सिद्ध होता है।

यह श्रवणबेळ्गोळ ग्राम मैसूर राज्य के हासन जिले के चेन्नरायपट्टण तालूक में दो सुन्दर पर्वतों के मध्य में बसा हुआ है। इनमें से बड़ा पर्वत (दोड्डबेट्ट) जो ग्राम से दक्षिण की ओर है विन्ध्यगिरि कहलाता है। इसी पर्वत पर गोम्मटेश्वर की विश्वविख्यात परम मनोज्ञ वह विशाल प्रतिमा स्थापित है। इसमें इस प्रतिमा के अतिरिक्त कुछ रमणीक चैत्यालय भी विराजमान हैं। दूसरे छोटे पर्वत (चिक्कबेट्ट) जो ग्राम से उत्तर की ओर है चन्द्रगिरि के नाम से प्रख्यात है। अधिकांश प्राचीनतमलेख और मन्दिर इसी

* देखें "जैन-शिलालेख-संग्रह" के लेख नं० ५४, १०८, १७-१८, २४।

पर्वत पर हैं। सम्पूर्ण दक्षिण भारत में प्राकृतिक सौन्दर्य, प्राचीन शिल्पकला, धार्मिक एवं ऐतिहासिक स्मृतियों में श्रवणबेळ्गोळ की समता करनेवाले स्थान बहुत विरल हैं। आर्यजाति विशेषतः जैन जाति की लगभग ढाई हजार वर्ष की सभ्यता का इतिहास यहाँ के विशाल एवं मनोज्ञ मन्दिरों, सुप्राचीन गुफाओं, अनुपम सर्वोत्कृष्ट मूर्तियों तथा सैकड़ों शिलालेखों में भरा-पड़ा पाया जाता है। यह स्थान असंख्य त्यागी तपस्वियों की तपश्चर्या से पुनीत, अनेक धर्मप्राण यात्रियों की भक्ति-ध्वनि से मुखरित तथा अगण्य राजा-महाराजाओं के दान से समलंकृत हुआ था।

अब यहाँ पर विचारणीय बात यह उपस्थित है कि इस पवित्र धर्मस्थली को अपनी निवासभूमि लिखनेवाले आत्मतत्त्वपरीक्षण के रचयिता यह देवराज कौन हैं। देवराज नाम के कतिपय व्यक्ति मैसूर राजवंश में कळले प्रधानों में एवं राष्ट्रकूट शासकों में* अवश्य मिलते हैं, किन्तु यह जैन धर्मानुयायी थे, इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। अतः उल्लिखित देवराजों में से किसी को प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणेता बतलाना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। हाँ—मेरी दृष्टि में इनसे भिन्न एक देवराज हैं—वह श्रवणबेळ्गोळ के ९८ (२२३) के शिलालेख में प्रतिपादित देवराज हैं। इस शिलालेख में उत्कीर्ण है कि यह देवराज काश्यपगोत्र, आहनीय सूत्र, वृषभ प्रवर और प्रथमानुयोग शाखा में चावुण्डराज के वंशज, बिळिकेरे अनन्तराज अरसु (राजा) के प्रपौत्र, तोट देवराज अरसु के पौत्र एवं सत्यमङ्गल के चलुवय्य अरसु के पुत्र तथा मैसूर नरेश मुम्मडि कृष्णराज ओडेयर के प्रधान अंगरक्षक थे। साथ ही साथ इस शिलालेख में यह भी लिखा हुआ है कि इनकी मृत्यु गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के दिन हुई थी और इसीलिये आपके पुत्र पुट्ट देवराज अरसु ने अपने पिता के स्मारकरूप में गोम्मट स्वामी की वार्षिक पाद पूजादि सेवा के लिये शक सम्वत् १७४८ को एक सौ "वरह" (चार रुपयों का एक वरह होता है) का दान किया था†। महामहोपाध्याय श्रीमान् आर० नरसिंहाचार्य एम० ए० भी इन्हीं देवराज को आत्मतत्त्वपरीक्षण ग्रन्थ के रचयिता बतलाते हैं। अतः एक प्रकार से निश्चित सा कहा जा सकता है कि यही देवराज इस प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आप एक सुकवि ही नहीं थे किन्तु उद्भट सभाविजेता एवं दुर्धर्ष समरविजयी भी थे। आपका स्वर्गवास शकसम्वत् १७४८ ई० सन् १८२७ में हुआ था यह बात उल्लिखित शिलालेख से सिद्ध होती है। अतः

* देखें "बंबई प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक" पृष्ठ ११६।

† देखें "जैन-शिलालेख-संग्रह" पृष्ठ १९१ लेख नं० ९८ (२२३)।

आपका समय भी निर्विवादरूप से ई० सन् १८ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही निश्चित है। कवि ने अपनी कृति में अपना कुछ विशेष परिचय देने की उदारता नहीं दिखलायी है, अतः इनके सम्बन्ध में आवश्यक जो कई ज्ञातव्य बातें हैं, उनपर प्रकाश नहीं डाला जा सका। प्रशस्तिगत कतिपय स्वपरिचायक विशेषणों से ही कवि का कुछ परिचय यहाँ पर दिया गया है। अस्तु अब आपकी रचना पर भी कुछ प्रकाश डालना मैं आवश्यक समझता हूँ।

प्रस्तुत भवन की प्रति में पाँच विलास (प्रकरण) हैं। सर्व-प्रथम कवि ने आत्मा के विभुत्व (व्यापकता) अणुपरिणामित्व एवं मध्यम परिणामित्व आदि इन अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन कर स्वदेहपरिणामित्व सिद्ध किया है। बाद सांख्याभिमत पुरुषतत्व के लक्षण को असंगत ठहराते हुए योगाभिमत ईश्वरकारणत्व, बौद्धैकदेशी योगाचार के शून्यवाद एवं ब्रह्माद्वैतवाद का निरसन किया है। यहाँ पर तृतीय विलास समाप्त लिखा है। पर पता नहीं लगता कि १म तथा २य विलास कहाँ पर समाप्त हुए? हाँ—पाँचवे पृष्ठ के अन्त में "अत्र ग्रन्थपातः" यों प्रतिलिपिकार के द्वारा लाल स्याही से लिखा मिलता है। सम्भव है कि यहीं बीच में इन दोनों अनिर्दिष्ट विलासों के समाप्ति-सूचक वाक्य रह गये होंगे। आगे तुरीय (४र्थ विलास में अहिंसाधर्म की महत्ता अत्यन्त संक्षिप्त रूप से बतला कर देहात्मवाद, जीवात्मवाद एवं प्राणात्मवाद आदि की चर्चा की है। ग्रन्थ की समाप्ति भी यहीं होती दिखती है। पर समाप्तिसूचक वाक्य इस प्रति में नहीं मिलता है।

अन्त में इस आत्मतत्त्वपरीक्षण ग्रन्थ का प्रारम्भिक, मध्य एवं अन्तिम अंश विज्ञपाठकों के सामने इसलिये रख दिये जाते हैं जिससे पाठक देवराज जी की संस्कृत भाषा-शैली तथा वर्णन-चातुर्य आदि का पता लगा सकें। साहित्यिक दृष्टि से यह ग्रन्थ भले ही उच्च आदर्श का न हो, फिर भी राज्यकार्य में अविरत अस्तव्यस्त राजा एवं उच्च राजकर्मचारी भी साहित्यिकों की श्रेणी में प्रविष्ट होकर ग्रन्थ-प्रणयन और साहित्यसेवा कर सकते हैं—इस बात का यह ज्वलन्त निदर्शन है। ऐसे ऐसे रचयिताओं की कृतियों को भी संगृहीत एवं प्रकाशित करना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मैं परमावश्यक समझता हूँ। मेरे ख्याल से महाराज अमोघवर्ष, चावुण्डराय, पाण्ड्यक्ष्मापति* के बाद चौथा यही देवराज जैन राजवंशीय संस्कृत ग्रन्थ-प्रणेता हैं।

---

* देखें "प्रशस्ति-संग्रह" पृष्ठ ३४।

प्रारंभिक अंश :—

समन्तभद्रमहिमा(म) समन्तव्याप्तसंविदा ।
कुरुते देवराजार्य आत्मतत्त्वपरीक्षणम् ॥१॥
जिनो जयत्यतितरां नैष्कर्म्यपरिकर्मिता ।
मुक्तावलिर्यस्य भावः तटस्थः सद्गुणार्णवः ॥२॥

ज्ञातव्येषु पदार्थेषु आत्मनः अत्यन्तान्तरंगतया तत्स्वरूपं सम्यङ्निरूपणीयम् । तन्निरूपणञ्च विविधवादिविवादग्रहग्रस्ततया विमताभिमतात्मस्वरूपबोधकोपन्यास-मन्तरेण न नितान्तं स्वान्तमधिरोहतीति विपक्षपक्षप्रतिक्षेपोऽपेक्षित इति सोऽपि कर्त्तव्यः ।

× × ×

मध्यम अंश (पत्रपृष्ठ ७) :—

किञ्च प्रमेयमास्माकं तद्दूषणतिरस्कृतिः ।
दिङ्मात्रमेव प्रादर्शि बुद्धिशालिभिरूह्यताम् ॥१॥
सन्त्येवास्मिन्मते धीराः साधवः सूक्ष्मबुद्धयः ।
स्वीयदर्शननिष्णातास्समये साधयन्ति च ॥२॥
तटस्थो यदि राजन्यः बुद्धा निर्मत्सरा यदि ।
ग्रन्थाश्च मामकाः सार्थाः अविचारेऽखिलं वृथा ॥३॥
सत्यं जगत्सद्गुणं च ब्रह्मजीवास्त्वनेकधा ।
बद्धा मुक्ताश्च निर्दोषा धर्माधर्मौ विरागता ॥४॥
अष्टैवात्मगुणा ह्येते सिद्धान्तप्रतिपादिताः ।
श्रीमत्समन्तभद्रादिस्याद्वादन्यायकोविदैः ॥५॥
प्रत्यक्षं च परोक्षं च प्रमाणद्वितयं मतम् ।
आप्तवाक्यं चानुमानं प्रत्यक्षं मेयसाधने ॥६॥
प्रमाणत्रितयं चास्मात्सिद्धान्तप्रतिपादितम् ।
शाकटायनमुख्याश्च मुनीन्द्राः स्युः प्रवर्त्तकाः ॥७॥
इत्थं चेदिदमग्राह्यं संग्राह्यं वेति चिन्त्यताम् ।
बुधैर्विमत्सरैर्युष्मान् प्रार्थये दयया सकृत् ॥८॥

× × ×

श्रीजिनस्वप्रसंप्राप्तमेयमानानुसारिभिः ।
देवराजोदितं वाक्यैरात्मतत्त्वपरीक्षणम् ॥

× × ×

अन्तिम अंश :—

× × × द्वितीयः मनो जानातीति ज्ञानाश्रयत्वात् परैरपि अन्यज्ञानमात्रे मनः-कारणत्वाभ्युपगमात्तस्य च नित्यत्वादेकत्वाच्च योऽहं पूर्वं घटमन्वभवं सोऽहं स्मरामीति प्रतिसंधानसम्भवाच्च। संघातरूपतया प्रत्येकविकल्पाभावाच्च मम मन इति भेदप्रतीतिः ममात्मा जानातीत्यादि भवदीयव्यवहार इव गतिः कल्पनीयेति। चतुर्थास्तु प्राण एवात्मेत्या-चक्षते देहेन्द्रियमनसां प्राणाधीनत्वात्। प्राणस्थित्यपगमाभ्यां जीवति मृत इति व्यवहारस्य सर्वसंप्रतिपन्नत्वात्। सुषुप्त्यादौ उच्छ्वासनिःश्वासादिप्राणवातसत्वेऽपि बोधाभावस्य सामग्र्यभावनिबन्धनत्वादित्याहुः। तत्र देहात्मवादोऽत्यन्तानुपपन्नः बाल्यादिदेहस्याऽवयवोपचयापचयाभ्यां नानात्वेन बाल्येऽवलोकितस्य स्थाविरेऽनुसन्धाना-भावप्रसंगात्। न स्याच्चाद्य जातस्य स्तन्यपाने जन्मान्तरीयस्तन्यपानेष्वसाधनतानुभव-जनितसंस्कारोद्भेदात्प्रवृत्तेश्च। नैव भवेदारोग्यभाग्यादिवैषम्याच्चेत्यन्तानुपपन्नः शरीरात्मवादः। बाह्येन्द्रियात्मवादोऽपि चक्षुरादेरेकैकस्य आत्मत्वे चक्षुषि सत्यभूतस्य तद्वैकल्यदशायामनुसन्धानाभावप्रसंगादित्याद्यतिप्रसंगेन विनिगमनाभावेन च प्रत्येके-न्द्रियवादस्यायुक्तत्वात् संघातात्मवादोऽप्यन्धबधिरादेश्चैतन्यमात्रविलोपस्य सुषुप्तौ बाह्येन्द्रियविलयेन स्वप्नाविज्ञानस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गाच्च वाह्येन्द्रियात्मवादोऽप्यनुपपन्नः। ज्ञानकरणेषु कर्तृत्वोपचारमात्रेण चक्षुः पश्यतीत्यादि व्यवहार इति संगिरन्ते। मनोजी-वत्ववादश्च मनस्साधकमानबाधितस्तस्य सुखादिसाक्षात्कारकरणतयैव सिद्धेः। कर्तृत्वायोगादात्माणुत्वपक्षे उक्तदूषणाक्रान्तेश्च। मनोजीववादोऽपि न सुमनोमनोहर इत्यभिदधते। प्राणात्मवादोऽप्यप्रामाणिकः। प्राणस्यानित्यतया देहात्मवादोक्तदोष-प्रसंगात्।

इति श्रीमदर्हत्परमेश्वरचारुचरणारविन्दद्वन्द्वमधुकरायमाणात्मीयस्वान्तेन सद्युक्ति-युक्तयुक्ततमवचननिचयवाचस्पतिना अतिसूक्ष्ममतिना परमयोगिभोग्यसमुपेक्षितभागधेयेन सुकृतिकृतिवितर्तिभागधेयेन सज्जनविधेयेन समुचितपवित्रचरित्रानुसन्धेयेन जैनराज—जननजलनिधिराजायमानसिततटाकनिलयदेवराजराजाभिधेयेन रणविवरणवितरणकरण-प्रवीणेन अगण्यपुण्यवरेण्येन प्रणि…………

जैन-शिलालेख-विवरण

(श्रीयुत प्रोफेसर गिरनॉट)

भारतीय शिलालेखों में जैनधर्म-विषयक शिलालेख अत्यधिक हैं और वे हैं भी अति प्राचीन काल के। किन्तु खेद है कि वे यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। जैनियों ने उनको संग्रह करके सम्पादित करने का कष्ट नहीं उठाया है; यद्यपि वे जैनधर्म की कीर्ति को ही नहीं प्रत्युत भारत की पूर्व प्रतिष्ठा को खूब दरसाते हैं। किन्हीं अजैन विद्वानों ने इस दिशा में कुछ प्रयास किया भी है; परंतु वह नगण्य है। स्वयं जैनियों को इस महान कार्य के लिये लाखों रुपये व्यय करके उत्तम फल प्राप्त करना चाहिये। निम्न पंक्तियों में प्रो० गिरनॉट कृत फ्रेञ्चभाषा के 'बाइब्लोग्रेफी जैन' नामक ग्रन्थ से जैन शिलालेखों का कतिपय विवरण सधन्यवाद उपस्थित करते हैं। इससे पाठकगण जैन शिलालेखों का महत्त्व आंक सकेंगे :—

१ खण्डगिरि के शिलालेख का उल्लेख कनिंघम सा० ने Corpus inscriptionum indicarum, Vol. I (cal 1877) में किया है :

२ कहाऊं का शिलालेख जे० एफ० फ्लोट-द्वारा सम्पादित। स्तम्भ पर तीर्थंकर आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ भी हैं, जिसे मद्र ने बनवाया था। समय ४६०—४६१ ई०, भाषा संस्कृत।

(Corpus incrip : indicarum, vol. III, Ins : No. 15; pp. 65—68. pl. IX)

३ उदयगिरि का शिलालेख जिसमें श्रीपार्श्वनाथ की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। समय ४२५—४२६ ई०, भाषा संस्कृत।

(Ibid No. 61, pp. 258—260, pl. XXXVIII)

४ कीरग्राम के वैजनाथमंदिर का जैन शिलालेख; संपादक जी० बुल्हर। भ० महावीर की मूर्ति के पादभाग पर नागराक्षर में अङ्कित है कि अभयदेव के शिष्य देवभद्र के अनुयायी दो०हण व अल्हण श्रेष्ठी ने प्रतिष्ठा कराई संवत् १२९६।

(Epigraphia Indica, Cal. 1892, vol. I, No. XVII)

५ काङ्गड़ाबाजार में श्रीपार्श्वनाथ मूर्ति के आसन में अङ्कित शिलालेख। सं० जी० बुल्हर। अभयचंद्र की शिष्य-परंपरा का उल्लेख अस्पष्ट है। ८५४ ई०।

(Ibid XVIII.)

६ खजराहो के जैन शिलालेख जो सं० १०११ के निर्मित जैन मंदिर से प्राप्त करके कीलहार्न सा० ने संपादित किये थे। (Ibid. XIX)

७ पट्टन के वाड़ीपुर पार्श्वनाथ मंदिर की प्रशस्ति —सं० जो० बुह्लर। जैन नागराक्षर। ५२ पंक्तियाँ। खरतरगच्छ की पट्टावली। सं० १६५१। (Ibid. XXXVII)

८ मथुरा के २७ जैन शिलालेख। सं० बुह्लर। भाषा प्राकृत संस्कृत मिश्र। इण्डोसीथियनकाल। (Ibid. XLIII)

९ मथुरा के ७ और शिलालेख। (Ibid· XLIV)

१० उत्तरीय गुजरात के शिलालेख—सं० जे० क्लिस्टे।

सं०	संवत्	स्थान	उद्देश
१	१३५६	भिलरी	एक मूर्ति की स्थापना।
३	....	,,	......
४	१२६५	दिलमाल	पार्श्वनाथ मूर्ति की स्थापना।
१०	१२१७	पालमपुर	स्त्रीमवाना के महावीर मंदिर को दान।
१२	१२५६	रोहो	......
१४	१२६६	,,	नेमिनाथ मूर्ति की स्थापना।
२०	१६८०	मरोत्रा	मंदिर का दान। विजयदेव व विजय सिंह आचार्यों का उल्लेख।
२१	,,	,,	महावीर मंदिर में गंधकुटी बनाना।
२२	,,	,,	पार्श्वनाथ जिन मंदिर का निर्माण।
२३—२६	,,	,,	मंदिर को दान।
२९	१६४२	तारंगा	मंदिर का जीर्णोद्धार।

११ शत्रुञ्जय के शिलालेख—संख्या ११८। सं० जी० बुह्लर। सं० १५८७ से १७१० और सं० १७८३ से १९४३ तक के। नं० ३० के शिलालेख में दिगम्बर पट्टावली अङ्कित है। (The Jaina Inscriptions from Shatrunjaya, Ibid. VI.)

१२ मथुरा के अन्य जैन शिलालेख (Further Jaina Inscriptions from Mathura—G. Buhler) कुल ४१ शिलालेख अङ्कित हैं, जिनसे जैन मान्यताओं की पुष्टि होती है। यह भी प्रकट है कि सन् १६७ ई० में मथुरा में एक ऐसा स्तूप मौजूद था जिसकी प्राचीनता अज्ञात थी। (Ibid XIV).

१३ दूबकुण्ड का कच्छपघाट वंशी विक्रम सिंह का शिलालेख सं० कीलहार्न। भाषा संस्कृत। सं० ११४५। एक जैन मंदिर के निर्माण और दान का उल्लेख। (Ibid XVIII)

१४ पभोसा के शिलालेख—सं० फुहरर। अर्वाचीन और प्राचीन शिलालेख। पार्श्वनाथ मूर्ति सं० १८८१ को प्रतिष्ठित है। (Ibid XIX.)

१५ सुदी(?)स्थ ताम्रपत्र बुटुग का शक सं० ८६०—सं० फ्लीट। Spurions Sudi copper-plate Grant purpoting to have been issued by Butuga in Sakasam. 860—J. F. Fleet भाषा संस्कृत—कनड़ी लिपि। सुदी के जैन मंदिर को गंगवंशी बुटुग का दान (Ibid, Vol. III, 1894-95, No. 25)

१६ श्रवणबेल्गोलस्थ मल्लिषेण प्रशस्ति—शक संवत १०५० के पश्चात्। सं० हल्श सा०। कनड़ी लिपि। भाषा संस्कृत। (Ibid No. 26)

१७ शिलाहार विजयादित्य का कोल्हापुर का शिलालेख—शक सं० १०६५। सं० कीलहार्न। भाषा संस्कृत। लिपि कनड़ी। देशीगण पुस्तक गच्छ के कोल्हापुरीय माघनन्दि के शिष्य वासुदेव को हविन हेरिञ्जगे (?) के जैन मंदिर के लिए दान। (Ibid No. 27.)

१८ बामनी शिलालेख शिलाहार विजयादित्य का—शक सं० १०७३—सं० कीलहार्न। भाषा संस्कृत, लिपि कनड़ी। मड्लूर के जैनमंदिर को दान देने का उल्लेख है। (Ibid No 28.)

१९ श्रवण बेल्गोलस्थ-प्रभाचन्द्र-प्रशस्ति—सं० फ्लीट सा०। भाषा संस्कृत। सन् ७५० ई०। (Ibid, Vol IV 1896—97; No. 2)

२० पंचपाण्डवमलय के जैन शिलालेख—सं० वी० वेङ्कय्य। आर्काट जिले की पंच-पाण्डवमलय नामक पहाड़ी गुफा में अङ्कित है। दान का उल्लेख है। (Ibid No. 14)

२१ वल्लिमलय के जैन शिलालेख—सं० हल्श सा०। आर्काट जिले के वल्लिमलय पर्वत पर के जैन स्थानों पर अङ्कित है। भाषा कनड़ी, लिपि ग्रन्थ। राजमल्ल ने जैन मंदिर बनवाया। (Ibid No. 15)

२२ उत्तर भारत से तीन शिलालेख—सं० कीलहार्न देवगढ़ के जैनमंदिरों के शिलालेख हैं जो शान्तिनाथ के मंदिर में मिले थे। आचार्य कमलदेव। सं० ९१९। (Ibid No. 44).

२३ प्रभूतवर्ष के कदंब (?) दानपत्र—सं० लूडर्स। यह संस्कृत भाषा का दानपत्र तुमकूर जिले

के कदव नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। इसमें राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष (गोविन्द तृतीय) ने जाल (?) मंगल नामक ग्राम जैन गुरु अर्ककीर्ति को शिलाग्राम के जिनमंदिर के लिए प्रदान किया था उसका उल्लेख है। शक ७३५।

(Ibid No. 49).

२४ मारसिंह द्वितीय का श्रवणबेलगोलस्थ समाधि लेख—सं० फ्लीट। भाषा संस्कृत, लिपि कनड़ी। गंगवंशी मारसिंह ने बङ्कापुर में समाधिमरण किया। सन् ९७५ ई०। (Ibid Vol. V, 1898—99, No. 18).

२५ अबलूर के शिलालेख—सं० फ्लीट—भाषा कनड़ी—सन् १२०० ई० लिङ्गायतों की उत्पत्ति और जैनों से उनका विद्वेष वर्णित है। (Ibid. No. 25)

२६ पुलिकेशी द्वितीय का ऐहोले का लेख—सं० कीलहार्न। मेगुती के मंदिर में संस्कृत भाषा का लेख शक ५५६ का है। कवि रविकीर्ति की रचना है।

(Ibid, Vol. VI. 1900—01, No. 1)

२७ अमोघवर्ष प्रथम का कोन्नूर का लेख—कीलहार्न—भाषा संस्कृत लिपि कनड़ी। शक ७८२। वीरनन्दि के शिष्य माघचन्द्र त्रैविद्य को अमोघवर्ष प्रथमद्वारा दान देने का उल्लेख है। (Ibid No 4)

२८ दक्षिण भारत की तीन बृहत्काय गोम्मट मूर्तियों के लेख। सं० हल्श सा०।

(Ibid, Vol VII, 1902—03, No. 14)

२९ इरुगप्प के जैन शिलालेख—सं० हल्श। कञ्जीवरम् के वर्द्धमान मंदिर में ग्रन्थ लिपि में अंकित है। मंत्री इरुगप्प ने एक गाँव मन्दिर को भेंट किया था। सन् १३८२ ई०। दूसरे लेख की भाषा संस्कृत है जिसमें इरुगप्प द्वारा एक मंदिर बनाये जाने का उल्लेख है। सन् १३८७—८८ ई०। (Ibid No. 15).

३० विजयादित्य प्रथम द्वितीय का कल्लुचुम्बर्रु का दानपत्र—सं० फ्लीट सा०—भाषा संस्कृत : लिपि सुद (?)। वलहारि गण अड्डकलि गच्छ (?) के अर्हनन्दिन् आचार्य को दान देने का उल्लेख है। (Ibid No. 25)

३१ इरुगप्प का श्रवणबेल्गोल का लेख—सं० लूइस। संस्कृत भाषा कनड़ी लिपि। सन् १४२२। गोम्मटेश्वर को दान देने का उल्लेख है।

(Ibid, Vol. VIII. No 4)

अनु० श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन

दूत-काव्य-सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें

(ले० श्रीयुत अगरचन्द नाहटा)

भास्कर के द्वितीय भाग की द्वितीय किरण में दूतकाव्य-संबंधी एक महत्त्व का लेख प्रकाशित हुआ है, लेखक महोदय ने बहुत परिश्रम-साध्य खोज-शोध-द्वारा उसे लिखा है, पर साहित्य का विषय ही ऐसा है कि जिससे खोज-शोध करने से नवीन नवीन सामग्री उपलब्ध होती ही रहती है। साहित्य की समुद्र की उपमा बहुत कुछ समीचीन ज्ञात होती है उसका थाह पाना असाध्य है।

उक्त लेख में ४८ काव्यों का विवेचन किया गया है, उनके अतिरिक्त और भी अनेकों दूतकाव्य हस्तलिखित जैन ज्ञानभांडारों में खोज-शोध करने पर उपलब्ध होने की संभावना है। प्रस्तुत लेख-द्वारा दूतकाव्य-संबन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें साहित्य प्रेमियों के समक्ष रखी जाती हैं। मेरे संग्रह में "चन्द्रदूत" नामक एक दूत काव्य है उसका विशेष परिचय इस प्रकार है :—

आदि —

प्रणम्य श्रीयुगाधीशं समस्यापादपूरणात्।
मेघदूतान्तपादेन चन्द्रदूतं करोम्यहम् ॥१॥

अन्त्य प्रशस्ति —

श्रीसाधुकीर्त्तिपाठकशिष्याणां सकलकविधुरीणानाम्।
श्रीविमलतिलकगणिवरवाचकवरसाधुसुन्दरगणीनाम् ॥३६॥

आर्यागीति—

शिष्याणुको विमलकीर्त्तिगणिः प्रधानो नाभेयदेवचरणांबुजराजहंसः।
श्रीमेघदूतवरकाव्यगतान्तपादैः श्रीचंद्रदूतमकरोत्सरसैर्वचोभिः ॥४०॥
इन्दुसिद्धिरसक्षोणीमिते संवति शंवति।
महाकाव्यमकारीदं विद्वद्विमलकीर्त्तिभिः ॥४१॥

विशेष परिचय—

विषय

कवि ने शत्रुंजय तीर्थ में जाकर नाभेय जिन को अपना वन्दन कहने के लिये

चंद्रमा को संबोधन कर प्रस्तुत काव्य निर्माण किया है। यह काव्य १४१ श्लोकों में मेघदूत के अन्त्यपाद की पूर्ति के रूप में रचा गया है।

प्रति-परिचय—

यह काव्य तात्कालीन शुद्ध और सुन्दर अक्षरों में लिखा हुआ है। आदि के दो पत्रों में चारों तरफ कठिन शब्दों की टिप्पणियाँ भी लिखी हुई हैं। इसमें छठा पत्र अप्राप्त है।

कवि-परिचय—

परम्परा

श्वेताम्बर खरतर गच्छ के सुप्रसिद्ध आचार्य जिनभद्र सूरि जी (१५वीं शताब्दी) की परम्परा में १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में साधु कीर्त्ति* नामक उपाध्याय होगये हैं। उनके विद्वद्विमलतिलक साधु सुन्दर नामक शिष्य के आप सुशिष्य थे।

माता-पिता-दीक्षा, ग्रहण और स्वर्गवास—

हुंबड गोत्रीय श्रीचंदशाह की धर्मपत्नी गवरादेवी की कुक्षि से आपका जन्म हुआ था। सं० १६७४ माघ शुक्ला सप्तमी को उपाध्याय साधु सुन्दरजी गणि ने आपको दीक्षा प्रदान की थी, आपकी विद्वत्ता और योग्यता को देख तात्कालीन आचार्य श्रीजिनराज सूरिजी (सं० १६७४-१७००) ने आपको वाचनाचार्य पद से अलंकृत किया था। अनेकों देशों में विचरण कर जैनधर्म का प्रचार करते हुए आप मुलतान पधारे। वहाँ भी आपके द्वारा अच्छी धर्मप्रभावना हुई और सं० १६९२ में सिन्धुदेश के "किरहोर" नामक नगर में आपका स्वर्गवास हुआ था।

उपलब्ध कृतियाँ—

आपने लोकोपकारार्थ सुगम लोकभाषा में अनेकों ग्रन्थों की रचना की है। संस्कृत में भी दो ग्रन्थ रचे थे उन सब की सूची इस प्रकार है—

(१) चंद्रदूत काव्य (सं० १६८१)।

(२) पद-व्यवस्था—जिस पर इनके गुरुभ्राता उदयकीर्त्ति ने सं० १६८१ में टीका रची है।

* इनका परिचय हमारी ओर से शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले "युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि" और "ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह" में दिया गया है।

(३) दश वैकालिक सूत्र टबार्थ।
(४) पाक्षिक सूत्र टबार्थ।
(५) जयतिहुअणबालावबोध।
(६) प्रतिक्रमण सामाचारी बालावबोध।
(७) जीवविचार बालावबोध।
(८) नवतत्व बालावबोध।
(९) दंडक बालावबोध।
(१०) जोधपुर मंडणपार्श्वजिनस्तवन।
(११) पंचप्रतिक्रमण-विधिस्तवन (सं० १६६० दीवाल मुलतान) और भी स्तवनादि छोटी कृतियाँ उपलब्ध हैं।

शिष्य-परिचय—

आपके विमलचंद्र जी आदि कई शिष्य थे। विमलचन्द्र जी के विजयहर्ष विशाल हर्षादि शिष्य थे और विजयहर्ष जी के धर्मवर्द्धन जी नामक शिष्य १८ वीं शताब्दी के प्रतिभाशाली और राज्यमान्य सुकवि थे। इनका विस्तृत जीवनचरित्र कृतियों के साथ भविष्य में स्वतंत्र प्रकाशित करेंगे।

उपर्युक्त काव्य के अतिरिक्त बिकानेर स्टेट लायब्रेरी नं० ४५०८ में एक नेमिदूत काव्य भी है जिसका कर्त्ता सांगणसुत विक्रम है और मेघदूत के पादपूर्त्तिरूप में रचा गया है। पर यह काव्य संभवतः भास्कर में प्रकाशित लेखोक्त नं० १६ ही ज्ञात होता है क्योंकि उसका कर्त्ता विक्रम† भी सांगण का पुत्र था और वह भी मेघदूत के अन्त्यपद का समस्यापूर्त्तिरूप है। उक्त लेख में श्लोक १२३ लिखा है पर मोहनलाल दलीचन्द देशाई, उक्त काव्य के श्लोक १२६ आनन्दकाव्य महोदधि मौक्तिक ८ पृष्ठ ४४ में सूचित करते हैं।

मेरे भ्रातृपुत्र भंवरलाल ने भी ४-५ वर्ष पूर्व हिन्दी भाषा में गा० ४२ का एक इंदुदूत काव्य बनाया था जो कि पालीतानास्थित खरतर गच्छीय पूज्य आचार्य महाराज जिन कृपाचंद्र सूरि जी को वन्दनार्थ चन्द्रमा को (दूत) सम्बोधित कर रचा गया है। इसमें कलकत्ते गया और पालीताने के मध्यवर्त्ती प्रसिद्ध तीर्थ और बड़े बड़े नगरों का भौगोलिक वर्णन किया है।

---

† नं० ३२ में मेघदूत काव्य का कर्त्ता भी मंत्री विक्रम लिखा है। संभवतः वह नेमिदूत ही होगा, मेघदूत का पादपूर्त्तिरूप होने से इसे मेघदूत लिख दिया हो।

ओझा-अभिनन्दन ग्रन्थ (भारतीय अनुशीलन) में "जावा के हिन्दू साहित्य के कुछ मुख्य ग्रन्थों का परिचय" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें व्रतसञ्चय अपर नाम चक्रवाक दूत नामक दूतकाव्य का परिचय मिलता है। पाठकों के जानने के लिये वह नीचे दिया जाता है :—

> सन् ११५० ई० समय का यह एक खण्ड काव्य है। 'इसका कवि म्पुतनकुड है, और यह भी प्रथा है कि यह म्पुतनकुड म्पुधर्मन का भाई था। लुब्धक आदि कई एक अन्य ग्रन्थ भी इसी के लिखे माने जाते हैं। व्रतसञ्चय का दूसरा नाम चक्रवाकदूत है। इसमें विविध जाति के ११२ श्लोक हैं।

कवि का मुख्य उद्देश्य संस्कृत के छन्दों का स्पष्टीकरण है। प्रत्येक श्लोक में उसकी संज्ञा, लक्षण और उदाहरण सब कुछ आ जाता हैं। साथ साथ कथा-प्रसङ्ग भी चलता जाता है। किन्तु कथा यहां गौणरूप से है :—

> "एक राजकुमारी अपने प्रेमी के विरह में आतुर बैठी है। एक चकवे को देख वह अपना दुखड़ा उसे सुनाती है और उसे अपने प्रियतम के पास भेजती है। चकवा जाता है और राजकुमार को खोज लाता है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलाप हो जाता है।"

चक्रवाकदूत कालिदास के मेघदूत का स्मरण दिलाता है। भारतवर्ष में भी मेघदूत की नकल पर हंसदूत आदि कई एक खण्ड काव्य रचे गये थे। यहाँ अन्तर यह है कि नायिका नायक को सन्देश भेजती है किन्तु मेघदूत में नायक नायिका को।

प्रो० कर्ण-द्वारा डच भाषा में इस काव्य का अनुवाद आदि हो चुका है।

मनोदूत——

> हाल की रचनाओं में "मनोदूत" नामक एक काव्य और भी देखने में आया है जिसे रावलपिण्डी-निवासी स्व० भगवद्दत्त ने सं० १९६३ में केवल १६-१७ वर्ष की लघुतर अवस्था में (श्लोक ११४) निर्म्माण कर अपनी प्राकृतिक कवित्वशक्ति और विस्मयकारक मेधा का परिचय दिया है। उक्त काव्य-कर्त्ता के पिता श्रीबालानन्द शास्त्री-कृत "गूढार्थ प्रवेशिका" टीका के साथ कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धदूत——

> अवधूत राम योगी ने सं० १४२३ माघ बदी १४ रेवा नदी तटस्थ भद्रपुर में यशस्वी मल्लदेव के राज्य में व्यास श्रीचाङ्गदेव के कौतूहलार्थ इसे रचा है।

इसमें कैलाशस्थ ब्रह्मविद्या के पास छाया-पुरुष दूत नियुक्तकर भेजा गया है। यह काव्य मेघदूत के चतुर्थपाद पूर्तिमय १३८ श्लोकों में है और श्रीहेमचंद्राचार्य ग्रन्थावली, पाटन के तृतीय ग्रन्थाङ्क रूप से सन् १९१७ में प्रकाशित हो चुका है।*

पवनदूत—

इस के सम्बन्ध में ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ में साक्षर दीवान बहादुर केशव लाल हर्षद राय ध्रुव, बी०ए० का "कवि धोयी और उसका परिचय" शीर्षक पठनीय लेख प्रकाशित हुआ है।

उद्धवदूत—

राजवलभ मिश्र (सं० १८८४) परिचय देखें। इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली Vo. XII. No. 1. March. 1936.

मेघदूत—

लक्ष्मण सिंह-कृत (इंडियन प्रेस, प्रयाग) उल्लेख केशोत्सवस्मारक संग्रह भूमिका पृष्ठ १६।

देवदूत—

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित आधुनिक दूत-काव्यों में।

दूतकाव्यों की भांति पादपूर्ति काव्य भी जैन साहित्य के एक विशिष्ट अङ्ग हैं। अतः उनके विषय में भी एक विस्तृत निबंध प्रकाशित होना नितान्त आवश्यक है; यह कार्य साहित्य-प्रेमी काव्यमर्मज्ञ विद्वानों का है अतः उनसे निवेदन है कि वे शीघ्र ही इस परमोपयोगी विषय पर प्रकाश डालने की कृपा करें।

हो सका तो मैं भी भास्कर के अगली किरण में पादपूर्ति-काव्यों की यथाज्ञात सूची प्रकाशित करूंगा, जिससे उनके विषय में विशेष ज्ञातव्य बातें प्रकाशित करने में सुगमता हो जाय।

---

*भास्कर में प्रकाशित उक्त लेख के नं० ४० का सिद्धदूत काव्य भी हेमचंद्राचार्य ग्रन्थावली ग्रन्थांक ३ द्वारा सन् १९१७ में प्रकाशित हो चुका है। यह काव्य भी मेघदूत का पादपूर्ति रूप-है अतः पादपूर्ति-साहित्य में इसका विशेष परिचय दिया जायगा।

कतिपय दाक्षिणात्य जैनराजवंश की कैफियत

(ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

भट्टकल की कैफियत

(१)

कदम्बराज-वंश अभिनव भट्टाकलङ्क के शिष्य था। यह वंश सङ्गीतपुर (हाडुवल्लि) में राजशासन करता रहा। उक्त भट्टाकलङ्क सङ्गीतपुरान्तर्गत सूसगडि ग्राम में निवास करते थे। कदम्ब-राजगण अपने राजगुरु भट्टाकलङ्क के दर्शनों के लिये अपनी राजधानी संगीतपुर से उक्त सूसगडि ग्राम को आया जाया करते थे। पीछे इन राजाओं ने गुरुभक्ति से प्रेरित होकर सूसगडि नाम को जगह स्वगुरु का नाम ही रख दिया। क्रमशः लुढ़कते-पुढ़कते यह आज "भट्टकल" के रूप में परिवर्त्तित हो गया है। कदम्बों ने यहाँ पर भी किला, राजमहल आदि राजवैभव-सूचक स्थान बनवा दिये थे। इस कदम्ब-वंश के गुरुराय ओडेय, संगराज ओडेय, वीरराज ओडेय, आदिराय, चौडप्पराय, बुक्कराय आदि राजाओं ने यहाँ पर शासन किया है। गुरुराज ओडेय ने यहाँ पर एक मन्दिर भी बनवाया था। भट्टाकलङ्क को लोग "जोय" भी कहते थे। यह एक महापुरुष थे। भैरा देवी नाम वाली सात बहनें थीं। बड़ी बहन भैरा देवी भट्टकल में, चेन्न भैरा देवी हाडुवल्लि में, तीसरी भैरा देवी गेरुसोप्पे में, चौथी मूडबिद्री में, पांचवीं* कार्कल में, छठी मङ्गल भैरा देवी मङ्गलूरु में और सातवीं छोटी भैरा देवी पूर्व भट्टकल में राज्यशासन करती थीं। ये सातों सगी बहनें थीं। ये सातों देवियाँ कदम्बराय की पट्टरानी शान्तीश्वरी के गर्भ से भैरवेश्वर के वरप्रसाद से पैदा हुई थीं। किम्वदन्ती है कि ये सब की सब अविवाहिता थीं। ये सभी जैनमतावलम्बिनी थीं। जैन सम्प्रदाय की दृष्टि से गेरुसोप्पे उत्तर काशी एवं मूडबिद्री दक्षिण काशी कहलाते थे। गेरुसोप्पे के बड़े चैत्यालय में स्थापित श्रीपार्श्वनाथ तथा ज्वालामालिनी के कारण से ही यह स्थान उत्तर काशी के नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

इसी प्रकार मूडबिद्री के सहस्र कूट चैत्यालय में स्थापित उल्लिखित श्रीपार्श्वनाथ और ज्वालामालिनी देवी की वजह से ही यह स्थान दक्षिण काशी कहलाया। यह भी जन-

---

* इन्हें बगु भैरा देवी भी लोग कहते थे।

श्रुति सुन पड़ती है कि उस ज़माने में मूड़बिद्री में सात सौ चैत्यालय एवं सात सौ सतहत्तर घर जैनियों के थे। भैरा देवी के शासनकाल में समीपवर्त्ती समुद्र से मोती निकलते थे इसी लिये यह "मोती भट्टकल" नाम से भी विख्यात है। इन्हीं भैरादेवी के समय में अरब से बहुत से मुसलमान नवायत यहाँ व्यापारार्थ आकर बस गये थे। बलिक भैरादेवी के शासनकाल ही में बड़े वेङ्कप्पनायक ने सेना के साथ यहाँ आकर समूचे शहर को तहस-नहस कर दिया था।

("सुवासिनी" भाग ३ अङ्क ११)

कार्कल की कैफियत

(२)

पोम्बुच्च के जिनदत्त राय के वंशज भैररसु सर्व-प्रथम यहाँ के निकटवर्त्ती केरवसे नामक स्थान में महल बनाकर रहने लगे।

× × × ×

उक्त भैररसु एक रोज जब अपने महल से दक्खिन तरफ की ज़मीन देखने के लिये गये तब वहाँ 'कारे' वृक्ष के नीचे गाय और बाघ को एक ही जगह प्रेम से प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए देखा। अतः उसी स्थान पर जिनचैत्यालय निर्मित करना समुचित समझ एक चैत्यालय बनवाया और उसमें अपने कुलदेवता नेमीश्वर स्वामी की मूर्त्ति की स्थापना करायी।

× × × ×

राजा भैररसु ने अपनी राजधानी का नामकरण करने का विचार कर पहले केरे वृक्ष के नीचे गाय और बाघ को एकत्र पाने की वजह से इस स्थान का नाम कारकल रख दिया। वही कारकल आज कार्कल कहा जाता है। × × × × × × ×

पश्चात् इन्होंने हिरियंगडि की पूरब दिशा में भी एक नूतन महल और बनवाया। बलिक इसी में रहकर पीछे अपना राज्यशासन करने लगे।

× × × ×

इनकी विरुदावली यों है :—

"स्वस्ति श्रीमहामण्डलेश्वर, अरिरायरगंड, आडिद मातेगे तप्पुव रायर गंड, मरे होक्कवर कायुव, मरेतर गेलुव, मल्लबंटर × × × × निष्कलंक, परनारीसहोदर, अरवत्त-नाल्कु मंडलिकर गंड, गुत्तिहनिवर गंड, पोम्बुच्च पुरवराधीश्वर, सुवर्णकलशस्थापनाचार्य्य, श्रीवीरभैरवेन्द्र अरस, सोमवंश, काश्यपगोत्र, सत्पात्रदान, जिनधर्मधुरन्धर, कारकल सिंह सिंहासनाधीश्वर × × × ×"

भैरवराज ने* अपने गुरु की आज्ञानुसार महल के पूरब की ओर पर्वत पर पाषाणमयी गोम्मटेश्वर की प्रतिमा स्थापित की थी। प्रतिमा का निर्माता जक्कणाचारि था। × × × × × × कारि भैररस के शासनकाल में इन्होंने बंग, अजिल, चौट, मूल इन जैन राजवंशों के तात्कालीन राजाओं को अपनी राजधानी कार्कल में आमन्त्रित कर यह बात तय करली थी कि शत्रुपक्षीय लोगों के आक्रमण करने पर हम लोग सम्मिलित होकर उनको मार भगायें। क्योंकि हम सब राजायें एक सम्प्रदाय के हैं, हम सबों में पारस्परिक मतविभिन्नता ठीक नहीं है। चौटवंशीय राजाओं की राजधानी मूड़बिद्री थी। यहाँ का शासन-सूत्र एक महिला के हाथ में था। यह शासिका यहाँ से जाकर उक्त शर्तबन्दी के प्रतिकूल इक्केरि राजवंश से मिल गयी। यह समाचार पाकर भैरवराज अपनी सेना से सुसज्जित होकर चढ़ चले और बीच में उस महिला शासिका से मिलना चाहा, किन्तु वह यह बात ताड़कर अपनी राजधानी से भाग गयी। अन्त में उसका पीछा कर भैरवराज ने साणूरु ग्राम के पास सीर्थ नामक स्थान में उसको कुछ आघात पहुँचाया। परन्तु पीछे भैरवराज ने दयार्द्र होकर उसी साणूरु ग्राम को जागीर के रूप में उसे देकर उसको अपनी राय में कर लिया।

(अपूर्ण) (सुवासिनी भाग ३, अङ्क १२)

* प्रसिद्ध वीरपाण्ड्य ही यह भैरवराज हैं।

हमारा उत्थान और पतन— लेखक, श्रीयुत अयोध्या प्रसाद गोयलीय, प्राप्ति-स्थान—हिन्दी-विद्या-मंदिर पहाड़ी धीरज दिल्ली, पृष्ठ संख्या १४४, मूल्य केवल ।=) है।

गोयलीयजी ने प्रस्तुत पुस्तक में आर्यकालीन भारत का अच्छा चित्र खींचा है। पुस्तक खोज के साथ लिखी गयी है। भाषा ओजस्विनी वर्णनशैली हृदयग्राही है। लुप्तप्राय भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिये ऐसी पुस्तकों को बड़ी आवश्यकता है। हिन्दी-संसार को इसे निःसंकोच सहर्ष अपनाना चाहिये। इसमें खास बात यह है कि लेखक ने प्रत्येक घटनाओं को निष्पक्ष एवं सप्रमाण अङ्कित करने का प्रयत्न किया है जो कि एक सत्यान्वेषी ऐतिहासिक लेखक के लिये आवश्यक है। प्रत्येक पुस्तकालय में इसकी एक एक प्रति अवश्य संग्राह्य है। जैन युवकों से मेरा सप्रेम अनुरोध है कि वे एकबार इस पुस्तक को आमूलाग्र अवश्य अवलोकन करें।

प्रस्तुत संस्करण में मुद्रणालय के प्रमाद से यत्र-तत्र बहुत सी पद विश्लेषण एवं संश्लेषण आदि भद्दी अशुद्धियाँ रह गयी हैं जो दूसरे संस्करण में अवश्य सुधारणीय हैं।

के० भुजबली शास्त्री

ग्रन्थमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

(क्रमागत)

पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने अपनी "विद्वद्रत्नमाला" १म भाग में लिखा है कि पण्डितप्रवर आशाधर जी का जन्म वि० सम्वत् १२३५ के लगभग हुआ होगा। इनकी जन्मभूमि सपादलक्ष (सवालाख) देशका मण्डलकर (माँडल गढ़) थी। उस समय उक्त माँडल गढ़ अजमेर के चौहानों के अधीन रहा। ई० सन् ११९२ के बाद जब यह गढ़ मुसलमान बादशाहों के हाथ में आया तब मुसलमानों के उपद्रव से बचने के लिये आशाधर जी को अपनी जन्मभूमि का परित्याग कर सपरिवार धारानगरी में आकर रहना पड़ा। उन दिनों धारा नगरी में राजा विन्ध्यवर्म का शासन चलता था। यह बड़ा विद्याप्रेमी था। इसका मन्त्री बिल्हण था। यह आशाधरजी को बहुत मानता था। बल्कि आशाधरजी को बिल्हण 'कविराज' कह कर पुकारता था। अन्यान्य विद्वान भी आशाधर जी की कविता का बहुत आदर करते थे। आशाधर जी के मदनोपाध्याय आदि कई प्रख्यात पण्डित शिष्य थे। बल्कि इस मदनोपाध्याय को महाराज अर्जुनदेव का राजगुरु एवं महाकवि होने का भी सम्मान प्राप्त था। उक्त अर्जुनदेव राजा विन्ध्यवर्म का पुत्र था। आशाधरजी स्वयं गृहस्थ थे, फिर भी बड़े बड़े मुनिगण इनकी शिष्यता स्वीकार कर इनसे पढ़ते थे। पता चलता है कि आशाधरजी वृद्धावस्था में नलकच्छपुर (नालछा) में जाकर रहने लग गये थे। इनकी कई अमूल्य कृतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें "भव्यकुमुद-चन्द्रिका" नामक अनगार-धर्मामृत की टीका ही सब से पीछे की है। यह टीका वि० संम्वत् १३००* में समाप्त हुई थी। अतः प्रस्तुत भव्यकण्ठाभरणपञ्चिका के रचयिता आशाधरजी के शिष्य इस अर्हद्दासजी का समय भी लग-भग यही विक्रम की १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।

---

* बाबू हीरालालजी का मत है कि आशाधरजी ने वि० सम्वत् १२७५ के लगभग कुछ काल बरार प्रान्त में निवास और ग्रन्थ-रचना भी की होगी। देखें "मध्यप्रांत-मध्य-भारत व राजपूताना के प्राचीन जैन स्मारक" की भूमिका पृ० १७।

(१३) ग्रन्थ नं० $\frac{२१६}{ख}$

भव्यानन्द-शास्त्र

कर्त्ता—श्रीमत्पाण्ड्य क्ष्मापति

विषय—वैराग्य

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—६॥। इञ्च चौड़ाई—६ इञ्च पत्रसंख्या १२

प्रारम्भिक भाग—

श्रियं क्रियाद्यस्य महाभिषेके निरस्तगाम्भीर्यगुणः पयोधिः ।
स्वकीयरत्नप्रकरैः प्रदीपशोभां विधत्ते स जिनश्रियं वः ॥१॥
नेत्राब्जैरम्बुजैरुद्भवनयनजलैर्दिव्यतीर्थाम्बुपूरै-
र्भावैः शुद्धैः सुगन्धैर्निजविमलसज्ज्ञानदीपैः प्रदीपैः ।
वाग्जालैरक्षतार्थैः सह विधुविशदैरक्षतैर्भक्तिरूपै-
र्धूपैरिन्द्रार्च्यमानं जिनचरणसरोजातयुग्मं भजामि ॥२॥
शीलाकरान् दिव्यगुणाभिरामान् विशुद्धशास्त्राब्धिसुधांशुबिम्बान् ।
भक्त्या महत्या प्रणमामि नित्यं समन्तभद्रादिमुनीन्द्रमुख्यान् ॥३॥
नरेन्द्रमुख्यैरिह पूज्यपादं शीलैः समस्तैश्च समन्तभद्रम् ।
गुणैरनिन्द्यैरकलङ्कमीडे श्रीवर्द्धमानं श्रुतपद्मभानुम् ॥४॥
वर्द्धमानाख्यया नित्यं वर्धितोऽपि महीतले ।
असौ मुनिपतिश्चित्रं गतमानकषायरुक् ॥५॥
अनिन्दिताशेषचरित्रपूज्यश्रीनागचन्द्रव्रतिपुंगवस्य ।
निर्वाणमेतद् भुवि सद्बुधानां निर्वाणवृत्तिं प्रकटीकरोति ॥६॥
वाग्जालं सुधया गुणान्वितलसद्गाम्भीर्यमम्भोधिना
शान्तिः कैरवकान्तकान्तरुचिभिर्धैर्यं सुवर्णाद्रिणा ।
शीलं स्वामिभिरन्तरंगसरसत्वं तुल्यवृत्तिं नभो-
जाह्नव्या सह सन्दधाति भवतः श्रीदेवचन्द्रप्रभोः ॥७॥
गुणाहितोर्जित (?) सुमनोऽन्वितोऽपि सुवर्णकर्णाभरणाश्रितोऽपि ।
श्रीपूज्यपादव्रतिपो विचित्रं विमुक्तभोगो गतभूषणाङ्गः ॥८॥

निरस्तमोहैः सुजनैर्नतोहैः प्रशान्तभावैः प्रतिभावलोकैः।
अस्मिन्प्रबन्धे सततं प्रमोदात्प्रचिन्तनीयानि पदानि सन्ति ॥९॥
यथा वस्तुस्थितिर्लोके तथा वक्ष्याम्यहं निजम्।
रागद्वेषद्वयं हित्वा सदा शृण्वन्तु धीधनाः ॥१०॥
हिंसासक्तैर्मृषानन्दैर्दुर्बुधैश्च खलैरपि।
अभव्यमेव मत्काव्यं भाव्यं भव्यजनैः सदा ॥११॥
स्वभावसिद्धमभ्यस्य लोकस्य हि गुणागुणम्।
अवाच्यमप्यहं वक्ष्ये भव्यबोधाय भावतः ॥१२॥
शुचिरुचितरभव्यानन्दनामैकपूज्यं मदगिरिशतकोटिं ग्रन्थमानन्दकंदं।
पुलकवनवसन्तं पाण्ड्यभूनाथजातं सहजसुखसुधाब्धिं वीक्ष्य नन्दन्तु सन्तः ॥१३॥
निजकरटनिकटकटुरटदभ्रमधुकरनिनददन्तकर्णास्य।
मिथ्यागजस्य विदलनविधिचतुरपदो मदीयकाव्यहरिः ॥१४॥
त्यक्त्वा जिनेन्द्रवचनामृतमात्मसारं कुर्वन्ति कुत्सितमृषावचनेषु रागम्।
ये ते स्वमातृकुचदुग्धरसं विहाय मुग्धाः पिबन्ति विषतोयमतिप्रमोहात् ॥१५॥

× × ×

मध्यभाग (पृष्ठ ६ श्लोक ६२—६३)

मृषापदं घोरभवाब्धिवर्त्तं कृशोदरीकण्ठमिमं हि लोके।
मनोजपूगीगलमित्यवेत्य मनोविकारं मनुजाः श्रयन्ते ॥६२॥
हृद्दोलाङ्गूललीलाचलमभ्रमधुलिट् पद्मकोशं भवाब्जि-
न्यम्भः क्रीडद्रथांगं घनपिशितमयं यत्कुचं कामिनीनाम्।
कुम्भं दम्भोलिपाणिद्विरदपरिलसत्कुम्भमित्येव मुक्त्वा
चित्रं तत्रैव सक्तं सकल जगदिदं धिङ् नृणां चेष्टितानि ॥६३॥

× × ×

अन्तिम मंगलाचरण एवं प्रशस्तिः—

सम्यक्त्वाङ्कुरसंभवः प्रविलसद्वैराग्यमूलान्वितः
शुद्धानन्दविलोलपल्लवकुलः कल्याणशाखान्वितः।
ज्ञानोद्यत्कुसुमान्वितः शमफलाकीर्णो विचारास्पदम्
जीयादार्हतपारिजातविटपी संसारसन्तापहः ॥

नानानव्यरसास्पदं बुधजनानन्दाश्रुपूरप्रदः
भव्याह्लादसमर्पणैकनिपुणो ग्रन्थः प्रबोधाकरः।
युक्त्या श्रीजिनदत्तभूमिपमहद्वंशाब्धिपूर्णेन्दुना
पाण्ड्यक्ष्मापतिना विशुद्धमतिना सोऽख्याश्रयो निर्मितः॥
आचन्द्रार्कं जगत्यस्मिन् धर्माधर्मसमन्विते।
भव्यानन्दाभिधो ग्रन्थो भव्यानन्दाय वर्धताम्॥
नमः श्रीशान्तिनाथाय कर्मारण्यदवाग्नये।
धर्मारामवसन्ताय बोधाम्भोधिसुधांशवे॥

इति श्रीमत्पाण्ड्यभूपतिविरचितो भव्यानन्दः समाप्तः।

इस भव्यानन्द ग्रन्थ के कर्त्ता पाण्ड्य क्ष्मापति के परिचय के साथ साथ इनका कुछ वंशपरिचय भी दे देना मैं समुचित समझता हूँ। प्राचीन समय में उत्तर मधुरा (मथुरा) में उग्रवंशीय वीरनारायण आदि अनेक शासक हुए हैं। पीछे इस वंश का राजा साकार हुआ जो किसी समय एक भील लड़की पर आसक्त होकर अपनी धर्मपत्नी महिषी श्रीयला देवी एवं पुत्ररत्न जिनदत्त राय से उदासीन हो गया। बल्कि एक दिन उक्त भील की लड़की पद्मिनी के दुराग्रह से वह अपने प्रिय पुत्र जिनदत्त राय तक को भी मरवा डालने के लिये उतारू हो गया। पर भील कन्या के इस षड्यन्त्र का अपने कुलगुरु के द्वारा रानी श्रीयला को पता लग गया। तुरन्त ही उक्त रानी श्रीयला ने कुलदेवी पद्मावती की प्रतिमा के साथ अपने प्रियपुत्र जिनदत्त राय को सुरक्षा के खयाल से वहां से कहीं अन्यत्र भेज दिया। जिनदत्त राय मथुरा से चलकर कुछ दिनों के बाद वर्तमान मैसूरु राज्यान्तर्गत पोम्बुच्च में पहुंच एवं वहीं राज्य स्थापित कर शासन करने लगे। इसके बाद इन्होंने दक्षिण मधुरा (मथुरा) के प्रसिद्ध पांड्यवंशी राजा वीर पांड्य की पुत्री पद्मिनी और मनोराधा के साथ विवाह किया। इस मथुरा पांड्यवंश का विस्तृत वर्णन जो हिन्दी विश्वकोष के १३ वें भाग में छपा है उसी में इस वंश के राजाओं के नाम की एक लम्बी तालिका भी दी गयी है। तालिकान्तर्गत राजाओं के अतिरिक्त इसी वंश की एक शाखा वर्त्तमान दक्षिण कन्नड़ जिला में भी राज्य-शासन करती रही। उसकी राजधानी बारकूरु थी। उस समय यह "बारकूरु" दक्षिण भारत में एक समृद्धिशाली नगरी मानी जाती थी[1]। दक्षिण के स्वर्गीय तातांचार्य आदि कई सुप्रसिद्ध विद्वानों ने पांड्यवंश को जैन

१—"वीर" वर्ष ४ अंक १२-१३ में प्रकाशित मेरा 'बारकूरु' लेख देखें।

बतलाया है। हाँ, इसके सभी शासक तो जैन नहीं माने जा सकते किन्तु दक्षिण कन्नड़ प्रान्त में इस वंश के जितने राजा हुए हैं वे सब के सब जैन धर्मावलम्बी थे।

कुछ दिनों के बाद राजा जिनदत्त राय को पार्श्वचन्द्र तथा नेमिचन्द्र नामक दो पुत्र हुए। पार्श्वचन्द्र ने अपने शासन-काल में अपने नाम के अन्त में "पांड्यभैरव राज" यह एक नूतन उपनाम जोड़ दिया। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि पूर्व में भैरवी पद्मावती के द्वारा अपने पिता की रक्षा एवं अपनी माता पांड्यवंशीय होने से ही इन्हों ने उक्त उपनाम को अपनाया। पीछे इस वंश के सभी राजा इस "पांड्यभैरव" उपनाम को बड़े आदर के साथ अपने नाम के आगे जोड़ने लगे। उक्त जिनदत्त राय के वंश के राजा पीछे दक्षिण कन्नड जिला में भी शासन करने लगे। इन राजाओं की राजधानी वर्तमान कार्कल में थी। कार्कल में शासन करने वाले इस वंश के राजाओं की नामावली इस प्रकार है :—

(१) पांड्य देवरस अथवा पांड्य चक्रवर्त्ती, (२) लोकनाथ देवरस (३) वीरपांड्य देवरस (४) रामनाथ अरस (५) भैररस ओडेय (६) वीर पांड्य भैररस ओडेय (७) अभिनव पांड्य देव अथवा पांड्य चक्रवर्त्ती (८) हिरिय भैरव देव ओडेय (९) इम्मडि भैरव राय (१०) पाण्ड्यप्प ओडेय (११) इम्मडि भैरव राय (१२) रामनाथ (१३) वीर पाण्ड्य[१]।

उक्त तालिका में प्रतिपादित शासकों में से ही मुझे कविवर पाण्ड्य क्ष्मापति को खोजना है। पर खेद है कि इन्होंने अपनी रचना में कहीं भी अपना समय न देकर इस कार्य को कुछ गहन बना दिया है। खैर, इन्होंने इस भव्यानन्द ग्रन्थ के प्रारंभिक ६ठे एवं ७म श्लोकों में क्रमशः नागचन्द्रव्रती तथा देवचन्द्र इन दोनों का सादर स्मरण किया है। अब मुझे इन्हीं दोनों पाण्ड्य क्ष्मापति के स्मरणीय व्यक्तियों के समय के आधार पर इनका समय निर्धारित करना है। उल्लिखित नागचन्द्रजी वही नागचन्द्र हैं जिन्होंने धनंजयकृत विषापहार स्तोत्र की एक संस्कृत टीका लिखी है। वह टीका "भवन" में मौजूद है और इसकी प्रशस्ति यथास्थान "भास्कर" की किसी किरण में दी जायगी। इस टीका से पता चलता है कि मूलसंघान्तर्गत देशीगण, पुस्तक गच्छ के ललितकीर्त्तिजी के आप अग्रशिष्य थे। साथ ही साथ नागचन्द्रजी ने अपनी टीका में यह साफ साफ लिख दिया है कि इनके गुरु ललितकीर्त्तिजी पनसोगे (मैसूर) के निवासी एवं तौळव देश के प्रवासी थे। दक्षिण कन्नड प्रान्त की बोल-चाल की भाषा 'तुळु' है इसी से यह तौळव देश कहलाता है। यही ललितकीर्त्ति जी तौळव देशान्तर्गत कार्कल के राज्यशासक भैरव

१—"दक्षिण कन्नड़ जिलेका प्राचीन इतिहास" देखें।

राजवंश के मनोनीत राजगुरु थे। बल्कि इन्हीं के समक्ष में शकसम्वत् १३५३ वि० सं० १४८८ में वीर पाण्ड्य के द्वारा कार्कल में बाहुबली स्वामी की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा की गयी थी। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि नागचन्द्रजी विक्रमीय १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के विद्वान् हैं। सुहृद्वर पं० जुगल किशोरजी ने "जैन-हितैषी" भाग १२, अङ्क २-३ में इनका जो समय विक्रमीय १६ वीं शताब्दी निर्धारित किया है, वह मुझे ठीक नहीं जँचता है। क्योंकि आपके इस समय-निर्णय से तो गुरु ललितकीर्त्ति और शिष्य नागचन्द्र में कम से कम सौ-सवा सौ वर्षों का एक विशाल अन्तर पड़ जाता है। साथ ही साथ पं० जुगल किशोरजीने नागचन्द्र के मुनित्व पर जो सन्देह प्रकट किया है वह भी प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभिक ६ठे श्लोक से दूर हो जाना चाहिये। क्योंकि इस पद्य-द्वारा इन्हें 'व्रतिपुंगव' आदि विशेषणों से स्मरण किया है।

अब देवचन्द्रजी को लीजिये। यह देवचन्द्र इन्हीं नागचन्द्र के अन्यतम गुरु एवं उल्लिखित ललितकीर्त्तिजी के शिष्य हैं। नागचन्द्रजी ने अपनी विषापहार की टीका में इन्हें भी अपना गुरु स्पष्टतया लिखा है। बल्कि उल्लिखित ललितकीर्त्तिजी के शिष्य जिनयज्ञफलोदय के कर्त्ता मुनि कल्याणकीर्ति ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में स्वगुरु की प्रशंसा करते हुए "देवचन्द्रमुनीन्द्रार्च्यो दयापालः प्रसन्नधीः" इस पद्यांश में उक्त देवचन्द्र का भी उल्लेख कर दिया है। इनका यह जिनयज्ञफलोदय ग्रन्थ शक १३५० में समाप्त हुआ था।* श्रवणबेलगोल के शक सम्वत् १३२० के नं० १०५ (२५४) वाले शिलालेख में प्रतिपादित नागचन्द्र और देवचन्द्र हमारे पूर्वोक्त नागचन्द्र—देवचन्द्र से प्रायः अभिन्न होंगे। क्योंकि दोनों के गणगच्छादि† एक हैं और साथ ही साथ ३५ साल के समय का यह अन्तर भी कोई असम्भवपरक महान् अन्तर नहीं है।

अस्तु उल्लिखित प्रमाणों के आधार से मैं यह कह सकता हूँ कि ललितकीर्त्ति, देवचन्द्र, कल्याणकीर्त्ति नागचन्द्र और पाण्ड्य क्ष्मापति ये सब के सब लगभग सम-सामयिक विद्वान थे। संभव है कि ये लोग एक साथ कार्कल में रहे हों। साथ ही साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि देवचन्द्र, नागचन्द्र और कल्याणकीर्त्ति ये तीनों ललितकीर्त्ति के शिष्य थे। इससे भव्यानन्द शास्त्र के कर्त्ता पाण्ड्य क्ष्मापति का समय भी एक प्रकार से हल हो जाता

* प्रशस्ति-संग्रह पृष्ठ १८ देखें।

† ....देशीगणे घ्रतगुणेऽन्वितपुस्तकाच्छगच्छेऽङ्गुलेश्वरबलिर्जयति प्रभूता।

तस्यान्वयाग-देवोदय-रविजिन-मेघ-प्रभा-बालचन्द्रा— ....

(जैनशिलालेख-संग्रह पृ० २००)

है। मेरा अनुमान है कि अपने ग्रन्थ (भव्यानन्दशास्त्र) में नागचन्द्र-देवचन्द्र को स्मरण करने वाले यह पाण्ड्य क्ष्मापति ही बाहुबलीमूर्त्ति के प्रतिष्ठापक वीर पाण्ड्य भैररस (शक १३५३ सन् १४३१—३२) अथवा उनके उत्तराधिकारी अभिनव पाण्ड्यदेव या पाण्ड्यचक्रवर्ती (शक १३७९ सन् १४५७) हों।

मैंने पाण्ड्य क्ष्मापति का वंश-परिचय जो ऊपर दिया है वह भव्यानन्द के अन्त के "नानानव्यरसास्पदं बुधजनानन्दाश्रुपूरप्रदो भव्याह्लादसमर्पणैकनिपुणो ग्रन्थः प्रबोधाकरः। युक्त्या श्रीजिनदत्तभूमिपमहावंशाब्धिपूर्णेन्दुना पाण्ड्यक्ष्मापतिना विशुद्धमतिना सौख्याश्रयो निर्मितः॥ इस श्लोक के आधार पर। आशा है कि यह वंश-मन्तव्य भ्रमोत्पादक नहीं होगा।

---

(१४) ग्रन्थ नं० २१७/ख

बीजकोश

कर्त्ता—

विषय—मन्त्रशास्त्र

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ६।।। इञ्च चौड़ाई ६ इञ्च पत्रसंख्या २१

प्रारम्भिक भाग —

तेजो भक्तिर्विनयः प्रणवः ब्रह्मप्रदीपवामाश्च।
वेदोऽब्जदहनध्रुवमादि (?) ओमिति ख्यातम्॥
मायातत्वं शक्तिर्लोकेशो ह्रीं त्रिमूर्त्तिबीजेशौ।
कूटाक्षरं क्षकारं मन्त्रवर्यं पिण्डमष्टमूर्त्तिश्च॥
बाणाः पञ्च द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः इति ठवर्गमखिलेन्दुः।
क्ष्वीं क्ष्वीं हं सं सुरभिमुद्राक्षरमथवाग्भवं (?) च॥
क्षिप ओं स्वाहा बीजाः क्षितिजलदहनानीलाम्बरं क्रमशः।
खगपतिपञ्चाक्षरमित्यां वा शं तत्कशां च स्यात्॥

× × ×

मध्यभाग (पूर्व पृष्ठ ३ पंक्ति ७)

अथ मन्त्र-व्याकरणम्

अरहंता असरीरा आइरिया उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खर णिप्पण्णो ओंकारो पंचपरमेट्ठी॥
अकारादिक्षकारपर्यन्तमेकाक्षरलक्षणमुदाहरिष्यामः।

वृषासनं गजवाहनं हेमवर्णं कुंकुमगन्धं लवणास्वादं जम्बूद्वीपविस्तीर्णं चतुर्मुखं अष्टबाहुं कृष्णलोचनं जटामुकुटधारिणं सितवस्त्रं मौक्तिकाभरणं अतीवबलगंभीरं पुंलिङ्गं अकारस्य लक्षणं। पद्मासनं गजव्यालवाहनं सितवर्णं शंखचक्रवज्राङ्कुशधारिणं द्विमुखमष्टहस्तं अहिभूषणं शोभणादिमहाद्युतिं त्रिशत्सहस्रयोजनविस्तीर्णं स्त्रीलिंगं आकारस्य माहात्म्यम्। कूर्मवाहनं चतुरस्रासनं हेमवर्णं वज्रायुधं एकयोजनविस्तीर्णं द्विगुणायाममुत्सेधं कषायस्वादं वज्रवैडूर्यवर्णालंकृतं मदस्वरं नपुंसकं क्षत्रियमिकारस्य माहात्म्यम्।

× × ×

अन्तिम भाग—

पुटपल्लवदीपाश्च दर्भग्रथनरोधगाः।
वश्ये द्वेषे च शान्तौ च स्तम्भाकृष्टौ च पीडने॥
मन्त्रमध्यगतं नाम पुटमन्ते च पल्लवम्।
प्रारंभे दीपनं विद्धि द्वयक्षरान्तं विदर्भकम्।
एकाक्षरान्तरं नाम ग्रथनं रोधनं पुनः॥
आद्यन्तसंयुतं नाम तेष्विष्टं सम्यगाचरेत्।
वश्याकर्षणमंस्तम्भपीडाद्वेषापसारकम्॥
शान्तिपुष्टिं क्रमात्सोमयमैन्द्रेशानवह्निपु।
मरुद्वरुणचनैऋत्यामुन्मुखं स्थीयते बुधैः॥
दिक्पालायनभिज्ञानं कार्यसिद्धिश्च निष्फला।
पूर्वाह्णे वश्यकर्माणि मध्याह्ने प्रेमनाशनम्॥
अपराह्णे पसारं च पीडा सन्ध्यागता भवेत्।
शान्तिकर्मार्धरात्रे च प्रभाते पौष्टिकं तथा॥
वश्यं मुक्त्वान्यकर्माणि सव्यहस्तेन योजयेत्।
अंकुशाम्बुजसद्बोधं प्रवालं पविशंखकाः॥
मुद्राकृष्टिवशे शान्तिर्विद्वेषे रोधपीडने।

प्रतिमा-लेख-संग्रह

(संग्राहक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन)

(क्रमागत)

७६ श्री अम्ब सा० लूणा सुत रत्ना ।

७७ सा० चम्पालाल (१९५५)

७८ सकल पंच मैंनपुरी (१६३५)

७९ सा० चकरेमल भौगांव (१९५७)

८० सा० कुंअरपाल भा० सुधनी (१२०८)

८१ रेतकजू साहु (१४१५)

८२ सा० गुणपाल अजमेर (१९५५)

८३ साहु मनीराम मैंनपुरी (१९४५)

८४ सा० जानकीदास मैंनपुरी (१९५५)

८५ सा० सोहनलाल मैंनपुरी (१६३६)

८६ सा० कल्याणदास मैंनपुरी (१४७०)

८७ सा० नजू भा० भूरी पुत्र बहोरू (१५२५)

८८ सा० बहुयू भा० हरिदेवि (१५६२)

८९ सा० मुलु भा० भरनी (१५५४)

९० सा० सरूपचंद्र (१६६६)

९१ सा० पन्नालाल (१५१०)

९२ सा० थिरू भा० श्रीमानदे पुत्र जयमल व जाल्ह (१५०६) काष्ठासंघे ।

(३) पण्डित व आर्यिका आदि :—

१ पण्डिताचार्य पं० भोजराज । २ पं० मकरंद । ३ पं० छोभाराम । ४ पं० गरीबदास व ५ पं० भामसि ।

१ रत्नकीर्ति आचार्य की शिष्याणी बाई वीरमती (१६६२), २ बाई सरस्वती देवी, ३ बाई करमा, ४ भ० सिंहकीर्ति की शि० बाई महासिरि (१५२५) । ५ आर्या ज्ञानश्री गोलसिंगारी भुवनकीर्ति दीक्षिता (१५४८)

(४) राजा आदि :—

(१) महाराज श्रीकल्याणमल (१५३७); (२) श्रीचाहुवान वंशहु शौर्य-प्रकाशन-मार्तण्ड सार्ववैविक्रमन्य श्रीमत् सरूपभूपाग्रान्वय झंडदेवात्मजस्य भूचक्रशक्रस्य श्रीसुवर(ग) नृपतेः राज्ये* (१४५०)। (३) श्रीमहारानी विक्टोरिया (१६४२); (४) प्रतापचंद्र वहउप सिंघ? (१३४६); (५) राजा सिवसिंह (१५४८); (६) बादशाह शाहजहां (१६९३); (७) विजयसिंह जी जोवनपुर (१७५१); (८) महाराजाधिराज श्रीप्रतापचंद्रदेव, ग्राम धौये (१५०६)।

(५) नगरों का परिचय :—

१ अउली —ग्राम में लंबेचू दूदा ने सं० १५२० में प्रतिष्ठा कराई। मैनपुरी जिले में विउली ग्राम एक अवश्य है, जहां अब भी लवेचू जैनी रहते हैं। शायद यह नाम उसी का अपभ्रंश है।

२ अटेर—यह भदावर प्रांत में है। यहां पर मूलसंघ के भट्टारकों की गद्दी रही है। सं० १७६१ में वुंदेले तुलाराम ने यहां एक यंत्र की प्रतिष्ठा कराई।

३ अजमेर—दि० जैनों में यह स्थान प्रसिद्ध है। प्राचीन काल से यहां जैनों का संपर्क रहा है। पर्वत वाले पुराने किले में जो 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक स्थान है, वह मूल में जैनमन्दिर है। (देखो, टाड राजस्थान)

४ आरा—जैनों का घर कहा जा सकता है। विशेष प्राचीन स्थान है। यदि यहां के आसपास वाले प्राचीन जैन स्थानों के पुरातन लेख प्रकट हों, तो जैन इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़े। सं० १६२० में बाबू अजमेदनदास द्वारा प्रतिष्ठा होने का उल्लेख मिलता है।

५ इष्टिका पथ—इटावा का प्राचीन नाम है। मुसलमानी ज़माने में इसका सम्बन्ध कन्नौज की सरकार से था। राजा जयचन्द्र की हार, जिसके साथ ही हिन्दू मुसलमानों के अधीन हो गये, यहीं निकट में हुई थी। जमुना पार करते हुये, जयचन्द्र की अन्तिम लीला कालिन्दी की तरल धारा में पूर्ण हुई थी। यहां जमुना पर प्राचीन निषिधिकायें हैं, जो ईंटों के बने जैनस्तूप से सादृश्य रखती हैं। एक समय इस स्थान पर जैनमुनियों की खूब बहुलता थी। सं० १८६६ में चन्द्रसेन मीतल चौधरी राजमान्य थे। सं० १५२० के लेख में इसका उल्लेख मिलता है।

* चौहान वंश के राजा अब भी मैनपुरी में हैं।

६ ऊखरो—ग्राम कहां था, यह पता नहीं। भ० देवकीर्ति की शिष्याणी बाई सरस्वती देवी वहीं की थी। उस समय यहां किसी महाराजाधिराज का राज्य था।

७ कसिमी ग्राम—सोलहवीं शताब्दी में यहां धाकौ जाति के संघई हेमा रहते थे। मालूम नहीं, यह कहां स्थित था। ग्राम किसनी जिला मैनपुरी में मिलता है।

८ चंद्रमार दुर्ग का उल्लेख सं० १७३४ के लेख में है। यह संभवतः चंदावर का क़िला है जो फीरोज़ाबाद के पास है और जिसमें से जैन स्मारक मिलते हैं। दुर्ग में रावत-सिरोमनि (लंमेचू जैन) का निवास था।

९ छपरा शहर में सं० १६३६ में प्रतिष्ठा हुई प्रकट होती है।

१० जोवनपुर में सं० १७५१ में राजा विजय सिंह का राज्य था।

११ जोधपुर—मारवाड़ देश की राजधानी है। राठौर-वंशी राजपूत एक दीर्घकाल से यहां के अधिकारी रहे हैं। श्वेताम्बर जैनों का प्राबल्य अधिक है। सं० १७४० में यहां दिगम्बर जैनों की ओर से प्रतिष्ठोत्सव हुआ प्रतीत होता है।

१२ धौपग्राम—महाराजाधिराज श्रीप्रतापचन्द्र देव के राज में था। सं० १५०६ में यहां लंमेच सा० उद्धरण ने प्रतिष्ठा कराई और सा० बधं ने संघ चलाया था।

१३ नागुर—मारवाड़ का प्रसिद्ध जैन स्थान नागौर प्रतीत होता है; जो अपने शास्त्र-भांडार के लिये प्रसिद्ध है। यहां ककेश जाति के सा० शिवा ने सं० १५५१ में प्रतिष्ठा-महोत्सव कराया था।

१४ बनारस—अत्यन्त प्राचीन जैन-तीर्थ है। यह भगवान सुपार्श्व और पार्श्वस्वामी का जन्म-स्थान है। यहां की प्राचीन प्रतिमाओं के लेख अवश्य संग्रह होने चाहिए।

१५ बिलसी—ज़िला बदायूं में है। यहां अब भी लंमेचू जैनी रहते हैं। सं० १५२६ के प्रतिमा-लेख में इसका उल्लेख है।

१६ महिपुर—(१५३२) का पता नहीं कहां है।

१७ मुड़ासा—शहर में सं० १५४८ में राजा शिवसिंह का राज्य था। और यहां सेठ जीवराज जी पापड़ीवाले ने भ० भानुकीर्ति-द्वारा बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी।

१८ मैनपुरी—एक प्राचीन स्थान है। यहां जैनों और बौद्धों के प्राचीन ध्वंसावशेष मिलते हैं। मुसलमानी ज़माने में इसका सम्बन्ध इटावा के हाकिम से था। इटावा के अंतर्गत भौगांव परगना था और उसी में मैनपुरी शामिल था। यहां पर चौहान राजाओं का राज्य अब तक मौजूद है। सोलहवीं शताब्दी के प्रतिमा-लेख में इसे

बादशाह शाहजहां के राज्य में लिखा है। उस समय संभवतः वहां पर एक बिम्बप्रतिष्ठा हुई थी और कटरा का बाबा बंशीधर वाला मन्दिर बना था। कहते हैं कि बाबा बंशीधर ने अपने चामत्कारिक मंत्र-बल से उस समय के हाकिमों को विस्मित कर दिया था और फिर वे बड़ी सफलतापूर्वक इस विशाल मन्दिर जी को बनवा सके थे। बादशाह शाहजहां का उल्लेख करने वाली उक्त प्रतिमा मूलनायक तौर पर इस मन्दिर जी में विराजमान है। इसी कारण हमने इस मन्दिर के बनने का समय उक्त प्रकार अनुमान किया है। यहां पर कुल सात मन्दिर जी हैं। बुदेले, लोहिया, पल्लीवाल, आदि जैनों का निवास है। संवत १८०१ में कवि कमलनयन यहां पर प्रख्यात थे। यह यदुवंशी बुदेले थे। इनके समय में बुदेलों में मुख्य साहु नंदराम कासिपगोत्री नगरावार थे। इनके अतिरिक्त बुदेलों में रुहिया वंश भी प्रख्यात था। रुहिया-वंश में साहु धन सिंह विशेष प्रसिद्ध थे। इन्होंने मैंनपुरी से वि० सं० १८६७ में श्रीसम्मेद-शिखर जी की यात्रा का वृहत् संघ निकला था; जिसमें १५० गाड़ियाँ और करीब एक हज़ार यात्री गये अनुमान किये जाते हैं। इन सब का समुचित प्रबंध और सब खर्चा साहु धनसिंह ने ही बरदाश्त किया था। संभवतः कवि कमलनयन भी इस संघ के साथ गये थे। कवितावद्ध "शिखिर जी की यात्रा" नामक हस्तलिखित पुस्तक में इस संघ का खासा वर्णन मिलता है। उत्तर प्रांत के सब ही जैन तीर्थों की इस संघ ने वन्दना की थी। राजगृह, पावापुर, चम्पापुर, पालगंज आदि सब ही स्थानों पर यह संघ पहुंचा था। पावापुर में तालाव के मध्य अवस्थित मन्दिर में ही इस संघ का पूजन-अर्चन हुआ। वहां पर और किसी दूसरे मन्दिर का उल्लेख इसमें नहीं है। सं० १८६८ में यह संघ लौट कर वापस मैंनपुरी आ गया था। साहु धनसिंह के पिता साहु नन्दराम थे। कवि कमल-नयन ने जिस नन्दराम का उल्लेख किया है, वह यही होंगे। इन्होंने रूई का काम बड़ी सफलता से चलाया था। इसी वजह से इनका वंश 'रुहिया' कहलाने लगा था। धनसिंह के समय इनकी खूब उन्नति हुई थी। इनके समय के राजा दलेलसिंह भी इनका विशेष आदर करते थे। राजा सा० जैन मन्दिर व रुहिया खान्दान के घर पर आ सकते हैं, यह नियम अब तक मैंनपुरी राज्य में मौजूद है। किन्तु किसी के दिन सदा एक से नहीं रहते। रुहिया वंश का भी यही हाल हुआ। आज वह नामशेष हैं। बुदेलों के बाद, मालूम होता है, मैंनपुरी में लोहिआ जैनों का अच्छा बोल-बाला रहा था। इन लोगों के

बनवाये हुये दो मन्दिर विद्यमान हैं। इन मन्दिरों के बनने के बाद एक मन्दिर (गली का जैन मन्दिर) लेखक के मातुल-वंशज फूलचन्द खेतलदास के कुटुम्बियों ने बनवाया था। लेखों से प्रकट होता है कि साहुमलै राम और उनके भ्राता कल्याण की ओर से दो बार—सं० १६११ और सं० १६५७ में बिम्ब-प्रतिष्ठायें हुई थीं। साहु झम्मन लाल गार्गीय की ओर से भी एक प्रतिष्ठा सं० १६४५ में हुई प्रतीत होती है। 'भगत जी' के मन्दिर में प्राय: सब ही मूर्तियां इन्हीं द्वारा प्रतिष्ठित हैं। ला० पन्नीलाल जी रईस भी अपनी ओर से एक रथ-यात्रा निकलवाने का प्रबन्ध कर गये हैं। कुछ वर्ष हुए ला० मेवा राम भी एक वेदी प्रतिष्ठा उत्सव करा चुके हैं।

१६ भोगांव—मैनपुरी की इसी नाम की तहसील का मुख्य नगर है और अपनी मूर्खता के लिये संसार-प्रसिद्ध है। इसे भीमगाम भी कहते थे। यहां संवत १६५७ में एक बिम्ब-प्रतिष्ठा हुई थी।

२० बटेश्वर—भगवान नेमि का जन्म-स्थान है। सं० १६५२ में बाबू नरोत्तमदास ने यह प्रतिष्ठा कराई थी।

२१ सम्मेद-शिखर—महान् तीर्थ है। खंडेवाल साहु हिमत के सं० १६७५ के लेख से प्रकट होता है कि तब यहां बिम्बप्रतिष्ठा हुई थी; जिसमें उक्त साहु ने एक यंत्रां प्रतिष्ठित कराया था।

२२ सागर—मध्यप्रान्त में प्रख्यात नगर है। परवार जैनों की यहां घनी वस्ती है। यहां के भी लेख प्रकट होना चाहिए।

(६) जातियों का परिचय :—

उपर्युक्त लेखों में जिन जातियों का उल्लेख है उनको सनातन मानना नितान्त मूर्खता है। श्री इन्द्रनन्दि आचार्य ने अपने 'नीतिसार' ग्रंथ में यह स्पष्ट कहा है कि पंचम काल के प्रारंभ में देशभेदादि को लक्ष्य कर यह जातियां निर्मित हुई हैं। अत: हम यहां पर उल्लिखित जातियों की उत्पत्ति के विषय पर यथा शक्ति प्रकाश डालते हैं; जिससे पाठक जान जावेंगे कि सचमुच ये जातियां किस प्रकार उत्पन्न हुई हैं :—

१ अग्रोत जाति—आजकल की अग्रवाल जाति है। इसका उत्पत्ति-विषयक इतिहास स्वर्गीय पं० बिहारीलाल जी चैतन्य ने प्रकट किया है; जिससे प्रकट होता है कि भगवान् नेमिनाथ के तीर्थ में अग्रसेन नामक एक सूर्यवंशी जैनी राजा था। अपने समय के मिश्रदेशीय राजा 'कुरुबिन्दु', जो जैन था, उसके साथ वह युद्ध करता हुआ मारा गया था। इसके १८ पुत्र थे। उनकी संज्ञा अपने

पितामह को अपेक्षा अग्रोतकान्वयी सूर्यवंशी क्षत्रिय कहलाई थी। राजा अग्रसेन वैदिकमतानुयायी हुआ था; सो इसकी संतान भी वैदिक धर्म-भुक्त रही। किन्तु वि० सं० २७-७७ के मध्य अगरोहा के राजा दिवाकर देव से इस वंश में जैन धर्म की गति फिर हो गई। श्रीलोहाचार्य जी ने उन्हें जैन बना लिया था। हठात् इस वंश का राज्याधिकार जाता रहा और यह वैश्यवृत्ति करने लगा; जिसके कारण आज यह वंश 'अग्रवाल वैश्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार भगवान महाबीर के निर्वाण-लाभ से करीब ५५० वर्ष बाद इस अग्रवाल वैश्य जाति की उत्पत्ति हो गई! इससे वर्ण-परिवर्तन होने की भी पुष्टि होती है।

१ ककेश जाति—का पता 'वीर' में प्रकाशित कितनी ही जाति-पट्टावलियों में से किसी में नहीं मिलता है (वीर वर्ष ४ पृ० ३२०-३२३) हां नं० ८४ पर एक 'ककसीन' नामक जाति अवश्य है। शायद ये दोनों जातियां एक हों।

३ खंडेलवाल—जाति के विषय में कहा जाता है (जैनहितैषी भा० ११ पृ० ६८३) कि एक जिनसेन नामक जैनाचार्य ने (वीर सं० ६४३) खंडेला राज्य के लोगों को जैनी बनाया था; जिनमें दो गांव सुनारों के थे और ८२ गांव वाले राजपूत थे। ये सब लोग वैश्य-वृत्ति करने लगे, इसी कारण इनकी गणना वैश्यवर्ण में है। राजपूत वंशज होने के कारण ही शायद एक लेख में इन्हें इक्ष्वाकुवंशी लिखा है।

४ गीया गोत्र—इस नाम की किसी जाति का पता नहीं चलता। शायद यह किसी जाति का गोत्र हो।

५-६ गोलानार—और खरौआ आजकल पृथक् पृथक् दो जातियां हैं बहुत कर के भद्रावर प्रान्त में बसती हैं। किन्तु मूल में ये दोनों जातियां एक थीं। उपर्युक्त लेख-संग्रह में 'गोलाराान्वय' में 'खरौआ' जाति को बताया गया है। हमने अपने 'प्राचीन जैन लेख-संग्रह प्रथम भाग' (पृ० ८०) में अन्य लेखों के आधार से प्रकट किया था कि सं० १६८४ तक खरौआ कोई स्वतंत्र जाति न होकर गोलानार जाति का एक गोत्रमात्र था और इसका उल्लेख जाति-रूप में सं० १८०२ में हुआ था। किन्तु मैनपुरी के लेख नं० २८ के उल्लेख से प्रकट होता है कि सं० १६८६ में ही किसी कारण-वश यह खरौआ गोत्र गोलानार जाति से पृथक् होकर एक स्वाधीन जाति बन गया था। सं० १६८६ के बाद किसी भी लेख में उसका उल्लेख गोत्र या वंश-रूप में नहीं हुआ है।

७ **गोलसिंगारा**—जाति में गोलानार जाति से क्या भेद है, यह मालूम नहीं है। जहां यह जाति अधिक बसती हो, वहां का लेख संग्रह प्रकट किया जाय, तो इसकी उत्पत्ति के विषय में कुछ अधिक जानकारी हो।

८ **जेसवाल**—अथवा जायसवाल जाति का निकास जायसपुर नामक ग्राम से हुआ था, यह बात दूबकुंड ग्वालियर, के जैनमन्दिर के वि० सं० ११४५ के शिलालेख से प्रकट है। (देखो प्राचीन जैन स्मारक पृ० ७३)

९ **धाकौ**—जाति शायद् धाकड़ जाति है, जो अब भी करीब १२०० की संख्या में मिलती है। (वीर वर्ष ४ पृ० ३१९)

१० **नगर कोटेर गोत्रा**—नामक जाति का उल्लेख 'वीर' में प्रकाशित जाति-नामावलियों में नहीं है। किन्तु जसवन्तनगर के नवलसाहकृत छंदोबद्ध श्रीवर्द्धमान पुराण के अंत में जिन ८४ जातियों के नाम गिनाये हैं उनमें एक कोटवाल अवश्य है। यह कोटलगढ में रहने के कारण इस नाम से प्रख्यात हुई थी। संभवतः यही जाति 'नगर कोटेल गोत्र' कही गयी है। नगरकोट ग्राम पंजाब प्रदेश में कोटकांगड़ा नाम से प्रख्यात है और एक समय यह हिन्दुओं एवं जैनों का तीर्थ रह चुका है। संभवतः इसी नगरकोट की अपेक्षा यहां के जैनों का उल्लेख 'नगर कोटेल' रूप में हुआ है। महमूद गज़नवी ने इस नगर को खूब लूटा था और मन्दिरों को भी ध्वंस किया था। बाद के ज़माने में यहां की दीवानगिरी दिगम्बर जैनों के हाथ में थी।

११ **पोरवाड़**—जाति का निकास गुजरात के पोरबंदर नामक नगर से हुआ कहा जाता है। विशेष कुछ ज्ञात नहीं है।

१२ **पुले जाति**—खेमिजगोत्र नामक जाति का पता जातियों की उपलब्ध नामावलियों में नहीं है। इसके बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है।

१३ **माहिम बंश**—संभवतः दक्षिण प्रांत की नामावली में आई हुई महिया जाति है। (वीर वर्ष ४ पृ० ३२२) माहिम या महिम शब्द के सदृश 'माही' शब्द से है, जो मांझी का अपभ्रंश है। अतः क्या यह संभव है कि माहीगर (नाविक) लोगों के जैनसमूह का नाम ऐसा पड़ा हो ? बढ़ई आदि जाति भी जैन मिलती हैं।

१४-१५ **बुढ़ेले और लंमेचू**—जातियां यदुवंशज कही जाती हैं। हमने अपने जैन लेखसंग्रह प्रथम भाग में यह प्रमाणित कर दिया है कि मूल में बुढ़ेल जाति

लंमेचू अथवा लम्बकञ्चुक जाति का एक गोत्र था, किन्तु किसी सामाजिक अनबन के कारण सं० १५१० व १६७० के मध्य में वह किसी समय पृथक् जाति बन गया। बुढ़ेल जाति के साथ रावत, संघई आदि गोत्रों का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट है कि इस गोत्र के साथ अन्य लोग भी लंमेचूओं से अलग होकर एक जाति बना कर बैठ गये। लम्बकाञ्चनदेश के कारण ही यह जाति लम्बकञ्चुक कहलाती थी।

१६ **राहत्**—जाति नामक कोई भी जाति उपलब्ध नामावलियों में नहीं है। विशेष कुछ ज्ञात नहीं है।

१७ **वाकुलिया गोत्र**—भी नवीन नाम है। विशेष पता लगाने की ज़रूरत है।

१८ **वरहिया-कुल**—वरैया जाति का नाम प्रकट होता है। इसी जाति के रत्न स्वर्गीय पं० गोपालदास जी थे। विशेष विवरण इस जाति के मन्दिरों का लेख-संग्रह प्रकट हो तो ज्ञात हो।

१९ **श्रीमाल**—जाति गुजरात देश के श्रीमाल ग्राम की अपेक्षा कहलाती है। यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों हैं।

उपर्युक्त परिचय से यह स्पष्ट है कि प्रायः सब ही जातियां किसी न किसी देश या नगर की अपेक्षा हज़ार-डेढ़ हजार वर्ष के भीतर भीतर उत्पन्न हुई हैं। उन्हें अनादि निधन मानना उचित नहीं है। उपर्युक्त लेखसंग्रह एवं हमारे पूर्व प्रकाशित संग्रह से यह प्रकट है कि भदावर, इटावा, मैनपुरी, एटा और आगरे ज़िलों में जैनों का बाहुल्य मध्यकाल में विशेष था। राज्यव्यवस्था में भी उनका हाथ था। १६ वीं और १४ वीं से १८ वीं शताब्दियों में निर्मित जैन शिल्प विशेष है। इस देश का व्यापार उक्त समय में प्रायः जैनों के ही हाथ में था। विशेष परिचय अब शेष स्थानों का संग्रह प्रकट होने से ज्ञात हो सकता है।

इस किरण में यह प्रतिमा-लेख-संग्रह लेख समाप्त हो गया। अब इसके स्थान पर २री किरण से प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये-द्वारा सम्पादित "तिलोयपण्णत्ति" नामक ग्रन्थमाला निकलने लगेगी। यह ग्रन्थ दिगम्बर जैनसाहित्य में एक अनूठा रत्न है।

के० बी० शास्त्री

श्रीपूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक---पण्डित सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य्य, काव्यतीर्थ)

(क्रमागत)

४८—वाजीकरणे रतिलीलारसः

स्वर्णभस्म वत्सनाभं व्योमसिन्दूरसंयुतम् ।
दरदं धूर्त्तबीजं च जातीपत्रं त्रिजातकम् ॥१॥
अहिफेनं वराटं च वार्धिशोकं समांशकम् ।
मर्दयेत्तप्तखल्वे तु त्रिदिनं विजयाद्रवैः ॥२॥
धूर्त्तबीजस्य तैलेन त्रिदिनं मर्दयेद्दृढम् ।
कुक्कुटांडरसेनैव सप्ताहं भावयेत् पुनः ॥३॥
रतिलीलारसः सोऽयं गुंजात्रयमधुप्लुतम् ।
भक्षयेद्बीजरोधं स्यान्मधुराहारभुक् भवेत् ॥४॥
क्षीरशर्करया धातुवीर्यवृद्धिं करोति सः ।
रमयेत् त्रिशतं नित्यं द्रावयेदबलाकुलम् ॥५॥
जगत्संमोहकारी स्यात् पूज्यपादेन भाषितः ।
रतिलीलारसो नाम सर्वरोगविनाशकः ॥६॥

टीका—सोने की भस्म, शुद्ध सिंगिया, अभ्रकभस्म, रससिन्दूर, शुद्ध सिगरफ, शुद्ध धतूरा के बीज, जायपत्री, दालचीनी, इलायची, तेजपत्ता, शुद्ध अफीम, कौड़ी की भस्म तथा समुद्रशोष ये सब बराबर बराबर लेकर तपे हुए खरल में तीन दिन तक भांग के रस से घोंट कर धतूरा के बीज के तैल से तीन दिन तक घोंटे, फिर लीची की पत्ती के स्वरस से सात दिन तक घोंटे और गोली बांध कर रख लेवे। तीन तीन रत्ती के प्रमाण से मधु के साथ सेवन करे तो इससे वीर्य का स्तम्भन होता है। इसको सेवन करने के समय मधुर भोजन करे, दूध तथा शक्कर का सेवन करे तो उसके पश्चात् ही वीर्य की वृद्धि करता है तथा इसका सेवन करने से सैकड़ों स्त्रियों को तृप्त कर सकता है। जगत् को संमोह करनेवाला यह रतिलीलानामक रस सर्वश्रेष्ठ है।

४६—अम्लपित्तादौ सूतशेखररसः

शुद्धसूतं मृतं लौहं टंकणं वत्सनाभकं।
व्योषमुन्मत्तबीजं स्याद्गंधकं ताम्रभस्मकं ॥१॥
चातुर्जातं शंखभस्म बिल्वमज्जा कुचोरकम्।
एतानि समभागानि खल्वमध्ये विनिक्षिपेत् ॥२॥
भृंगराजरसेनैव मर्दयेद्दिवसत्रयम्।
बिल्वलाजकषायेण चोशीरक्वथनेन वा ॥३॥
चणमात्रवटीं कृत्वा छायाशुष्कं मधुप्लुतम्।
भक्षयेदम्लपित्तघ्नं छर्दिशूलविनाशनं ॥४॥
पूज्यपादेन कथितः सोऽयं तु सूतशेखरः।

टीका—शुद्धपारा, कान्तलौह भस्म, सुहागे का फूला, शुद्ध विषनाग, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, धतूरा के बीज, शुद्ध गंधक, तामे की भस्म, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, नागकेशर, शंख भस्म, बेलगिरी, और नरकचूर इन सबको समान भाग लेकर खरल में डालकर भंगरा के रस से तीन दिन तक लगातार घोंटे तथा बेल के काढ़े एवं लाई के काढ़े से क्रमशः तीन तीन दिन तक पृथक् पृथक् घोंट कर चना के बराबर गोली बना कर छाया में सुखावे और और अम्लपित्त तथा शूल को नाश करनेवाला सूतशेखर रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

५०—ग्रहण्यादौ रामबाणरसः

शुद्धपारदसिन्दूरं चाभ्रकं लौहजं विषं।
प्रत्येकं निष्कमात्रं स्याद्द्विनिष्कं चाहिफेनकम् ॥१॥
कोकिलाक्षस्य बीजानि वराटं टंकणं तथा।
प्रत्येकं निष्कमात्रं स्याद्विज्ञेयम् कज्जलोपमम् ॥२॥
मर्दयेद्विजयानीरैः कृष्णधत्तूरजद्रवैः।
प्रत्येकं दिनमेकं तु गुंजामात्रवटीकृतम् ॥३॥
एकां द्वित्रिवटीं चैव भक्षयेन्नागरैः युताम्।
ग्रहण्यां चामशूले वा चातिसारे विशेषतः ॥४॥
मंदाग्नित्वं ज्वरं मूर्च्छां नाशयेन्नात्र संशयः।
सर्वरोगसमूहघ्नः रामबाणरसोत्तमः ॥५॥
बाणवद्रामचन्द्रस्य पूज्यपादेन भाषितः ॥

टीका—शुद्ध पारा, रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, शुद्ध विषनाग तीन तीन माशा, तथा ६ माशा अफीम, तालमखाने के बीज, कौड़ी की भस्म, सुहागे का फूल तीन तीन माशा, इन सब को एकत्रित कर कज्जल के समान घोंट कर भांग के स्वरस से अथवा काले धतूरा के काढ़े से एक एक दिन घोंट कर रत्ती रत्ती के बराबर गोली बनावे। एक दो या तीन गोली सोंठ के काढ़े के साथ सेवन करे तो ग्रहणी, आमशूल अतिसार, मंदाग्नि, ज्वर, मूर्च्छा इन सब को यह रामबाण रस लाभ पहुँचाता है यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ उत्तम रामबाण रस है।

५१—वाजीकरणे त्रिलोकमोहनरसः

दरदं वत्सनाभं च धूर्तबीजाहिफेनिकम्।
समुद्रशोषं वज्राभ्रं सिंदूरं च समांशकम् ॥१॥
मर्दयेत्तप्तखल्वे तु त्रिदिनं विजयाद्रवैः।
धूर्ततैलेन सप्ताहं वटीं गुंजाप्रमाणिकाम् ॥२॥
मधुना च समायुक्तां त्रिगुंजां च समालिहेत्।
सर्करां च क्षीर-घृतं चानुपानं च पाययेत् ॥३॥
मधुराहारं भुंजीत गोधूमांगारपाचितम्।
परमान्नं घृतं शुभ्रशर्करया सह भोजयेत् ॥४॥
त्रिलोकमोहनो नाम रसः सर्वसुखंकरः।
शुक्रस्तंभं शुक्रवृद्धिं करोति मदमर्दनं ॥५॥
कामिनीतोषणकरो पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध विषनाग, शुद्ध धतूरा के बीज, शुद्ध अफीम, समुद्रशोष, वज्राभ्रक को भस्म और रस सिन्दूर सब बराबर बराबर लेकर तपे हुए खल में तीन दिन तक लगातार भांग के स्वरस से घोंटे। बाद, सात दिन तक धतूरा के तैल से घोंट कर एक एक रत्ती प्रमाण की गोली बनावे। शहद के साथ तीन रत्ती के प्रमाण से सेवन करे तथा खीर बनाकर सेवन करे तो यह त्रिलोक मोहन नाम का रस सबको सुखी करनेवाला तथा वीर्य का स्तम्भन एवं वीर्य की वृद्धि करनेवाला है। काम से पीड़ित मनुष्य को तथा कामिनियों को संतोष देनेवाला है। यह पूज्यपाद स्वामी का बनाया हुआ सर्वश्रेष्ठ रस है।

५२—वातरोगे स्वच्छन्द-भैरवरसः

शुद्धसूतं मृतं लौहं ताप्यं गंधं च तालकं।
पथ्याग्नि-मन्थनिर्गुंडी त्र्यूषणं टंकणं विषं ॥१॥
तुल्यांशं मर्दयेत् खल्वे दिनं निर्गुंडिकाद्रवैः।
मुंडीद्रावैः दिनैकन्तु द्विगुंजं वटकं कृतम् ॥२॥
भक्षयेत् सर्ववातार्त्तः नाम्ना स्वच्छन्दभैरवः।
सर्ववातविकारघ्नः पूज्यपादेन भाषितः ॥३॥

टीका—शुद्ध पारा, गंधक, लौहभस्म, सोनामक्खी का भस्म, हरताल भस्म, बड़ी हर्र का छिलका, गनयारी सम्हालू के बीज, सोंठ, मिर्च पीपल, सुहागा, बिषनाग, इन सब को बराबर बराबर लेकर सम्हालू को पत्तो के स्वरस में तथा गोरखमुंडी के स्वरस में एक एक दिन घोंटकर दो दो रत्ती की गोली वनावे और इसको अनुपान-विशेष मे वातपीड़ित मनुष्य सेवन करे तो अवश्य ही लाभ हो। यह सर्व प्रकार के बात-विकारों को नाश करनेवाला स्वच्छन्द भैरव रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

५३—सन्निपात्तादौ वीरभद्ररसः

त्र्यूषणं पंचलवणं शतपुष्पाद्विजीरकान्।
क्षारत्रयं समांशेन गृह्णीत पलसंमितम् ॥१॥
गंधकं सूतमभ्रं च सर्वं ग्राह्यं पलं पलम्।
आर्द्रकस्य रसेनैव दिनमेकं विमर्दयेत् ॥२॥
वीरभद्र इति ख्यातो रसोऽयं माषमात्रकः।
सन्निपातं हरेत् शीघ्रं चित्रकार्द्रकवारिणा ॥३॥
पथ्यं क्षीरौदनं देयं पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—सोंठ, काली मिर्च, पीपल, समुद्र नमक, काला नमक, सेंधा नमक, साम्हर नमक, कच नमक, सौंफ, स्याह जोरा, सफेद जीरा, जवाखार, सज्जी खार, टंकण क्षार, शुद्ध गंधक, शुद्ध पारा, अभ्रक भस्म ये सब बराबर बराबर लेकर अदरख के रस के साथ एक दिन भर मर्दन कर इसकी एक एक रत्ती प्रमाण गोली बनाये। यह वीरभद्र नामक रस एक माशे की मात्रा से चित्रक तथा अदरख के रस के साथ सेवन करने से सब प्रकार के सन्निपातों को दूर करता है। इसका दूध-भात पथ्य है।

५४—सन्निपाते सन्निपातांजनम्

निष्कजैपालबीजानि दशनिष्काणि पिप्पली ।
मरिचं पारदं चैव निष्कमेकं विमर्दयेत् ॥१॥
सप्ताहं भावयेत्सम्यक् चूर्णं जंबीरवारिणा ।
सन्निपातहरं चैतत् अंजनं परमं हितं ॥२॥

टीका—३ माशा जमालगोटा, २॥ तोला पीपल, ३ माशा कालीमोर्च, ३ माशा पारा इन सब को जंबीरी नीबू के रस में घोंट कर अञ्जन बनावे। इस अञ्जन को सन्निपात-दोष में आँख में आँजने से सन्निपात दूर होता है।

५५—शीतज्वरे शीतभंजी रसः

पारदं रसकं तालं शिखितुत्थं च टंकणं।
गंधकं च समान्येतान्येकीकृत्य विमर्दयेत् ॥१॥
दिनद्वयं कारवल्लीरसेनाथ विलेपयेत् ।
ताम्रपात्रोदरे तच्च भांडमध्येऽप्यधोमुखं ॥२॥
निक्षिप्य रुद्ध्वा संशोष्य बालुकाभिः प्रपूरयेत् ।
तत्पृष्ठे निक्षिपेत् व्रीहीन् चुल्ल्यां मंदाग्निना पचेत् ॥३॥
स्फुटितं व्रीहिणं यावत् तावत्सिद्धो भवेद्रसः ।
स्वांगशीतलमादाय प्रदद्याद्वातजे ज्वरे ॥४॥
शीतभंजी रसो नाम्ना सर्वज्वरकुलांतकः ।

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध खर्परिया, शुद्ध तवकिया हरताल, शुद्ध तूतिया, सुहागा, गंधक इन सब को समान भाग लेकर २ दिन तक करेले के रस में घोंट कर शुद्ध तामे के किसो कटोरे के भीतर लपेट देवे और उस वर्तन को एक बड़ो हंडी में जिसमें सात कपड़मिट्टी की गयी हो नीचे को मुख कर देवे और उस हंडी में बालू भर तथा बीच से आंच जलाकर तामे को कटोरी के ऊपर जो रेत है उसपर धान रख देवे। जब आंच लगाते लगाते वे धान्य के कण चिटक कर फट जावें तब जाने कि रस सिद्ध हो गया। जब ठंढा हो जाय तब निकाल और घोंट कर रख लेवे। यह एक रत्ती रस दो रत्ती काली मिर्च के साथ सेवन करे तो इससे वातज्वर तथा सर्व प्रकार के ज्वर शांत होवें।

५६—भगंदर रसादियोगः

रसगंधकसिन्धूत्थतुत्थनागासजीरकाः ।
तिक्तकोशातकी-सारं पिष्ट्वा घ्नन्ति भगंदरं ॥१॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, सेंधा नमक, तूतिया भस्म, शीशा भस्म, ये सब एकत्रित कर के सफेद जीरा तथा कड़वी तुरई के सार के साथ मलहम बनाकर भगंदर पर लेप करे तो भगंदर शान्त होता है।

५७—सर्वरोगे प्रतापलंकेश्वररसः

टंकणं सितगुंजा च गंधकं शुल्व भस्म च ।
अयसं कुष्ठमंजिष्ठं पिप्पली च निशाद्वयम् ॥१॥
संचूर्ण्य सूतकं तुल्यं मातुलुंगेन प्रमर्दितम् ।
अष्टादशविधं कुष्ठं भृशं हंति रसोत्तमः ॥२॥
लंकेश्वरो यथा सत्वलोकानां भयकारकः ।
प्रतापलंकेश्वरश्चासौ योगोऽयं सर्वरोगहा ॥३॥

टीका—सुहागे का फूला, शुद्ध सफेद गुंजा, शुद्ध गन्धक, ताम्र भस्म, कांत लोह भस्म, कूट मीठा, मंजीठ, पीपल, हल्दी, दारु हल्दी, शुद्ध पारा. इन सब को लेकर पहिले पारे गंधक की कज्जली बनावे, पश्चात् सब चीजों को मिला कर बिजोरा नीबू के रस से मर्दन कर के एक एक रत्ती की गोली बाँध कर इसे सेवन करे तो अट्ठारह प्रकार का कोढ़ दूर होवे। यह प्रताप लंकेश्वर रस प्राणियों का उपकारक है।

जिस प्रकार लंकेश्वर (रावण) बड़ा पराक्रमी वीर था उसी प्रकार यह प्रताप लंकेश्वर सर्व रोगों को जीतने वाला है।

५८—कुष्ठ विजयरसः

शुद्धतालं रसः गन्धं त्रिभिस्तुल्या हरीतकी।
सर्वतुल्ये गुड़े पक्त्वा निष्कमात्रं निषेवयेत् ॥१॥
विजयश्च रसो ज्ञेयो रसोऽयं सर्वकुष्ठनुत् ।
पूज्यपादप्रयोगोऽयं चर्मरोगकुलांतकः ॥२॥

टीका—हरताल भस्म, शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक एक एक भाग तथा तीनों के बराबर बड़ी हर्र का छिलका और इन सबों के बराबर बराबर पुराना गुड़, सबों को मिला एवं गोली बनाकर एक एक टंक प्रमाण अर्थात् तीन तीन माशा सुबह शाम सेवन करे तो इससे सब प्रकार के कोढ़ दूर होवे। साथ ही साथ सब प्रकार के चर्म रोगों के लिये उत्तम है।

५६—कुष्ठादौ वज्रपाणिरसः

शुद्धं सूतं ताम्रभस्म सिन्दूरं चाभ्रभस्म च।
यामं बाकुचीभिस्तु मर्दयित्वाथ गोलयेत् ॥१॥
लोहपात्रे विनिक्षिप्य बाकुचीतैल संमिते
द्विगुणं शुद्धगन्धं च पचेत्तैलेऽथ जोर्यति ॥२॥
तत्समं लोहभस्माथ पंचांगं निंबुभूरुहः।
संमिल्य मिथुने सर्वं निष्कं नित्यं निषेवयेत् ॥३॥
निशाकणा नागराग्निवेल्लताप्यानि च क्रमात्।
भागोत्तराणि संचूर्ण्य गोमूत्रेण पिबेदनु ॥४॥
वज्रपाणिरसो नाम्ना कीटिभं हंति दुर्जयं।
दशाष्टविधकुष्ठघ्नो पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—शुद्ध पारा, ताम्र भस्म, रस सिन्दूर, अभ्रक भस्म, एक एक भाग लेकर इन सब को एक पहर तक बकची के तैल से मर्दन कर के गोला बनावे तथा लोहे के बर्तन में बकची के तैल में आँवलासार गन्धक २ भाग लेकर पकावे। जब पक जावे तब गन्धक को गर्म जल से धो एवं सुखा कर उस चूर्ण में मिला देवे और गन्धक के बराबर लौहभस्म लेवे। नीम का पञ्चांग तथा चिरायते का पञ्चांग मिलाकर सब को मर्दन करे और घोंट कर चूर्ण बनाकर रख लेवे। इसकी तीन माशे की मात्रा है। प्रातः काल सेवन करे। ऊपर से हल्दी, पीपल, सोंठ, चित्रक, काली मिर्च, सोनामक्खी ये क्रम से एक एक भाग बढ़ती लेकर चूर्ण बना गोमूत्र में घोल कर पिये तो इससे सब प्रकार की कृमिजन्य व्याधि तथा सब प्रकार की कोढ़ वगैरह दूर होवे।

६०—कुष्ठादौ चर्मातकरसः

शुद्धं सूतं विषं गन्धं माक्षिकं च शिलाजतुः।
मृतानि तीक्ष्णलौहार्कपत्राणि च दिनत्रयम् ॥१॥

काकमाची देवदाली कर्कोटी वन्ध्यवारिभिः।
संमर्द्याथ शरावांतर्निक्षिप्य च पिधाय च ॥२॥
रोधयित्वा करीषाग्नौ त्रिरात्रं विपचेत्ततः।
बाकुचीतैलतो भाव्यं निष्कार्धं चर्मकुष्ठिने ॥३॥
दापयेत् खादिरं सारं बाकुचीबीजचूर्णकम्।
मधुनाज्येन संमिश्र्य लेहयेदनु नित्यतः ॥४॥
चर्मान्तकाभिधानोऽयं रसेन्द्रश्चर्मनाशनः।
प्रयोगसर्वश्रेष्ठः स्यात् पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—शुद्ध पारा, विषगंधक, सोनामक्खी, शिलाजीत, लौहभस्म और ताम्रभस्म इन सबको समान भाग लेकर तीन दिन तक मकोय, देवदाली, बांझककोड़ा, चाव इन सबके काढ़े से अलग अलग तीन दिन तक मर्दन करके सुखा कर शरावों के भीतर बंद कर कपड़मिट्टी करके करीष (कंडों के टुकड़े) को अग्नि में संपुट देवे। इस प्रकार तीन रात तक पका कर अन्त में बाकुची के तेल की भावना देकर सुखा लेवे और तीन तीन मासे की मात्रा से सेवन करे। ऊपर से खैर की छाल तथा बकची के बीज का चूर्ण शहद और घी के साथ मिलाकर खावे तो इससे सब प्रकार की कोढ़ दूर होती हैं। ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

६१—पांडुकामलादौ उदयभास्कररसः

भागैकं रसगंध पवद्विगुणं शुल्वं च भागाष्टकं।
शैलायाः त्रयतालकद्वयमितं शुद्धं च भस्मीकृतम् ॥१॥
संमद्य जलराशिभिश्च मरिचं भागत्रयं चामृतम्।
निर्गुण्ड्यार्द्रकभृंगराजसहितं भाव्यं जयंतीरसैः ॥२॥
प्रत्येकं दिनसप्तके च सुदृढं सूर्यातपे शोषितं।
योज्यं गुंजयुगं रसार्द्रसहितं व्योषेण संमिश्रकं ॥३॥
पांडूं कामलरोगराजमनिलं श्वासं च कासं क्षयं।
वातार्तिं कृमिगुल्मशूलमखिलं सम्यक् त्रिदोषं हरेत् ॥४॥
मेहं प्लीहजलोदरं ग्रहणिकां कुष्ठं धनुर्वातकं।
रोगं सर्वमपास्य दुष्टजनितं त्रैसप्तवारेण यत् ॥५॥
पथ्यं पौष्टिकतण्डुलं दधियुतं तक्रं च शाल्योदनं।
नृणां चोदयभास्करोऽतिफलदो रोगांधकारं जयेत् ॥६॥
सर्वं नश्यति पूज्यपादरचितो योगस्त्रिलोकोत्तमः।

ॐ

THE

JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. II.] June, 1936. [No. 1.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah**.

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY.
ARRAH. BIHAR. INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy Rs 1-4**

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. II. No. I	ARRAH (INDIA)	June, 1936.

JAINISM AND KARMA DOCTRINE.

BY

Professor A. N. Upadhye.

I. On the Antecedents of the Karma Theory*.

A glance at the physical environments of India will convince anyone that she is a favourite of the Nature to be so fortunately situated. The sky-kissing and cloudy Himālayas have proved an iron wall against all invaders; the east, west and south are equally safe with unfathomable waters stretching far and wide wherein none could safely sail in premachine days. The main inlet was on the northwest side, but any external disturbance on that side was too feeble to reach the fertile plains of central India and to upset the peaceful and religiously minded people. The country, as a whole, is not a piece of barren land so carefully guarded on all sides by Nature. Mighty rivers in the North and

* These pages cover some of my lectures on the Jaina Karma Doctrine delivered to my B.A. and M.A. students some three years before. I have retouched the same with a view to put them in an essay form.

periodic rains in the South have contributed to the enviable fertility of the Indian soil. Thin population, minimum consumption and maximum production led people to be contented. Benevolent monarchy, in early days, made people indifferent about their political rights and the sense of democracy. The climate was favourable, and labour for four months at the most would bring sufficient food-stuff for their maintenance all through the year. 'Struggle for existence'—that was unknown to the Indians, so long as they were all by themselves, unobsessed by invaders who came either to loot them or to help them by dumping their own productions in the Indian market. It is no wonder then, if the Indians under such favourable natural, climatic and political conditions came to be a self-contented nation with philosophical and reflective turn of mind.

In India Philosophical speculation is not ordinarily considered to be a serious pursuit of an academic interest; it is a part and parcel of Indian life The environments are so favourable, the activities and daily routine so typical that no special precautions were needed for cultivating the philosophical aptitude By the fire-side the mother is telling her kids the stories of sin punished and merit rewarded; in the temple, the priest narrates the story of the creation; and to crown all these, in the streets the beggars sing such fine ballads that even a Doctor of Divinity would be struck with wonder at their cosmological and ethico-religious sermons. This philosophical atmosphere has made people serious about life in its social and spiritual aspects. They need explanation for everything, and their curiosity must be satisfied whether through superstitious or supernatural crumbs or by the narration of some mythological tale of yore. The black face of the monkey is associated with the burning of Laṅkā; the golden stripes on the back of the squirrel are explained as the finger prints of Rāma. Divinity was searched under every natural phenomenon; and even ordinary accidents in every day life assumed a serious aspect. Thus, seriousness, to a large extent, included an amount of credulity. Philosophy could not be easily separated from cosmology: Religion and mythology were wedded together literally in the

Indian fashion. This attitude developed into a very stubborn type of seriousness with which were considered all the details of life. When the law of cause and effect failed to explain something, naturally as a decent garb of inquisitive nature, some higher motive was said to be working throughout.

In India, religious belief is a very potent factor and can be very easily substituted for personal conviction. In most cases attempts have been made to set it right on rational basis with the exception of a few forms of tribal religion. This rational basis cannot be identified with logical basis, since this rational basis allows a good deal of concession to supernatural intervention, to chance and even to fatalism. It is rational in the sense that it is deductive in its reasoning, where, the major premise, in majority of cases, is dictated by the religious scripture which has received its sanctity and authority as the word of divinity.

Inequalities in this world are too patent to be ignored, and to serious-minded Indians they are urgent problems. Here, some are rolling in pleasures, while there, many others are dying without sufficient food to eat. The labour put forth by the poor is in no way unsatisfactory Some easily get chances in life and are elevated to lofty peaks of fortune and pleasures. Some are born with silver spoons in their mouth, while some children do not get even the bare necessities of physical up-keep. Some are born blind and some deaf. The same parents, who gave birth to a fine boy, have given birth to a leper as well. Even similar causes give rise to effects which are greatly at variance. The law of cause and effect is not always effective in its operations. Intellectual equipment, moral force and dint of labour, which are ordinarily the causes of success in this world, often fail ; and one feels, even with all these, that he is driving in darkness Even some of the greatest men, champions of blood, brain and nerve, when asked about the secret of their success, mention chance, luck, fate, divine favour or providence as one of the important causes of their success If there is the necessity of such an excuse in the case of the greatest men of the world, then how much more difficult it is for a poor man to have faith in his head and hand. If the

piece of bread which was so laboriously earned is snatched away from his lips by some unforseen grip of fortune, well, there is no other alternative for him than to come to believe in some higher power or potency, which, because of one's utter ignorance about its nature, looms large on the horizon of human fortune. Then life comes to be looked upon as a game of chance, where a man is too weak to control the circumstances under which he is struggling. This view of life, in extreme cases, will lead one to superstition which has taken many victims in its fold. Even the rationalist feels dizzy at the accidental strokes of fortune, at the unexplainable ups and downs in life. When the causes are not properly traced, he calls for the help of chance or accident But a spiritualist, who sees something beyond death and also something behind his birth, is not satisfied with such materialistic terms as chance or accident. The various local conditions remaining the same, of course with the concession that one cannot exhaust all possibilities, if there are divergent effects, one is tempted to seek their cause in some previous birth or births.

Though not explicitly visible in the Vedic period, the doctrine of transmigration is the starting point of all Indian religions. There is no question of proving it; it is an universaly accepted dogma. The only school that has raised a voice of dissent against this doctrine is that of Cārvākas. But they were in a minority, and moreover their view cannot be acceptable, for the simple reason that their denial of this doctrine was tantamount to licentiousness, as they had no footing for morality, social responsibility and ethical justice A judicious interpretation of the relevent Vedic passages will not yield a strong support to the notion that the Vedic Aryans believed in the theory of transmigration; (Keith: Religion and Phil. of the Veda and Upa., p. 570) since, by the time of the Upaniṣads, it appears as a full-fledged doctrine, the distictive basis which this doctrine has got later may indicate, and rightly so, that the Aryans might have borrowed this doctrine from the indigenous people (Radhakrishnan: Indian Phil., vol. I, p. 136). Coming to the point, the belief in transmigration forms an essential factor in Indian religions, and even the great Buddha, with his

theory of impermanencee could not but admit this doctrine. It is this doctrine which lent a support to the inculcation of morals by various religions.

The theory of transmigration has for its support the reality of the self or the soul that passes through births and deaths. The present life is merely a link of that great chain of transmigratory circuit, while birth and death are the accidents of the routine. A permanent soul is not enough to explain the inequalities in life. When the soul becomes a participant of hundreds of births, before as well as after, the field for finding out the causes of inequalities is sufficiently widended; it is natural for them, with whom past lives are as real as this one, that ups and downs of individual fortune in this life might conveniently be attributed to some potential energy which the soul was associated with in some previous life or lives. It is this potential energy which is the fore-runner of the Karma theory found in many religions in one form or the other.

Transmigration or the round of re-birth is a thing ordinarily beyond the ken of logical proof; and when the Indian philosophers postulated this, they were guided by intuition or super natural vision which, by its very nature of being supernormal, cannot be questioned. In recent days scientists have tested these doctrines, and Sir Oliver Lodge and others have come to the conclusion that death cannot be the end, and that there must be some conscious state of existence behind and as well as after. Experiments of modern spiritualists are worthy of attention. In India the theory is a matter of acceptance on authority. It can neither be proved nor disproved, since the theory is extended over various births; and our logic is too limited to tackle with it The only virtue of the theory is that it cannot be disproved, and this came to be interpreted as its being proved.

Heretofore has been discussed the psychological background, under peculiarly Indian conditions, that necessitated the acceptance of the theory of transmigration as a necessaay complement of the Karma doctorine that consists in the association of the

permanent soul with some potential energy that is capable of accompanying the soul, inspite of the accidents of birth and death, and explaining the inequalities in this life. India is called a cradle of religions and rightly so. It is necessary to see the germs, the growth and the outline of this doctrine in different religious systems in India. The Indian religions can be divided into two groups, Vedic and Non-Vedic; and the rough standard to mark out these distinctions would be to see whether a particular religion accepts the authority of Vedas or not. The division may be novel, but the present writer firmly believes that a great mistake appears to be committed, in the history of the oriental studies, that the contribution of indigenous Indian culture to the religious life in India is completely ignored. A very defective method is adopted in trying to trace every custom, belief or doctrine to the Vedas and its kindred works with the unguaranteed supposition that there was no form of religion in India before the Aryans came here, and that the Aryan type of religion was above the necessity of borrowing anything from the original inhabitants of India. Of course the antiquity and the well preservation of Vedic texts is really a favourable excuse for such a line of study, but this bias can be given up now, when we are advancing fast in our knowledge of the aboriginal civilization. And the time has now come to give up the method of tracing every doctrine to Vedas; we must now see whether there are any genuine doctrines in non-Vedic religions for the establishment of which there is very little support in Vedas, but the support becomes stronger & stronger as we follow the current of the Vedic literature farther and farther. If such a phenomenon is detected with any particular doctrine, it means that the particular doctrine was originally alien to Vedic literature, but later on attempts were made to fit in that doctrine in the original scheme. Every caution will have to be taken in evaluating the consistency or the otherwise of a particular doctrine in the Vedic or the Non-Vedic religion.

Though the dates in Indian history are mere pins to be transplanted at every possible revision, the relative chronology of Vedic literature is practically settled; even then there might be

difference of opinion about this or that unit of a particular text. With the orientalists, the history of any idea starts from Vedas and passes through Brāhmaṇa, Araṇyaka and Upaniṣadic periods. This method, though historically sound, has given rise to a queer notion that every idea, custom or doctrine must be traced onwards from, and implicitly therefore, has its source in Vedas. The historian starts from Vedas or traces his line of study back to Vedas, not so much that they are the source of all possible and imaginable ideas and institutions as the Vedas are the earliest written records of the Indo-Aryan races and they have been handed down to posterity with an authenticity and fidelity almost singular, and hence creditable to the Vaidic Brahmins whose memories were the repositories of text-tradition, in the history of the literature of any nation. But the method adopted by the historian of doctrines is defective, though the same might not have been so in the 19th century when Veda, without Sāyaṇa, was a meaningless babble, and it always required to be interpreted in the light of later literature. But today it has been possible, to a certain extent, to enterpret Veda in the light of itself; so it would not be a critical and historical method, if we try to trace every Upaniṣadic idea to Veda with a definite bias that whatever is found in Upaniṣads must be there in Veda, as though the Aryans were singular in their tenacity not to adopt anything from the aborigines in India, in later days. It is necessary that the Vedic studies should be founded on a sounder base properly fenced with cautious and unbiased standards of criticism and interpretation; and the Vedas must be made to explain themselves in their own words; then the currents of the Vedic reflection should be studied in the course of their flow through Brāhmaṇas, Araṇyakas and Upaniṣadic channels discriminating the accretions and the depletions that they suffered on their way after coming into contact with the indigenous though—current. Though it is judicious to go from the known to the unknown, it does not mean that we should start with unhealthy and biased postulates about the unknown. The history of the indigenous thought has suffered a good deal for its lack of early authentic literature, for its customs and traditions not being

appreciated in their proper perspective, and lastly for the illogical method adopted in tracing the source of everything to Veda whereby no chance was given to any religion, in the early stages of oriental study, to assert its independence from the Vedic tradition. The recent finds at Mohenjo-daro and other places and the difficulty of fillings the gaps between the philosophical strata, that of Vedas and that of Upaniṣads, have led cautious scholars to give some heed to indigenous customs, doctrines and institutions in their original aspects; and one hopes that a new page will be turned in the history of Indian culture if non-Vedic religions are independently studied without the bias that whatever there is as religion in India should and must have its source in Vedas as waters have their source in the cloudy reservoir in the heaven, and due share of originality will be bestowed on the descendents of the indigenous culture.

The doctrine of Karma presupposes, and is meaningless without, a fully developed doctrine of transmigration through which is passing a permanent soul, capable of retaining its personality the outline of which in the next birth is fashioned by the potent forces resulting from mental, verbal and physical activities of the former birth. In Rigveda there are implications of one birth more; but to press the point that it contains explicit references to the theory of transmigration believed in by the Vedic people, is rather going too far ignoring the nature of the poetical character of the Rigveda. (See Keith: Religion & Phil of the Veda & Upa. p. 570; Dasagupta: A History of India Phil., vol. i, p 25; Radhakrishna Indian Philosophy, vol. i, p. 116.) Professor Ranade, however, is vehemental on the point that the theory can be traced as far back as Rigveda, and any influence from the aborigines of India is unwarrantable with him. (A constructive survey of Upa. Phil, p. 146). His attempt to read the transmigration theory in the riddle hymn i, 146, of the Rgveda is not happily founded; and so far I can understand him, the self in that hymn does not mean anything else than the vital breath (Ibidem p. 152). The threat of repeated deaths, in the case of heretics incapable of performing the sacrificial rites, as seen from the Śatapatha-Brāhmaṇa, though

indicating the possibility of one more rebirth, is far from being identical with theory of transmigration as current in the Hindu belief. In the pre-Upaniṣadic literature, Ātman means not any sentient and personal stuff capable of migrating but merely the breath whose loss at the time of death was conspicuous, and death came to mean the loss of Ātman. The claim of Ātman as the author of verses rests on the same foundation that the breath is the cause of sound-production in the form of Vedic verses. The Atharvanic idea of the soul flying swiftly or holding the same in the body corroborates the same view that Ātman meant the vital breath. Ātman as the ultimate and the essential reality behind the embodied personality was still unknown. The want of the definite formation of the theory of transmigration and the absence of an eternal Ātman are not favourable conditions for the possible development of Karma doctrine in the Saṃhitā period. But however attempts are made to seek the Karma doctrine behind this or that idea in the Rigveda; and it is just natural, in the absence of any sure ground, that the scholars have differed from each other about the possible ground of the Karma theory. According to Prof. Dasgupta the elements of Karma theory are to be sought behind the sacrificial idea that a magical virtue, created by the proper pronunciation of Mantras and the accurate observance of the various sacrificial prescriptions, produced the desired object after the due lapse of time. (A History of Indian Phil., vol. i, p. 72.) This magical virtue called Adṛṣṭa, Apūrva etc, was probably associated with the Vedic notion of ṛta, the inviolable order of things. (Belvalkar & Ranade: History of Indian Phil., vol. 2, p. 195). According to Prof. Radhakrishnan, the Vedic conception of Rita is the anticipation of the law of Karma; the conception perhaps pervaded the moral standard according to which good should be distinguished from the bad; Varuṇa was the typical follower of this standard but later on when sacrificial ritual superseded everytheing Rita became a synonym thereof (Radhakrishanan: Indian Philosophy, vol. i, p. 109). Dr. Keith sees the precursor of the later conception of the automatic working **Karma** in the technical term Iṣṭāpūrta which denotes the merit won by

offering and gifts to the priest. (Keith : Religion & Phil. of Veda & Upa., p. 250). Professor Ranade, who almost categorically finds the idea transmigration in the Rigveda, traces therein the Karma theory also in the word Dharma, quality, which is said to settle the destination of the soul whether to heaven or to earth. (Ranade: A Constructive Survey of Upa. Phil., p. 148.) These are some of the attempts to trace the roots of the Karma theory which appears as a full-fledged doctrine in later Upaniṣads; difference of opinion goes to show the slippery nature of the source in the Saṃhitā.

The poetic flash so often seen in the Saṃhitā, one feels, is missing in the dreary discussions of the Brāhmaṇa texts; the poet is converted into a priest, and his province of study is gradually shifted from the sky to the altar. The Brāhmaṇa texts lack the innocent fervour of the Saṃhitā on the one hand and the pessimistic seriousness of Upaniṣads about life on the other. In Brāhmaṇas there was not much scope for speculative thinking (Dasgupta: A History of Indian Phil., vol. i, p 13); and the priest was busy in weaving out vicious webs of sacramental and ceremonial speculations full of symbolic and fanciful explanations. The gods of the Saṃhitā were pitiably driven to a subordination, and the cult of sacrifice was the only topic of serious consideration. A faultless and careful practice of sacrificial rites was given a mystic significance capable of fulfilling all the desired ends. God, as a rewarding and punishing agency, is lost sight of, and his place is being taken by a magical and mystic potency, which, unaided by anything, could fulfil all the needs of the sacrificer. Under such conditions very little advance in theosophical speculations is imaginable in the Brāhmaṇa texts whose homogeniety is a matter of great doubt, and which, as philosophical texts, are of uncertain value. (Keith; Religion and Phil. of the Veda & Upa, p. 440.) The Brāhmaṇa texts are not aware of the doctrine of transmigration (Keith: Ibid., p. 442.), and with regard to the conception of Ātman there is very little advance beyond the stage of the Saṃhitās. Naturally, the Karma doctrine is not present there; the word Karma occurs in the sense of a sacrificial rite

which, as an institution, was invested with a mystic and magical potency, and, as seen above, some scholars associated the Karma doctrine with this. But as already implied above, it is difficult to accept the currency of Karma theory in the Brāhmaṇa age, when the texts have not got to their credit an explicit enunciation of the theory of transmigration with a permanent personality of the soul to be rewarded and punished commensurate with his inclinations, expressions and deeds.

The philosophical transition from Brāhmaṇas to Upaniṣads has been a great leap as it were; sacrifice loses its value, and the magical potency of the sacrifice is gradually replaced by religo-philosophical quest after the Ātman and Brahman whom the aspirant wants to realize. Indeed, we have a gap here, and various attempts have been made to fill this gap in a satisfactory manner. Garbe went to the extent of saying that the world of Upaniṣadic ideas has its source in the Kṣatriya circles, but that is only another extreme. Garbe's attitude may be explained after the manner of Prof. Dasgupta (A History of Indian Phil, vol i, p. 34), but the fact of the gap between the two philosophical currents remains all the same; the gap is not only remarkable (Dasgupta: Ibidem, p. 31), but to a great extent inexplicable too. (For the criticism of the view of Garbe see Keith: Religion and Phil of Veda & Upa., p. 493-4.) The most natural way of bridging this gap would be to admit the indebtedness of the Brahmanic philosophers to the indigenous thought-current, whose reflections, as inherited by some of the non-Vedic religions, clearly explain the novel doctrines seen in embryo in some of the Upaniṣads, the doctrines whose existence in the Saṃhitā and the Brāhmaṇas was a matter of mere biased conjecture. Macdonell remarks that the idea of transmigration comes very late in the Āryan thought and hence probably the Āryan settlers borrowed from the aboriginal inhabitants and made it to suit their own scheme. (Macdonell: History of Sanskrit Literature, p. 387) Keith is ready to call the Upaniṣads the product of the Āryo-Dravidian thought on condition that the effect of the intermixture must be regarded in the light of chemical

fusion, in which both elements are transformed (Religion and the Phil. etc., p. 497).

With regard to the doctrine of transmigration there is a decided advance in Upaniṣads. The doctrine is being worded in various ways The very fact that some scholars are inclined to adopt the development of the idea of transmigration as the basis for the chronological sequence shows that the doctrine of transmigration is conspicuous by its absence in some of the earliest Upaniṣadic passages; but as we advance, we find it completely developed. It may not be a valid basis but there is no denial of the fact that in the pre-Upaniṣadic period the doctrine is absen tand conspicuously so. As Prof. Hirianna puts it, the doctrine of transmigration is not distinctly mentioned before the age of the Upaniṣads and, even among them, not all lay equal emphasis on it. (Hirianna: Outlines of Indian philosophy, p. 80.) In the Bṛhadāraṇyaka Upa. the soul is said to fashion a new and fairer form in lieu of the old one, in the wise of a gold-smith that takes a piece of gold and gives it a newer and fairer form. The consequent form of his body, may be that of Pitṛs, Gandharvas, Gods etc., depends on his good, bad, virtuous or vicious behaviour. It is the desire that serves as the connecting link between the soul on the one hand and his birth on the other. In the Upaniṣads we have the necessary material, namely, fully developed notion of transmigration and a permanent and personal soul, that serves as a ground-work for the doctrine of Karma that would explain the undulations and inequalities on the path of the soul's journey through various births. There is a marked advance in this period about the nature of the self. It 'undergoes rebirth being a combination of diverse psychological and moral tendencies and the physical elements, and also 'holds within itself the principle of its transformation' (Dasgupta: A History of Indian Phil., vol. i, p. 56). The self is not the mere vital breath but something substantial; him follow his knowledge, his works and his former consciousness (Bṛhadāraṇyaka Upa. iv, 4, 1-2). Kāma (perhaps from Kamma on the analogy of Vāgha from Vaggha) is the root of births, and the destruction of the same results into immortality. The annihilation of Kāma, in other

words the admission of the principle of non-attachment, is the beginning of the pessimistic note of the Upanisads. The ground is ready for the doctrine of Karman, and, as we implied, the word Kāma might be merely another form of Kamma though 'none of the complexisties,' as Professor Dasgupta plainly puts, 'of the Karma doctrine which we find later on in more recent developments of the Hindu thought can be found in the Upanisads. The whole scheme is worked out on the principle of desire (Kāma), and Karma only serves as the link between it and the actual efforts desired and willed by the person.' (A History of Indian Phil., vol. i, p. 57). In some places there are suggestions which may tend to be the precursors of the doctrine of Karma. Chāndogyopaniṣad (v, 3-10) has a suggestive reference to the post-mortem rewards according to our good and bad deeds. In the Bṛhadāraṇyaka Upa. (iii, 2 and iv, 4) the conversation between Yājñavalkya and Jāratkārava gives an understanding that a man's actions determine his fate, and a man becomes good by good work and bad by bad work. (On the critical estimation of the passage see Keith: Religion and the Phil. of the Veda & Upa., p. 573; Belvalkar and Ranade: Creative Period, p. 195; Ranade: A Constructive survey of Upa. Phil., p. 20) Yājñavalkya further adds that the soul becomes identical with Brahman when stripped of good and bad Karmas. In the Maitrāyaṇī Upa. there is an incidental reference to the Karma doctrine, as the waters of the great rivers, there is no turning back of what has been already done. (Belvalkar and Ranade: Ibid. p 314.) Chāndogyopaniṣad (iii, 14) teaches the Karma doctrine which approaches fatalism: individual works pave the way for fate which overtakes a man in the next birth. In the Kauṣītakī Upa. we are told definitely that a soul is said to embody a worm or a moth, fish or a bird, a leopard or a lion, a serpant or a man or any such other creatures according to his Karma and knowledge (Kauṣītakī, i, 2; also Kaṭha ii, 5, 7).

The chronology of the Upaniṣadic texts is a crux, and it is no wonder then if certain scholars have attempted to solve the problem by taking different text-units, and not texts as a whole, and then arrange them chronologically. For our purpose, it is sufficient

to have a synthetic view of the Karma doctrine as seen from the great tract of the genuine Upaniṣadic literature In majority of cases the soul is admitted to be a substantial entity capable of migrating from birth to birth, from bodies to bodies. This migration and the quality and the nature of birth depended on the soul's having incurred good or bad Karmas; the Karma doctrine was not still very popular, and perhaps for this reason Yājñavalkya does not propound it publicly, but he takes Jāratkārava aside and discussed the Karma doctrine (Bṛhad iii, 2, 13.) The knowledge of Brahman was the highest spiritual aim, and it was calculated to set the soul free from both the good and bad Karmas. Here and there peeps out the idea that it is possible to transfer Karmas from one person to the other (Kauṣītaki Upa. i, 4). An inviolable law of Karma is inconsistent with absolute theism, where God is not only a creator but a bestower as well of favours and frowns on the worldly beings. The Upaniṣadic philosophers were not naturally met with this difficulty, for, with them the sacrifice had fallen in the back-ground and their Brahman was rather an ideal to be realized than a meek god to be cajoled for favours.

The position of Gītā with respect to Karma doctrine is not clear cut. No doubt the Karma is admiited as the cause of rebirth, and it is itself caused by desire etc, (iv, 9 etc.) The Bhagavadgītā proposes to prescribe a positive path as to how one should perform the Karmas; he should never be intent on the fruits which in all cases should be dedicated to the God. (Compare Bhandarkar: Vaiṣṇavism, Śaivism, etc, section 12). The goodness or otherwise of a particular action depends more on the motive of the agent than on the intrinsic character of the act. So then, Gītā does not prescribe any path as such following which one can destroy the Karmas. On certain topics Gītā does not attempt to propound a single view, but 'it collects together various traditionally accepted views without trying to harmonise them properly' (Dasgupta: A History of Indian Phil, vol. ii, p 520). This is true in the case of Karman doctrine also. On the one hand Karma is treated as the cause of transmigration and on the other, especially in the 18th chapter, Karma means merely ritual acts of piety. In opposition to certain

doctrinaires Gītā prescribes the Karma such as worship, charity and austerity as the means of spiritual purity, only that there should be no attachment to them and no desire for the fruit. One doubts whether Gītā admits an inviolable law of Karma which brooks no exception : whoever does a Karma must either suffer for that or get himself exempted therefrom by austerities. The personal theistic attitude of Gītā throws overboard the doctrine of Karma, when Kṛṣṇa intervenes and makes cruel and wicked persons take births repeatedly in devilish wombs (xviii, 19). A soul that dedicates all his acts to the God is above the clutches of Karma ; and naturally in Gītā, the Karma has no absolute moral value, as it is subservient to the will of the God who often takes the part of a distributor of fruits according to merits and demerits.

In the law-books the view of Karma is quite practical and looked at from the point of detecting the crime and that of the distribution of justice, sometimes through the threat of the next birth. People from the lower castes are looked upon with a disadvantage, and after death they are deprived of their meritorious Karmas. The wicked act is a powerful force that easily detects and binds the perpetrator. The dens of hell are horridly painted, and there the sinners are beaten with their deeds. More often the Karma is of local consequences, and we are told that good and evil acts done in one's youth are annulled by living righteously in one's later age. Karma bears its fruit though it is committed unintentionally. The transference of Karma is admitted, and we are told that the good Karmas of a pious debtor, in case he dies without returning the debts, go to the creditors. The false witness loses his meritorious deeds, and hence he is to state the truth.

Ordinarily it would appear strange that the reflection of the Karma theory should be investigated in the epics ; but the Indian epic literature, especially Mahābhārata, is encyclopaedic so far as the contents are concerned. The philosophic contents would be at once appreciated by merely recalling the fact that Bhagavadgītā, Sanatsujātīya and the Sāṃkhya-Yoga section of the Śānti-parvan are some of the bright shells selected at random from the great

ocean of Mahābhārata. Even in the non-philosophical and narrative portions we can get the glimpses of serious metaphysical and moral principles from the character, conduct and conversation of the heroes, from the consequences of their dealings and acts, and finally from the psychological back ground of the plot and the general atmosphere under which the march of events is taking place. It is necessary to give up the dogmatic and subjective canons of criticism, and every incident must be studied in its psychological setting and with its antecedents as well as far reaching implications. It is already remarked that an inviolable law of Karma cannot shake hands with idealistic theism or more accurately divine favouritism; any preference to the one means contradiction with the other. Or as Griswold puts it, "The doctrine of Karma has ever stood in the way of a belief in the free exercise of the divine grace." (The Religion of the Rigveda, p. 342). Since Vedic times gods are considered to intervene in worldly affairs, and it has been their prerogative to make or mar the fortune of human beings according to their sweet will; they are sometimes treated on equal footing with eminent men of the world, and sometimes they are made the victims of human weaknesses. The various events in the epic go to show that the law of Karma is violated often by divine favouritism; and perhaps by this divine hand it was soon corrupted into fatalism (Daiva from Deva) by the epic writers. Various potencies are believed in, but the most favourite one is the the Daiva 'which is a power developed into individuality out of the general concept of divine power.' In the narrations there is generally a toss between Karma, representing human acts or energy and Fate, representing divine ordination; and it is the Fate that often wins. Everything is in the hands of God, and 'man was made devoid of free will at the creator's injunction.' Though man is a doer, the lord creator disposes and apportions according to one's former acts; this is a sort of compromising attitude seen in Gītā as well. Some heroic characters have openly objected to fatal ordination 'not generally because of impiety but because the concept had already merged into a personal abstraction which stultifies action.' Rāma meekly submits to fate as a divine will,

but Lakṣmaṇa repudiates the idea that gods would hinder him. Epic fatalism is on the verge of superstition, and even in epic days some characters are the victims of superstitions, astrological and prognosticational, for the simple reason that the divine will was suspected under all of them. In epic narrations the law of Karma is repeatedly violated on account of the constant intervention of divine hand in human life. As compared with the Vedic pantheon the gods here have become prosaic and tame. The gods, if duly propitiated, would bestow anything, excepting, in most cases, immortality in the bestowal of which they are rather miserly. This Ārādhanā, propitiation, was later on deteriorated into absolute divotionalism. The very life of a man is said to depend on the grace of gods The gods are a bit selfiish too; and they help Uparicara merely because he upholds their side in settling the question 'whether seeds may be considered as goats for sacrificial purpose.' The physical mutilation etc. are explained on the ground of divine will, and thus the Karma doctrine is set at nought. If propitiated they give children, lend weapons, dishearten the enemy and even send encouraging message through a divine voice or a messenger. Excepting in a few cases the Karma doctrine is not uppermost in Epic narrations; and even then it is defeated in the face of fatalism. (Hopkins: Epic Mythology, sections 27, 31 etc) In some cases the descendents inherit the Karmas of their forefathers; this conception nullifies the force of the law of Karma as a natural ordination regulating justice in life. The law of Karma, which is looked upon as an expression of the nature of God, cannot work as a limitation to the divine power. Mahābhārata recognises three kinds of Karmas: Prārabdha-karma, which gives the fruit in this existence in accordance with the stock of previous impressions or actions in the human birth; Saṃcita-karma, which refers to the potent impressions inherited from the past birth; and Āgāmi-Karma, which represents the fresh impressions incurred in this life by various actions. Real knowledge, expiatory rites and divine justice can overcome the last two but not the first (Radhakrishnan: Indian Phiol., Vol. I, p. 509).

Some of the tenets of the Karma-Mīmāṃsā school are pretty favourable for the development of the doctrine of Karma, had it not been for the absolute dogma of the school that the sacrifice is all-in-all capable of achieving any end. The exponents of the K.-Mīmāṃsā school are not ready to accept the position of the Vaiśeṣikas that the world is created by some supernatural agency on some logical grounds, that there is no motive on the part of the God to create the world, that the admission of a motive would vitiate his omnipotency, that there is no excuse for the God of such a patent compassion to create this world full of misery and sin, that the creation as a piece of sport contradicts his perfect bliss, and lastly that the various limitations in this world are a stain on his foresight and therefore vitiate his omniscience. The Mīmāṃsaka that knocks down theism with such an attitude, must substitute the God by something else. Sacrificial ceremony is everything with him, and it generates an invisible potency which, without any divine support, is able to fulfil all the desires of a sacrificer. It is this invisible potency or Apūrva that plays the rôle of Karma theory in the K.-Mīmāṃsā school. There are varieties of Apūrva according to the nature of the sacrifice performed & of the fruit to be obtained. The rewards obtained after the sacrifice, as described in Vedas, are not received from the presiding deity to whom the offering was made but from this unprecedented potency generated from the sacrificial rite. This admission of Apūrva and the further presumption that in many cases the sacrifices performed here are counted to fulfil the reward in the next life necessitated the Mīmāṃsaka school to admit the soul as an eternal and substantial entity which, though suffering modifications according to the actions of former lives, retains the personality inspite of the accidents of birth and death. The Pūrva-Mīmāṃsā school admits the multiplicity of souls, each rosponsible for his transmigratory fate and the sacrifice is the sovereign remedy to escape from Saṃsāra, though along with sacrifice many other virtues are enumerated. The P.-Mīmāṃsā school does not appear to have brought out the full ethico-moral and metaphysical significance of Karma theory; with them it is only a sacrificial rite accompanied

by the mystic Apūrva occasioned thereby It is just natural that, eminently ritualistic as the school was, it could not rise above the environments of the sacrifice with which everything was associated.

No explicit mention of the doctrine of Karma, as a potency temporarily accompanying and determining the transmigratory destiny *of the self, is found in the Sāṃkhya system; but a counter*-part of it, under a different name of course, can be detected therein. The Sāṃkhya Puruṣa or the soul is an indifferent onlooker, and he is wandering in Sāṃsāra because of his conjunction with Prakṛti which is essentially material as contrasted with Puruṣa, but technically said to be a balanced equipoise of Sattva, Rajas and Tamas, the three primary Guṇas. The exact metaphysical import of the conjunction of the individual spirit with Prakṛti is not clearly explained in the system; we are told that really there is no connection, but through ignorance the spirit considers itself bound and suffers transmigration. If the soul is not really bound, then the severance of the both by means of knowledge sounds merely like a platitude, perhaps following the Upaniṣadic conception of realizing the identity of the individual and the universal spirit. The system does not clearly bring out the whereabouts of that ignorance which causes that bondage; and Keith rightly remarks, 'that its position in the system must be traced to a form of philosophy in which it had a more just claim to existence. (Keith: Sankhya System, p 15). It is the bondage caused by ignorance that essentially explains the misery of existence. From some of these doctrines of the Sāṃkhya system the various functions of Karma are discharged by the Prakṛti herself; herself being unconscious she undertakes this evolution for the sake of the spirit. It is quite plain that the Sāṃkhyas relegate every activity to Prakṛti, say that the bondage is not a fact and finally make the Puruṣa absolutely indifferent still suffering because of his ignorance, only because it was difficult for them to posit a first cause for the bondage of Puruṣa and Prakṛti. But when the details of the system are looked at with a synthetic sympathy it is the Prakṛti that fashions the destiny of the soul; and since the **Prakṛti** was admirably efficient in explaining the inequalities of existence, with no intervention of divine

agency, the system in its early form rejected a personal deity. The doctrine of transmigration is unhesitatingly accepted, and it is the result of the bondage of Puruṣa in Prakṛti through ignorance. The misery of this world is threefold; personal, impersonal & antecedent, *i.e.*, brought by ourselves, by others and by fate. Deliverance from this bondage, from the misery, is not possible by sacrifice which involves a lot of injury to others. It is the knowledge of the Sāṃkhya principles that is looked upon as a sure means of escape.

The Yoga school inherits major part of its ontology from the Sāṃkhya system, and in fact even from the epic days they are looked upon as supplementary. As to the priority of one over the other, it is a knotty question; the usual opinion is that the Yoga is merely a theistic reappearance of the Sāṃkhya, but even the opposite of it may equally be justified that the atheistic Yoga is Sāṃkhya. The Īśvara of the Yoga school is a special kind of self who is untouched by hindrances (Kleśa), Karmas, fruition thereof or by latent deposits (āśaya) (Pātañjala Yogasūtras, i, 24.). The profound devotion of the Yogin evokes favour from Īśvara. Evolution is the function of Prakṛti, and for his devotees he dictates the Vedas at each evolution of the world following every dissolution.

Good many details of Karma theory are found in the Yoga school. Karma as a class is of four varieties: i, Black: these Karmas belong to the wicked people and popularly it goes by the name Adharma; ii, White-and-black: these are achieved by external means like sense-organs and injury or benefit to others that lead to the Karmic accumulation. This refers to such acts which, though beneficial on the whole, involve some sin, such as injury to beings etc. For instance, that the pious Brahmins should be fed is an unquestionably pious act, but it does involve a bit of sin when ants are crushed in the course of pounding rice etc., for meals. iii, White: these Karmas belong to those pious personalities who are engrossed in penance, study and meditation; these acts do not involve any sin resulting from harm to others, since they belong to the mental sphere without depending on outer means, iv. Neither-white-nor-black: these Karmas belong to those saints who have renounced everything, whose hindrances or afflictions have

been consumed and whose actual embodied condition is the last. They are immune from the remaining three kinds of Karmas: they are completely above black actions; white-and-black they cannot incur, because they do not take recourse to external means; and finally even white Karmas they do not incur, for they offer to the Īśvara the fruition of the latent deposit of Karmas. (See Vācaspati-ṭīkā on Pātañjala-Yogasūtras, iv, 7). This fourfold analytical division of Karmas appears to be ethico-psychical or to be more accurate temperamental.

The latent Karma (Karmāśaya), which may be of the form of merit or demerit, is occasioned by greed, infatuation, anger and other afflictions (kleśa); and it is of two kinds according as it fruitions in this or in the other life. As to the examples of immediate and local fruition, Vyāsa in his Bhāṣya on Yogasūtras quotes two illustrations, one of merit and the other of demerit: the youth Nandīśvara was instantaneously transformed into a God, while Nahuṣa the lord of Gods, was degraded to a reptile birth (See Yogasūtras, ii, 12, commentary). As long as afflictions exist, the latent Karmas continue their fruitioning function which is of three kinds: life-state, life-time and life-experience. Not only the further propagation stops, but even the existing stock of latent Karmas is exhausted when the afflictions are rooted out. The life of hellish beings, who are said to have been endowed with Bhoga-śarīra, is meant for suffering with no further scope for the accumulation of latent Karmas. Karmāśaya or the latent Karma is regarded as unigenital or accumulated in a single birth as contrasted with Vāsanās 'which remain accumulated from thousands of previous lives since enternity', 'which result from the memory of the experiences of a life generated by the fructification of the Karmāśya and kept in the Citta in the form of potency or impressions (Saṃskāra)' and hence which are called polygenetal (anekabhavika). Manifestation of Vāsanās already ingrained in the mind is occasioned by unigenetal latent Karmas (Karmāśaya) which are tending towards fructification. Further, this latent Karma may be of fixed or non-fixed fruition, here or elsewhere. Every birth is a result of one's previous Karmas. A man undertakes

good or bad actions by the inward Kleśas (affliction) 'and these actions, as a result of their fructification, produce another life and its experiences, in which life again new actions are earned by virtue of the Kleśas and thus the cycle is continued'. (Dasgupta: Yoga as Phil., and Religion, p. 114). It is necessary here to see the position of the Īśvara with respect to the destinies of individuals. The deserving ability of every individul is fashioned by his Vāsanās and Karmāśayas, and only according to their deserts the God helps them; 'he does dot nullify the law of Karma, just as a king, though quite free to act in any way he likes, punishes or rewards people as they deserve' (Dasgupta: Ibidem, p. 160).

Yoga is really an orthodox school from the stand-point of Vedic current of thought, though the same cannot be asserted with confidence in the case of the Sāṃkhya system which is decidedly atheistic, and only half-way ready to admit the authority of the Veda; and the sudden appearance of such a detailed and suggestive Karma theory will have to be treated with an amount of discount with regard to its genuineness and originality in the Yoga school. The Yogasūtras, as they have been preserved to us, are post—Buddhistic, and on this point there cannot be two opinions. Certainly these elaborate details are not a natural growth on the Upaniṣadic concept, but it appears to be built with accretions from the non-Upaniṣadic or say non-Vedic sources, as it will be made clear in sequence. The commentators on the Yoga-sūtras, as days go on, differ from each other in working out the details of the Karma doctrine: that only shows how the commentators failed to be the custodians of the details of this borrowed doctrine. Yoga, as a form of psycho-religious exercise on the spiritual path, need not necessarily be, and is not, a purely Vedic (including its later growth) concept. It must have been and was current among the native people as it can be inferred from its admission in non-Vedic religions and as it can be conculsively shown to be prevalent in India, even before the Aryan migration, as indicated by some of the images found at Mohenjo-daro whose position of the eye, of course in the light of the later inconology, shows that some form of Yoga practice was current in India at that time of hoary antiquity.

Buddhism is one of those non-Vedic religions that have been usually labelled as heterodox. Buddhism, pre-eminently in its earlier form, stands as a champion of morality and against social aristocracy; it is no wonder if it came in conflict with the sacrificial cult of the Vedas whose sole custodians were the priests. It is necessary to see in this context, what Buddhism has to say on the Karma doctrine, and whether there are any favourable tenets in Buddhism for the admission and currency of such a doctrine. The Buddhist position with regard to the concept of soul is one of definitely negative character; and Buddha's silence on after-life problems is not at all a matter of surprise now. So far as we can judge from the Pali canon, Buddha never accepted a permanent entity as soul; not only that, but he was averse to any form of discussion about the soul-theory. The very first sermon, Anatta-lakkhana-sutta, of Buddha shows how categorically he rejects all the current forms of the soul-theory. (See Rhys Davids: Buddhism, American Lectures, p. 39). Even in his last words Tathāgata Buddha is addicted to the same view when he said, ' And now, O priest, I take my leave of you; all the constituents of being are transitory; work out your salvation with diligence (Warren: HOS iii. p. 109). In Puggala-paññatti we are given an unmistakable view of Buddha on the Atman-theory as against Sassata-vāda and Uccheda-vāda: Śāśvata-vāda maintained that the soul is truly existing in this life as well as in the life to come; Uccheda-vāda admitted the soul, but only in this life, perhaps thereby implying its sublation along with the body at the time of death. Buddha, as against these two views, took an extreme view and absolutely denied the existence of the soul in this and in the next life The famous conversation between Nāgasena and Milinda, as recorded in Milinda-pañha, clearly brings out the notion as to what view the Buddhists held with regard to the soul-theory. There is no soul behind the name Nāgasena; but it is barely a name, a convenient designation, for the five aggregates that constitute the empirical individual. Neither the pole, nor the axle, nor wheels, nor any other parts of the structure, can be individually called a chariot, but a collective collocation of all of them is a

chariot. Nāgasena quotes the statement of Vajira made in the presence of Buddha :—

"Even as the word of 'chariot' means
That members join to frame a whole;
So when the Groups appear to view,
We use the phrase, 'A living being'."
(Warren : HOS iii, p. 133.)

In the Mahā-nidāna-sutta of Dīghanikāya the venerable Sārīputta, not only agrees with, but rejoices at Yamaka's statement, 'everything perishes on the dissolution of the body and nothing exists after death'. The creed of transitoriness was uppermost in Buddhistic thought as Buddha held that the life of a living being lasts for the period of one thought and there cannot be any contInuation of the same personality in the next.

It is not at all diffiult to have a historical explanation of this negativist inclination of Buddha. He came on the field not as a-metaphysician of the Yājñavalkyan type but as an avowed physician who wanted to heal the miseries of Saṃsāra; and this is clear from his four axioms: there is misery in Saṃsāra which must necessarily have a cause, and it must be suppressed according to the proper remedy. Buddha, as seen from his personal sermons, never posed to be a subtle logician given to objective speculation; and as Warren aptly puts it, his system was a religious one and his philosophy an applied philosophy. Buddha refused to answer certain questions; not that he was ignorant about their solutions, but he sincerely meant that they did not fall under the perview of his system and the knowledge thereof was not very essential for understanding the truth of misery and how it can be rooted out. The conversation between Māluṅkyāputta and Buddha, recorded in Majjhima-nikāya, is interesting from this point of view. Māluṅkyāputta has some questions in his mind as to the eternality and infinity or otherwise of the soul, as to the indentity of soul and body and as to whether the saint exists after death or not; and he wanted Buddha to elucidate these points to him. Buddha plainly tells him that he had never given any undertaking that these tenets would be

elucidated, and that there was no condition before initiation that these doctrines should be explained to the novice. With him it is the question of healing the misery ; it would be silly on the part of a patient suffering from a poisonous dart stuck in his body, when the doctor has come to remove the arrow and heal his wound, to insist on knowing, and not allowing to remove to arrow without knowing, the whereabouts of the arrow, of the archer, of the bow, and the bow-string. The patient would certainly perish and so a novice, if he were to hanker after the enlightenment of these points, before Buddha had ever elucidated these points to him Moreover the religious life does not depend on the elucidation of such dogmas. And finally Buddha asserts, 'whether the dogma obtain, Mālunkyāputta, that the world is eternal, or that the world is not eternal, there still remain birth, old-age, death, sorrow, lamentation, misery, grief and despair, for the extinction of which in the present life I am prescribing. (Warren : HOS p. 121. Buddha, in the end, categorically declares that he has not elucidated them, because they have nothing to do with the fundamentals of religion.

This negativist view of Buddha would not have been startling but for his admission of the transmigration in the sense that he wants to explain some phenomena of the future birth in the light of some incidents of previous births. A glance at the Jātaka stories will show how they speak about the anterior births of Buddha, and the doctrine of the forthcoming Bodhisattvas indicates the Buddhistic belief in a subsequent life. When a thorn pricks Buddha's foot as a fruit of his having slain a man, is it not necessary that something common for identity, in two different lives, should be admitted ?

Buddha objected to the admittal of a permanent self, but to fulfil the needs of an inconsistently admitted Karma doctrine he tried to substitute the substantial soul by some adequate counterpart. He maintained a series of ideas, where every subsequent idea inherits from its predecessor the impressions of its unending past. It must be remembered that mere sequential succession is not enough but some identical character is essential to carry intact, without the

interfusion of mutual Karmas with their impressions, the main features of its predecessor. If identity were to denied, all the birth stories of Buddha are meaningless fabricatons inconsistent in his creed. A common substratum is essential wherein the first idea and the last idea can be duly linked. If Karmas of one birth can be fulfilled in later births, without the intermingling of individuals, it amounts to saying that Buddha admits something that does endure through birth to birth but he is reluctant to call it a soul.

With these notions about soul and transmigration, the presence of Karma theory in Buddhism is looked upon by scholars as a piece of inconsistency. When a man dies the aggregates that constituted the personality perish, but by the force of his Karmas another set of aggregates appears on the scene which, though different in form, is really identical with the previous one, bacause of the presence of the samo Karmas. Thus, Karma is looked upon as a link that maintains itself in this transmigratory flux of changes. Taking a synthetic view, Buddhism preserves many details about this Karma doctrine.

Karma is looked upon as the cause of birth and death. Various dotails are given with regard to the function and fruition of Karma. Some Karmas fruition in this life, some in the next and some in after lives. Then the doors Karmas are acts, speech and thought (Vide Abhidhammattha-saṅgaha, chapter v.). From the Dīgha-nikāya (iii, 230) we learn that Karma is of four kinds: i. Black, ii. White, iii. Black and-white, and iv. Not-black-and-white according to its respective consequences (See also Majjhima-nikāya, i, 389; Aṅguttara-nikāya, ii, 230 etc) The potency and fruition of Karma can be destroyed by following the eight-fold path prescribed by Buddha.

One has to pause a while and reflect on the close similarity between the details of Karma doctrine in the Yoga system and Buddhism. The divine intervention in the distribution of rewards and punishments cuts at the very root of the Karma theory as a cosmic law, and the genuineness of Karma doctrine in the Yoga school was already suspected. The doctrine of Karma has no *adequate place* in the Sāṃkhya enumeration of principles, even with

the addition of the theistic element as in the Yoga school. The definition of Īśvara in the Yogasūtras appears to be modelled on the definition of Arhat in Buddhism, and without hesitation one is tempted to say that the Yoga school borrowed the details of Karma theory through the Buddhistic source. even some of the technical terms have been the same, to wit a few: Kleśa, Saṃskāra, Karmāśaya (it appears to me a hurried sanskritisation of Kammāsava) etc., and it is not abnormal, if the commentators on the Yogasūtras differed in interpreting some of these details for the reason that they had no definite tradition with the Yoga school to stand upon. And it was perhaps beyond their province to consult the Buddhistic sources and comment accordingly.

But has Buddhism at least the credit of orginality with regard to the Karma doctrine?. Its consistency in Buddhism taken as a whole is questioned even by the most sympathetic savants like Kern whom one cannot stand the temptation of quoting in this context. "If we suppose that the teaching of the founder of the order was free from mythology and the Karman theory, we get a system intelligible, self-consitent and perfectly apt to lead persons possessing a contemplative bent of mind, by means of a dignified and harmless solitary and cenobitic mode of life, to the blissful state of calm beatitude, called Nirvāṇa, a state only surpassed by the final Nirvāṇa or Parinirvāṇa, when all suffering is absolutely and for-ever at an end". (Kern: Manual of Indian Buddhism, p. 50.). This inconsistency has led certain scholars to trace the source from which Buddha probably adopted the Karma theory in his own system with necessary modifications. Dr. Keith suggests (See Keith: Buddhistic Philosophy, p 113.) Buddha's indebtedness with regard to Karma doctrine, to the Jaṭilas to whom Buddha showed some partiality by giving some concession to them about the period of Parivāsa (see Dutta: Early Buddhist Monachism, p. 179) before initiation in the order, because they were Kriyāvādins *i. e.*, they held the Karma doctrine comprising 'the spiritual efficacy of good deeds', Jaṭilas have not left any literature behind, and hence it is very difficult either to prove or to disprove Dr. Keith's conjecture. But we known from other sources that

the Jainas were Kriyāvādins; and if we can conjecture that Buddha possibly borrowed the doctrine from the Jatilas because they were Kriyāvādins, there is ground for investigating whether his indebtedness might be to Jainism which too was a Kriyāvada and the antiquity of which over Buddhism is an undisputed fact now.

(*To be Continued*).

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June, September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage) and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be ccepted for publication. The rates of charges may be ascertained .n application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5 In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7 Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M R. A S,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B* —Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

---:*:---

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित	...	२।) (मू० कम कर दिया गया है)
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म किरण	...	१)
	,, २य तथा ३य सम्मिलित किरणें	...	१।)
(४)	,, २य भाग की चारों किरणें	...	४)
(४)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची		॥) (यह अर्द्ध मूल्य है)
(५)	भवन की संगृहीत अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	।॥)

प्राप्ति-स्थान —

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)।

प्रकाशक तथा मुद्रक—बाबू देवेन्द्रकिशोर जैन,
श्रीसरस्वती प्रिंटिङ्ग वर्क्स लि०, आरा।

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर
The
Jaina Antiquary
An Anglo-Hindi Quarterly Journal

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ३] [किरण २

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४||) एक प्रति का १|)

विक्रम-सम्वत् १९९३

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

श्रवणबेलगोलस्थ गोम्मटेश्वर की पार्श्ववर्तिनी यक्षी

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ३ | सितम्बर, १९३६ । भाद्रपद वीर नि० २४६२ | किरण २

जैन-संस्कृत-वाङ्मय

(ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

संस्कृत शब्द के प्रयोग से ही यह बात स्वयं विदित हो जाती है कि बहुत पहले हमारे भारतवर्ष में एक प्रकार की भाषा प्रचलित थी और वही पीछे संस्कार को प्राप्त होकर संस्कृत भाषा के रूप में प्रतिफलित हुई। सु-प्राचीन युग में म्लेच्छ भाषाओं के सम्मिश्रण से अपनी भाषाओं को विशुद्ध रूप में सुरक्षित रखने के लिए आर्यों ने सफल प्रयत्न किया था। फल-स्वरूप वर्त्तमान संस्कृत भाषा का जन्म हुआ। ऋक् मंत्रों के पहले संस्कृत एवं प्राकृत भाषाएं किस रूप में थीं, इस बात को जानने के लिए हमलोगों के पास कोई साधन नहीं है। ऋक् मंत्र के प्रकाशन-काल से वैदिक संस्कृत का निदर्शन हमें मिलता है। किन्तु उस समय की प्राकृत भाषा को जानने के लिये कुछ भी

सामग्री उपलब्ध नहीं दीखती। वैदिक युग के नष्ट होने के बाद लौकिक संस्कृत-भाषा प्रचार में आई। विद्वानों की राय है कि वैदिक युग की वह सुप्राचीन भाषा संस्कृत के नाम से प्रचलित नहीं थी। वाल्मीकि-काल से ही सर्व-प्रथम संस्कृत भाषा का प्रयोग और वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषाओं का पार्थक्य ज्ञात होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाणिनि के पहले भी लौकिक संस्कृत-भाषा के कई व्याकरण रचे गये थे। क्योंकि व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन के बिना संस्कृत-भाषा में निष्णात होना असम्भव है।

पूर्वोक्त कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि दो प्रकार की संस्कृत-भाषाएं देखने में आती हैं—एक वैदिक दूसरी लौकिक। ऋक्, यजु, साम, अथर्व ये चार वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषद् वैदिक संस्कृत भाषा में हैं। परवर्त्ति-काल के सूत्र-ग्रन्थ, संहिता-ग्रन्थ, इतिहास, पुराण, काव्यादि लौकिक संस्कृत में रचे गए हैं। लौकिक संस्कृत साहित्य में व्याकरण का बन्धन अधिक सुदृढ़ है। परन्तु वैदिक भाषा व्याकरण के नियमों से उतनी आबद्ध नहीं है। विद्वानों का कथन है कि लौकिक संस्कृत भाषा की उन्नति के साथ ही साथ वैदिक शब्दों की विभक्तियों में अधिक परिवर्त्तन हुए। लौकिक संस्कृत में अनेक वैदिक शब्दों के प्रयोग का सर्वथा अभाव है। विभक्तियां भी विशेष रूपान्तर को प्राप्त हुई हैं। शब्दों में से भी अनेक शब्द भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हैं। इस परिवर्त्तन से वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत में विशाल परिवर्त्तन हुआ। फलस्वरूप संस्कृत में विशेष पाण्डित्य प्राप्त करने पर भी वैदिक संस्कृत एक प्रकार से अबोध्य रह जाती है। अर्थात् लौकिक संस्कृत के मर्मज्ञ भी वैदिक संस्कृत के अर्थों को नहीं लगा सकते हैं। पारदर्शी शिक्षक एवं भाष्य की सहायता के बिना वैदिक शब्दों का अर्थ जानना सुलभ नहीं। साथ ही विद्वानों का यह भी कहना है कि वैदिक-संस्कृत में अपशब्दों का सम्मिश्रण बहुत रहा। संस्कृत शब्दों की संख्या भी अधिक थी, इसीलिये परवर्त्ति-वैयाकरणों ने व्याकरण-सम्बन्धी अनेक नियमों से भाषा को सुन्दर एवं पूर्णाङ्ग बनाने के लिये बहुत से शब्दों को कम कर दिया। उस युग में स्त्रियां, विदूषक, नौकर आदि प्राकृत भाषा ही बोलते थे। यह बात प्राक्कालीन कवियों के नाटकों से स्पष्ट हो जाती है। इसका सारांश यह निकला कि अशिक्षित-वर्ग संस्कृत नहीं बोलता था; या यों कहिए संस्कृत-भाषा शिक्षितों की भाषा थी। उस जमाने में साधारण जनता भिन्न भिन्न प्राकृत भाषा बोलती थी। इसी से प्राकृत में अनेक भेद दृष्टिगत होते हैं।

भारतवर्ष के अनेक स्थानों में पालि-भाषा भी प्रचलित थी, बल्कि बुद्ध और महावीर के बहुत पहले ही परिपुष्ट इस पालि-भाषा ने यहां के कई स्थानों में मातृभाषा का रूप धारण कर लिया था। यह भाषा भी एक प्रकार की प्राकृत ही है। गौतम के समय में

भी इस भाषा का प्रचार काफी रहा। उन्होंने तथा उनके शिष्यों ने मातृभाषा के रूप में प्रचलित इसी पालिभाषा में उपदेश दिया था। इस अपेक्षा से हम कह सकते हैं कि बौद्ध-काल में संस्कृत भाषा का गौरव कुछ कम हो गया था। अशोक ने भी संस्कृत भाषा को छोड़ मातृभाषा में ही अपने अनुशासनों को लिपिबद्ध करने की आज्ञा दी थी, जो आज विभिन्न स्थानों में प्राप्त हो रहे हैं। भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में प्राप्त होनेवाले इन अनुशासनों से भी स्थानभेद से प्राकृत भाषा की भिन्नता व्यक्त हो जाती है।

विद्वानों की ऐसी राय है कि शाक्य सिंह के पहले इस देश में संस्कृत भाषा का यथेष्ट प्रचार था। जनता अधिक संख्या में संस्कृत भाषा बोलती और लिखती थी। पत्र-व्यवहार आदि सभी कार्य संस्कृत भाषा में ही होते थे। शाक्य सिंह के आविर्भाव के बाद भी भारत में संस्कृत भाषा का प्रचार सर्वथा कम नहीं हुआ; बल्कि बाद के बौद्धाचार्यों ने संस्कृत व्याकरण, कोष आदि ग्रन्थों को रचा कर तन्मूलक संस्कृत भाषा के सम्मान की रक्षा की। बौद्ध-युग में भी राजकीय कागज, शिला-लेखादि संस्कृत भाषा में ही लिखे जाते थे। बौद्ध अपने दर्शन-प्रचार के लिये एवं अन्य दर्शनों के खण्डन के लिए अवश्य संस्कृत सीखते थे। यहाँ तक संस्कृत साहित्य के इतिहास का परिचय हुआ।

अब मैं पाठकों का ध्यान प्रकृत विषय की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। आज तक के उपलब्ध जैन ग्रन्थों में श्रीकुन्द-कुन्दाचार्य के ग्रन्थ ही सर्व-प्राचीन हैं। ऐतिहासिक विद्वानों का मत है कि उक्त आचार्य विक्रमीय प्रथम शताब्दी के हैं। इसके पूर्व अर्थात् ऋषभ तीर्थंकर से लेकर भद्रबाहु आदि श्रुतज्ञानियों के काल तक जैनागम गुरु-परम्परा से कण्ठस्थ ही रक्षित था और पीछे भूतबलि और पुष्पदन्त ने कालदोष से नष्टावशेष उस आगम को लिपिबद्ध करने का मार्ग दिखलाया—यों दिगम्बरीय श्रुतावतारादि ग्रन्थों का कहना है।* परन्तु दुर्भाग्यवश उल्लिखित पुष्पदन्त तथा भूतबलि की कृतियां भी मूल-रूप से अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। पूर्वोक्त कुन्दकुन्दाचार्य की सभी कृतियां प्राकृत भाषा में हैं। इस लिए प्रथम शताब्दी के इन्हीं कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य श्रीउमास्वाति को ही जैन संस्कृत साहित्य का आदि कवि मानना पड़ेगा। इनके बाद क्रमशः समन्तभद्र एवं सिद्धसेन आदि सैकड़ों उद्भट जैन आचार्यों ने जन्म लेकर अपने पवित्र ज्ञान के बल से संस्कृत साहित्य की यथेष्ट सेवा की। जैन साहित्य आरम्भ में केवल धार्मिक रूप को ही

---

* श्वेताम्बर कहते हैं कि द्वादशांग रूप ज्ञान प्रायः ईस्वी छठी या सातवीं शताब्दी में प्राप्त था और उसके आधार से क्षमाश्रवण देवर्द्धिगणिने उसको व्यवस्थित और संशोधित करके ग्रंथ बद्ध कर लिया था, इसलिये वह द्वादशांग ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं।

धारण किए हुए था। किन्तु पीछे उसने क्रमशः अन्यान्य विभागों में भी काफी उन्नति की। न्याय और अध्यात्मविषय में यह वाङ्मय अधिक उच्च विकाश तथा क्रम को प्राप्त है। प्रथम शताब्दी के श्रीउमास्वाति, दशम शताब्दी के श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती, उसी शताब्दी के श्रीअमृतचन्द्रसूरि, ११ वीं शताब्दी के शुभचन्द्राचार्य जैसे अध्यात्मविशारद; तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के श्रीसमन्तभद्र, लगभग इसी समय के श्रीसिद्धसेन, आठवीं शताब्दी के श्रीभट्टाकलङ्क, नवमी शताब्दी के श्रीविद्यानन्द जैसे नैयायिक; आठवीं शताब्दी के श्रीजिनसेन, नवमी शताब्दी के श्रीगुणभद्राचार्य जैसे पुराण-लेखक इस भारत भूमि में बहुत कम होंगे। जैन नैयायिकों में से अनेकों ने न्याय ग्रन्थों की टीका भी रची है। श्रीसतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे पण्डित का कहना है कि मध्ययुग में जैन साहित्य ने बहुमूल्य काम किया है। इस काल में न्याय-दर्शन के नाम से जितने ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं वे सभी जैन और बौद्धों के परिश्रम के फल-स्वरूप हैं। आधुनिक प्रणाली को लेकर चौदहवीं शताब्दी में गणेश उपाध्याय के द्वारा प्रकाश में आए हुए 'नव्य-न्याय' नामक ब्राह्मणों के न्याय ग्रन्थ जैन और बौद्धों के मध्य-कालीन न्याय की नींव से ही निकले हुए हैं।

व्याकरण एवं कोष-रचना के विभाग में भी श्रीशाकटायन, पूज्यपाद, वर्द्धमान, हेमचन्द्र, धनंजय, श्रीधर आदि आचार्य अधिक प्रसिद्ध हैं। गणितशास्त्र में तो नवमी शताब्दी के श्रीमहावीराचार्य का 'गणितसार' विशेष उल्लेखनीय है। कोलम्बीय (ceylone) विश्वविद्यालय के गणिताध्यापक डेविड यूजन स्मिथ (David Eugene Smith) ने लिखा है कि भारतवर्ष के सम्पूर्ण गणित साहित्य में यह ग्रन्थ अधिक पाण्डित्य पूर्ण है। इससे पाठक भली भाँति समझ सकते हैं कि जैन संस्कृत साहित्य कितना विपुल, विस्तीर्ण एवं समर्थ है। इसमें प्रत्येक विषय के यथेष्ट ग्रन्थ रचे गए हैं। जैन ग्रन्थों की विषय-प्रतिपादन-शैली आदर्श को लिये हुए है। इसी से भिन्न भिन्न विषयों में रचे गए ग्रन्थों को देख कर पाश्चात्य या पौर्वात्य बहुतेरे मान्य विद्वान् इसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। जैन वाङ्मय के सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार विभागों में विभक्त हैं। गणित शास्त्र में चन्द्र-प्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति, पूर्वोक्त गणितसार आदि ग्रन्थ अपूर्व हैं। इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय, पार्श्वाभ्युदय, यशस्तिलक, चम्पू, अमरुशतक, नेमिनिर्वाण, तिलकमंजरी, चन्द्रप्रभकाव्य, हीरसौभाग्य, हम्मीर-महाकाव्य, आदि काव्य ग्रन्थ; अष्टसहस्री, प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड, श्लोक-वार्त्तिक, सम्मति-तर्क, न्यायविनिश्चय, न्यायकुमुद-चन्द्रोदय, स्याद्वाद-रत्नाकर, स्याद्वाद-मंजरी, खंडन-खाद्य, जैनतर्कवार्त्तिक आदि न्याय ग्रन्थ; पञ्चाध्यायी, राजवार्त्तिक, अध्यात्म-सार, अध्यात्मकल्पद्रुम आदि दर्शन एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ; महापुराण, पाण्डवपुराण,

हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि पुराण ग्रन्थ; शाकटायनन्यास, अमोघवृत्तिन्यास, सिद्धहेमचन्द्र, जैनेन्द्रन्यास, गणरत्नमहोदधि आदि व्याकरण ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं। इस प्रकार जैन न्याय, जैन तत्वज्ञान आदि अन्यान्य विषय के गद्य-पद्यमय अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ जैन संस्कृत वाङ्मय में भरे पड़े हैं इस बात को पाठक न भूलें। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, प्रो० हर्टल जैसे पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने जैनन्याय, जैन व्याकरणादि की यथेष्ट प्रशंसा की है। जैन साहित्य कला में भी पीछे नहीं है। मेघदूत पर पार्श्वाभ्युदय, शीलदूत, नेमिदूत, इन्दुदूत, चेतोदूत आदि, माघपर देवानन्दाभ्युदय, नैषध पर शान्तिनाथ-चरित्र, इसी प्रकार भक्तामर और कल्याणमन्दिर स्तोत्र पर भी कई समस्यापूर्त्ति* कृतियाँ मौजूद हैं। दूतकाव्य साहित्य में भी यह पीछे नहीं है। उक्त पार्श्वाभ्युदय, शीलदूत, इन्दुदूत, नेमिदूत, चेतोदूत के अतिरिक्त पवनदूत, मनोदूत जैन-मेघदूत, रथाङ्ग (चक्रवाक) दूत, चन्द्रदूत, सिद्धदूत, उद्धवदूत, देवदूत आदि रचनायें इसके लिये पर्याप्त उदाहरण हैं।† द्विसंधान काव्य के जोड़ का ग्रन्थ राघवपाण्डवीय ब्राह्मण संस्कृत साहित्य में है अवश्य, इसके सिवाय भी इस जैनवाङ्मय में सप्त-संधान एवं चतुर्विंशति-संधान ये दोनों काव्य भी श्लेषालङ्कार की अनुपम तथा आश्चर्यकारी कृतियां हैं। हेमचन्द्र का 'द्वयाश्रय' काव्य भट्टि काव्य से न्यून नहीं है। सिद्धर्षि की 'उपमिति-भवप्रपञ्च-कथा' अत्युच्च श्रेणी का एक रूपक काव्य है। इसे जॉनबायरन (Jhon Byrone) के 'पिलग्रिमज प्रोग्रेस' (Pilgrimage Progress) ग्रन्थ से तुलना की जा सकती है। 'हिन्दी विश्वकोष' के सम्पादक श्रीनगेन्द्रनाथ वसु आदि की ऐसी अभिमति है कि कवित्वशक्ति में जिनसेन का काव्य कविश्रेष्ठ कालिदास की कृतियों से कुछ कम नहीं है। इसी प्रकार सोमदेव का गद्य बाण की कादम्बरी से कुछ न्यून नहीं है। जिन ग्रन्थों में अपना धार्मिक पक्षपात कुछ भी नहीं है ऐसे भी ग्रन्थ जैन वाङ्मय में अनेक हैं। 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' इसी श्रेणी का ग्रन्थ है। भारतीय-कथा साहित्य की उत्पत्ति एवं रक्षा में जैनियों ने पर्याप्त परिश्रम किया है। संस्कृत-साहित्य के अद्वितीय रत्न 'पञ्चतन्त्र' की रक्षा जैन आचार्य पूर्णभद्र की 'पञ्चाख्यायिका' नामक ग्रन्थ के द्वारा ही हुई है। यथार्थतः कथाओं के द्वारा साधारण जनता में धार्मिक सिद्धान्त को प्रचार करने की सु-प्रणाली जैसी जैनियों में थी वैसी भारतीय अन्य सम्प्रदायों में नहीं थी—यों

* इस साहित्य के विशेष परिचय के लिये 'भास्कर' के इसी किरण (भाग ३ किरण २) में अन्यत्र प्रकाशित श्रीयुत अगरचन्द जी नाहटा का "जैन-पादपूर्त्ति-काव्यसाहित्य" शीर्षक लेख देखें।

† इस विषय में अधिक जानकारी के लिये 'भास्कर' भाग २, किरण २ एवं भाग ३, किरण १ में प्रकाशित चिन्तामणि चक्रवर्ती एवं नाहटा जी के लेख देखें।

अनुभवी विद्वानों का कहना है। इसी लिए जैन साहित्य का कथा-भाग अधिक विशाल है। श्रीयुत हर्टल साहिब का कहना है कि इन कथाओं में से बहुत सी कथाएं पूर्व में भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि शनैः शनैः प्रपञ्च के अन्यान्य भागों में फैल गई थीं।*

प्राक्कालीन उदार जैन कवियों ने साम्प्रदायिकता को त्याग कर जैनेतर साहित्य में जो कृति उन्हें विशेष उपयोगी एवं प्रशंसार्ह मालूम हुई उसे प्रेम से अपनाया। इस उदारता के फल-स्वरूप पाणिनि, मुग्धबोध, काशिकान्यास, कविकल्पद्रुम, सिद्धान्तचन्द्रिका, सारस्वत, आदि व्याकरण ग्रन्थों; वृत्तरत्नाकर, श्रुतबोध आदि छन्द ग्रन्थों; काव्यालङ्कार, काव्य-प्रकाश, विदग्ध-मुखमण्डन आदि अलङ्कार ग्रन्थों; कादम्बरी, भट्टि, रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, नैषध, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध, नलोदय, राघवपाण्डवीय आदि काव्यग्रन्थों; अनर्घराघव, प्रबोधचन्द्रोदय, राघवाभ्युदय, दमयन्तीचम्पू, नलचम्पू आदि नाटक और चम्पू ग्रन्थों; तर्कभाषा तर्करहस्यदीपिका, न्यायकन्दली, न्यायप्रवेश, न्यायसार, न्यायालङ्कार, न्यायबोधिनी आदि न्यायग्रन्थों; योगरत्नमाला, रसचिन्तामणि, वैद्यकसारसंग्रह, वैद्यकसारोद्धार, वैद्यकवल्लभ आदि वैद्यक ग्रन्थों पर जैन आचार्य प्रणीत टीकाएं उपलब्ध होती हैं।† मेघदूत के पद्यों की समस्यापूर्त्ति कई जैन कवियों ने की है। बौद्धों का 'धर्मबिन्दु' नामक उच्च न्याय ग्रन्थ जैनाचार्य मल्लवादि की टीका से ही भारत में रक्षित है। भास के 'शैयन्यायागार' नामक ग्रन्थ पर जयसिंह सूरि-कृत टीका सर्वोत्तम है। ये कृतियां ब्राह्मण एवं बौद्ध ग्रन्थों के प्रति जैन विद्वानों के द्वारा की गई उदारता के कुछ उदाहरण-स्वरूप हैं। पर खेद है कि जैन संस्कृत साहित्य के प्रति इसी प्रकार की उदारता दरसाने में प्राचीन जैनेतर विद्वानों ने मुंह मोड़ लिया है।

वैद्यक विषय में औषधकल्प, सिद्धान्तरसायनकल्प, भिषक्प्रकाश, जगत्सुन्दरी, कनकदीपक, कल्याणकारक, निघण्टु, रससार, रसतन्त्र, वैद्यसार, योगचिंतामणि आदि मौलिक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। ज्योतिष विषय में त्रैलोक्यप्रकाश, मेघमहोदय, यन्त्रराज आदि भी कम महत्त्व के नहीं हैं। अर्थ-शास्त्र में नीतिवाक्यामृत एक अनूठा रत्न है। मंत्रशास्त्र में विद्यानुशासन, ज्वालिनीमत, ज्वालिनीकल्प, भैरवपद्मावतीकल्प, प्रतिष्ठाकल्प, चक्रेश्वरीकल्प, सूरिकल्प, श्रीविद्याकल्प, वर्द्धमानविद्याकल्प प्रभृति भी आदर्श ग्रन्थ हैं। संगीत में संगीतसमयसार‡, सुभाषित में सुभाषितरत्नसन्दोह सुभाषितावली, अलंकार में

---

* इस विषय पर एक स्वतन्त्र लेख अपेक्षणीय है।

† इस विषय में अधिक जानकारी के लिये 'भास्कर' भाग २, किरण १ में प्रकाशित स्व० बाबू पूरणचन्द्र जी नाहर का 'धार्मिक उदारता' शीर्षक लेख देखें।

‡ यह ग्रन्थ "Trivendrum Sanskrit series" में प्रकाशित हो चुका है।

काव्यानुशासन, अलङ्कारचिन्तामणि, वाग्भटालङ्कार, छन्द में छन्दोऽनुशासन, रत्नमंजूषा आदि कृतियाँ बहुमूल्य समझी जाती हैं। इसी प्रकार कानूनी साहित्य में अर्हन्नीति, भद्रबाहुसंहिता, वर्द्धमाननीति, इन्द्रनन्दिसंहिता आदि एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों में तीर्थ-कल्प, परिशिष्टपर्व, प्रबन्धचिंतामणि, प्रभावकचरित्र, कुमारपालप्रतिबोध, कर्मचंद्रप्रबंध, तेजपालवस्तुपालचरित्र आदि अपने अपने विषय के जागरूक निदर्शन हैं।

मैंने यह जैन संस्कृत वाङ्मय का केवल दिग्दर्शन कराया है, क्योंकि यथार्थ बात दरसाने में इस लेख के विपुलकाय हो जाने की संभावना थी। इसी प्रकार मैं जैनप्राकृतवाङ्मय, जैनकन्नडवाङ्मय जैनतामिलवाङ्मय एवं जैनहिन्दीवाङ्मय पर भी भास्कर की भिन्न भिन्न किरणों में यथावकाश प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा।

बड़े खेद की बात है कि अभी तक जैन संस्कृत साहित्य पर कोई उल्लेख-योग्य सर्वाङ्ग-पूर्ण पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला है अवश्य। फिर भी वह सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। इन पश्चिमीय विद्वानों के द्वारा लिखी हुई पुस्तकों में विन्टरनिट्ज़ की "A history of Indian Literature" नामक पुस्तक विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने भी अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में विशेषतया श्वेताम्बर साहित्य ही पर प्रकाश डाला है। बहुत कुछ संभव है कि इन महाशय को दिगम्बर जैन ग्रन्थ अध्ययनार्थ मिले ही नहीं हों। क्योंकि दिगम्बर साहित्य की अपेक्षा श्वेताम्बर साहित्य अधिक प्रचार एवं प्रकाश में आया है। एतत्सम्बन्धी हिन्दी पुस्तकों में हिन्दु-विश्वविद्यालय, काशी के दो अध्यापकों के द्वारा सम्पादित "संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" नामक पुस्तक विशेष दर्शनीय है। इसमें भी इन लोगों ने कुछ ही जैन ग्रन्थों का परिचय दिया है। साथ ही साथ इस में कई त्रुटियाँ भी रह गयी हैं। गुजराती में श्वेताम्बर भाई मोहन लाल दलीचन्द देशी द्वारा लिखित "जैन साहित्यनों संक्षिप्त इतिहास" पठनीय है। पुस्तक विद्वत्तापूर्ण है। परन्तु इसमें भी श्वेताम्बर साहित्य पर ही प्रकाश डाला गया है। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि दिगम्बर विद्वानों ने इस ओर कुछ उल्लेख-योग्य कार्य नहीं किया है। हाँ कुछ विद्वानों की कृपा से दस बीस ग्रन्थकर्त्ता और उनकी कृतियों का परिचय यत्र तत्र प्रकट हुआ है अवश्य। किन्तु इससे क्या होनेवाला है। सावकाश विद्वानों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। एक शृङ्खलाबद्ध जैनवाङ्मय का इतिहास प्रकाशित होने की परमावश्यकता है।

वैशाली

(ले० श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन)

वैशाली प्राचीन भारत का सु-प्रख्यात नगर था। उसे विशाला भी कहते थे। वह एक समृद्धिशाली महानगर था। उसकी विशालता और महत्ता ही उसके नामकरण का हेतु थी। वह यथानाम तथा गुण था। जैन-धर्म का उससे खास सम्बन्ध रहा है।

वैशाली का जन्म कैसे हुआ? इस विषय में हिन्दू व बौद्ध शास्त्र एक मत नहीं हैं। 'रामायण' में कहा गया है कि राजा इक्ष्वाकु के पुत्र विशाल थे, जिनका जन्म अप्सरा अलम्बुषा की कोख से हुआ था। इन्हीं राजा विशाल ने विशाला या वैशाली की स्थापना की थी[1]। 'विष्णुपुराण में राजा विशाल के पिता का नाम तृणबिन्दु लिखा है[2]। इसके विपरीत बौद्ध शास्त्रकार बुद्धघोष वैशाली का जन्म बनारस के राजा की एक सन्तान द्वारा हुआ बताता है। वह लिखता है कि बनारस के राजा की रनवास में एक मांसपिण्ड जना गया, जिसे रानियों ने राजा के भय से गङ्गा नदी में फिकवा दिया। उसे एक तापस ने निकाल लिया और उसमें से एक पुत्र व एक कन्या जन्मे। तापस ने उन्हें पाला और बड़े होने पर उन्हें गांववालों की सहायता से तीन सौ योजन प्रमाण वृजिदेश दिला दिया। उनके लिये उन्हों ने एक सुन्दर नगर भी वहीं बसाया। उन दोनों का परस्पर विवाह हो गया और उनकी सन्तान इतनी अधिक हुई कि तीन बार उस नगर को बढ़ाना (विशालीकता) पड़ा। इसी लिये उसका नाम वैशाली प्रसिद्ध हो गया[3]। जैन शास्त्र वैशाली के जन्म के विषय में क्या कहते हैं? यह हमें ज्ञात नहीं! किन्तु यह इन सब कथाओं से स्पष्ट है कि एक विशाल नगर होने के कारण ही इक्ष्वाकु-वंशी लिच्छवि क्षत्रियों द्वारा अस्तित्व में आकर वह विशाला या वैशाली नाम से प्रसिद्ध हुआ।

रामायण से वैशाली का अस्तित्व रामचन्द्र जी के समय में प्रमाणित होता है। 'रामायण' में उल्लेख है कि जब विश्वामित्र के साथ रामलक्ष्मण मिथिला को जा रहे थे

---

१ रामायण, बालकाण्ड अ० ४७।

२ क्षत्रिय क्लेन्स इन बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १६।

३ परमत्थ जोतिका खुद्दकपाठ (PTS) पृष्ठ १५८—१६०।

तब गङ्गा पार कर के उत्तरीय तट पर उन्हों ने वैशाली को देखा था। रामायण में उसे स्वर्ग के तुल्य आनन्द-प्रद और सुन्दर 'उत्तम पुरी' लिखा है। कहते हैं कि स्वयं इन्द्र वहां पर एक हजार वर्ष तक रहा था। उस समय वैशाली का राजा सुमति था।*

बौद्धग्रन्थों में वेशाली का सम्पर्क महात्मा गोतम बुद्ध से लिखा मिलता है। म० बुद्ध वहां एक से अधिक बार गये थे और उनके वहां अनेक शिष्य थे। म० बुद्ध का वैशाली से कितना अधिक प्रेम था यह इसी से प्रकट है कि जब वह अन्तिम बार वैशाली से विदा होने लगे तो घूम-घूम कर हसरत भरी निगाह से उसे देखते थे।†

किन्तु जैनधर्म का वैशाली से घनिष्ट सम्बन्ध था। केवल यह बात नहीं कि वहाँ के राजा लोग और अधिकांश प्रजा जैनधर्मानुयायी थे बल्कि स्वयं जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का वैशाली से निकट सम्बन्ध था। श्वेताम्बरीय 'सूत्रकृताङ्ग' (१, २, ३, २२) में भगवान् के विषय में लिखा है—

"एवं से उदाहु अणुत्तरमणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे अरहा नायपुत्ते भगवम् वेसालिये वियाहिये इति बेमि।"

भावार्थ—इस प्रकार पूज्य और वैशाली के प्रसिद्ध अधिवासी अर्हत् ज्ञातृपुत्र (महावीर) बोले जो असाधारण ज्ञान, असाधारण दर्शन और साथ साथ असाधारण ज्ञान-दर्शन के धारक थे।

'उत्तराध्ययन सूत्र' (६, १७) में भी ऐसा ही उल्लेख है। 'कल्पसूत्र' (११०) में लिखा है कि 'श्रमण भगवान् महावीर—एक विदेह, विदेहदत्ता के पुत्र, विदेह के निवासी और विदेह के एक राजपुत्र थे।' (समणेभगवम् महावीर........कुलचंडे विदेहे विदेहदिण्णे विदेहजच्चे विदेहसमले तिसंवासइं ......) 'भगवती सूत्र' की टीका में 'वेशालिक' का अर्थ भ० महावीर और विशाला को महावीर की जननी लिखा है। (२, १, १२, २) इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि भ० महावीर वैशाली और विदेह के निवासी थे।

किन्तु अन्यत्र जैनशास्त्रों में उन्हें कुण्डग्राम में जन्म लेने और वहीं रहने को लिखा है। और कुण्डग्राम को विदेह देश में बताया है। इससे ऐसा मालूम होता है कि वैशाली और कुण्डग्राम निकट अवस्थित थे। बौद्धों के कथन से मिलान करके डा० विमलाचरण ला यही लिखते हैं कि कुण्डग्राम वैशाली का अपर भाग (Suburb) था।‡ 'कल्पसूत्र'

* रामायण, अध्याय ४५ श्लोक ६।

† क्षत्रिय क्लेन्स०, पृष्ठ ४२—४६।

‡ "..... from a comparison of tho Buddhist and Jaina Scriptures, it appears that Kundagrama, the birth place of Mahavira, was a suburb of Vaisali."--Ksatriya Clans in Buddhist India, Page 36.

से प्रकट है कि महावीर स्वामी ने बारह चौमासे वैशाली में व्यतीत किये थे। बौद्धों के शास्त्रों से प्रकट है कि वहां जैनों की संख्या अत्यधिक थी। (विनयपिटक देखो)।

हम ऊपर बुद्ध घोष की एक कथा के अनुसार लिख चुके हैं कि वैशाली को तीन बार बढ़ाना पड़ा था जिसके कारण उसके तीन परकोटे हो गये थे। बौद्ध 'एकपण्णजातक' से भी इस बात का समर्थन होता है कि वैशाली तीन परकोटों से वेष्टित थी जिन में तीन दरवाजे गोपुरादि-सहित थे। 'तिब्बीय दुल्व' में लिखा है कि वैशाली के तीन भाग थे। पहले भाग में सात हजार घर थे जिनके शिखर सोने के थे; दूसरे मध्य भाग में १४ हजार घर थे और उनके शिखर चांदी के थे तथा अन्तिम भाग में तांबे के शिखरवाले २१ हजार घर थे। इनमें क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य कुलों के लोग रहते थे। डा० हार्णले साहब इन तीन भागों को (१) वैशाली (२) कुण्डपुर (३) और वणिय ग्राम बताते हैं। कुण्डपुर के पास ही सन्निवेश कोल्लग और कोटि ग्राम था, जहाँ ज्ञातृवंशी क्षत्रियों का अधिक आवास था।* इन सब बातों को देखते हुए कुण्डग्राम और वैशाली को पास पास मानना ठीक है।

दिगम्बर जैन शास्त्रों में हमें वैशाली का ऐसा कुछ वर्णन नहीं मिलता। दिगम्बर शास्त्रों में यद्यपि उसका नाम विशाला या वैशाली और उसका राजा चेटक श्वेताम्बर और बौद्धग्रन्थों के अनुसार लिखा है; परन्तु उसको सिन्धु देश में अवस्थित लिखा है।† राजा चेटक भ० महावीर के नाना थे और उनकी नगरी विशाला मगध देश के निकट होना स्वयं दिगम्बर और बौद्धशास्त्रों के कथन से प्रकट है। 'उत्तर पुराण' में लिखा है कि राजा

* Ibid, pp. 35—48.

† 'सिन्ध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशालीनगरेऽभवत्। चेटकाख्योऽतिविख्यातो विनीतः परमार्हतः ॥३॥

—उत्तरपुराण पर्व ७५।

'सध्युक्ते सिंधुदेशे वै विशाला नगरी मता। चेटकाख्यः पतिस्तस्य सुभद्रा महिषी मता।'

—विमलपुराण।

'अमन्सन्नेकदायातः सिंधुदेशे मनोहरे। सिंधुवेला समुद्रासिलेखशालोचट्टकप्रियं(?) ॥७॥
विशालाख्या पुरी तत्र वर्तते शालमंडिता। धनधान्यनिधानैश्च देवनाथस्य पूरिव ॥८॥
सामंतभवसंसेव्यश्चेटकः पतितां पुरीं। तस्याग्रमहिषी रम्या सुभद्रा सुखकारिणी ॥९॥

—श्रेणिकचरित्र।

'सिन्धुदेशे विशालाख्यपत्तने चेटको नृपः। श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥४॥

आराधना-कथा-कोष।

चेटक सेना लेकर राजगृह के बाहर उद्यान में रहा।* इससे प्रकट है कि दोनों राज्यों की सीमायें दूर नहीं थीं। मगध-सम्राट् अजातशत्रु का युद्ध वैशाली के लिच्छवियों से अनेक बार हुआ था। उनसे बचने के लिये अजातशत्रु ने पाटलि ग्राम (पटना) में एक किला बनवाया था। 'सुमङ्गलाविलासिनी' नामक बौद्धग्रन्थ में लिखा है कि गङ्गा नदी पर का एक घाट आधा अजातशत्रु का व आधा लिच्छवियों का था। वहीं पास के एक पर्वत में रत्नों की खान थी। लिच्छवि रत्नों का ले जाया करते। अजातशत्रु का इसी कारण उनसे युद्ध हुआ।† अतः स्पष्ट है कि वैशाली के राज्य की सीमा मगधराज्य से मिली हुई थी।

म० बुद्ध एक दफा जब राजगृह से वैशाली जाने लगे तो श्रेणिक बिम्बसार ने गङ्गा तक पाँच लीग फासले का रास्ता ठाक कराया था।‡ इस उल्लेख से राजगृह से वैशाली अधिक दूर नहीं थी, यह भी स्पष्ट हो जाता है।

तो फिर दिगम्बर जैन शास्त्रों में वैशाली को सिन्धुदेश में क्यों लिखा है। इसके दो उत्तर हो सकते हैं क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि वैशाली पश्चिम सीमा के सिन्धु प्रान्त में थी ही नहीं। पहला उत्तर यह कि दिगम्बर ग्रन्थकारों ने वृजि देश को सिन्धु देश माना हो और दूसरा यह कि उनको किसी तरह का भ्रम हुआ हो। भ्रम होना इसलिये संभव है कि मध्यकाल (८ वीं से १५ वीं शताब्दी) में अवन्ती के पास का देश सिन्धु नदी (छोटी) के कारण सिन्धु देश कहलाता था और उज्जैनी अपनी विभव-विशालता के कारण विशाला नाम से प्रसिद्ध रही थी।§ महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' में उज्जैनी को विशाला लिखा है। दिगम्बर जैन ग्रन्थकारों का आवास उज्जैनी की ओर अधिक रहा है। उन्होंने अपने समय में बहु प्रसिद्ध विशाला (उज्जैनी) को सिन्धु देश में पाकर वैसा लिख दिया हो तो आश्चर्य नहीं। उन्हें इस बात का ध्यान नहीं था कि उनके पासवाली विशाला से भिन्न भी एक विशाला पूर्वीय भारत में है।

एक बात यह भी है कि उनके समय में वैशाली नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी। चीनी यात्री ह्यूनत्सांग ने बनारस से आगे द्रोणस्तूप के दर्शन किये थे। और वहाँ से गंगा पार

* कदाचिच्चेटको गत्वा ससैन्यो मागधं पुरं। राजद्राजगृहं बाह्योद्याने स्थानपुरस्सरं॥

—उत्तरपुराण।

† क्षत्रिय-क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इण्डिया पृष्ठ १३०—१३२।

‡ बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ १२१।

§ अंग्रेजी जैनगजट, भाग २२ पृष्ठ २५३ व सं० जैन इतिहास, भाग २ खण्ड १ पृष्ठ ३४-३५।

करके २५ मील चल कर वह वैशाली पहुंचा था। वहाँ से पटना २० मील थी। ह्यु नत्सांग को वैशाली नष्टप्राय मिली थी। वह वैशाली की बुनियाद को ६०-७० ली (२० मील) परिधि की बताता है।* इसलिये हतवैभव पूर्वीय वैशाली को यदि मध्यकालीन लोग भूल गये और उसकी प्रतिस्पर्धा में फूली फली उज्जैनी को विशाला मान बैठे तो अनुचित नहीं। इसीलिये हमने अपने "संक्षिप्त जैन इतिहास" भाग २ खंड १ पृष्ठ ३४ में यही लिखा था कि दिगम्बर जैन ग्रन्थों में भ्रम से वैशाली को सिन्धुदेश में लिखा गया है।

आधुनिक अन्वेषण-द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि वैशाली का प्राचीन स्थान वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ ग्राम है। डा० ब्लाक साहब ने इस स्थान की खुदाई कराई थी। डॉ० ब्लाक को १२ वीं शताब्दी की एक पोथी में लिखा मिला था कि त्रिभुक्त्त वैशाली तारा तिरहुत में थी। तदनुसार बसाढ़ में खुदाई कराने पर ठीक वैसी रचना अवशेष मिली जैसी कि चीनी यात्री ने वैशाली की लिखी थी। वहाँ से कितनी ही मुद्रायें मिलीं जिनपर 'वैशाली' शब्द स्पष्ट पढ़ा गया है। ब्राह्मी लिपि का एक लेख ई० पूर्व २००—३०० का इस प्रकार पढ़ा गया है "वेसाली अनुसंयानक तकरे।" इनसे स्पष्ट है कि प्राचीन वैशाली मुजफ्फरपुर का बसाढ़ ग्राम है। किन्तु आज वैशाली का पूर्व वैभव लुप्त है—वह भारत माँ की छाती में छुपा पड़ा है। भगवान् महावीर का जन्म-स्थान भी वहीं था। विद्वान् कहते हैं कि बसाढ़ के पास अवस्थित 'बसुकुण्ड' नाम का गाँव कुण्डपुर है।† क्या कोई भक्तिवत्सल जैनी उस गाँव को खुदाई कराकर भगवान् के जन्म-स्थान का ठीक पता लगाने का उद्योग करके पुण्य और यश का भागी बनेगा?

---

* कनिंघम, ऐन्शियेन्ट जाग्रफी ऑव इन्डिया पृष्ठ ७१७।

† Cambridge History of India, I, p. 157.

जैनधर्म में योग

(ले० श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, सं० जैन-दर्शन)

योग का सम्बन्ध मोक्ष से है और भारतीय दर्शनकारों का उद्देश भी मोक्ष-प्राप्ति ही है, अतः जब अन्य दर्शनकारों ने अपने दर्शनों में किसी न किसी रूप में योग को स्थान दिया तब निवृत्ति-प्रधान जैन धर्म में उसे स्थान क्यों न मिलता? 'जिन' बनने के लिये तो योगाभ्यास की हो आवश्यकता है, क्योंकि योगी ही 'जिन' बन सकते हैं और 'जिन' ही सच्चे योगी होते हैं। जिन और योग के इस अविच्छिन्न सम्बन्ध की वजह से ही जैन धर्म में योग के लौकिक अङ्गों को कोई स्थान न मिल सका, यही कारण है कि उसके योगविषयक साहित्य में राजयोग के सिवा अन्य योगों का सूक्ष्म सा भी आभास नहीं मिलता।

योग शब्द का अर्थ

योग दर्शनकार* चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं, किन्तु जैनाचार्य समिति-गुप्ति-स्वरूप उस धर्मव्यापार† को योग कहते हैं, जो आत्मा का मोक्ष के साथ योग यानी सम्बन्ध कराता है।

योग के अङ्ग

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि।

यम और नियम

जैन-धर्म निवृत्ति-प्रधान है। यम और नियम भी निवृत्ति या निवृत्ति-परक प्रवृत्ति से गुथे हुए हैं अतः जैन धर्म में यम और नियम का अत्यन्त विशद और विस्तृत वर्णन पाया जाता है। *यम या संयम दो भागों में विभाजित हैं—प्राणि संयम और इन्द्रिय-संयम।* प्राणिसंयम में प्राणियों की रक्षा का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता है और इन्द्रिय-संयम में इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। गृहस्थ और मुनि अपने अपने पद के

---

* योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः १-२ यो० द०॥

† मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो १ योगविंशिका॥

अनुसार इस संयम का धारण करते हैं। गृहस्थदशा में संयम का अभ्यास किया जाता है अतः वे एक देश संयमी कहाते हैं, और पूर्ण संयमी संसारविरक्त वनवासी साधु होते हैं।

पाँच व्रतों का धारण, पाँच समितियों का पालन, चार कषायों का निग्रह, तीन दण्डों का त्याग और पाँच इन्द्रियों का जीतना यह सब संयम के अङ्ग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। मन, वचन और काय को दण्ड कहते हैं। पाँच इन्द्रियां तो प्रसिद्ध ही हैं।

आसन

समाधि के लिये मन की तरह काय को साधना भी आवश्यक है, अतः योगी को आसन लगाने का भी पूर्ण अभ्यास होना चाहिये। पर्यङ्कासन, अर्द्ध पर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ये ध्यान के योग्य आसन माने गये हैं। जिस आसन से योगी का मन खेदखिन्न न हो वही उपादेय है। आसन की स्थिरता के लिये शरीर का सुदृढ़ और बलिष्ठ होना भी आवश्यक है अतः आजकल के हीनसत्व प्राणियों के लिये दो ही आसन श्रेष्ठ बतलाये हैं—पर्यङ्कासन और कायोत्सर्ग।

प्राणायाम

श्वास और उच्छ्वास के साधने को प्राणायाम कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। तालुछिद्र के द्वारा वायु को खींच कर शरीर में भरना पूरक कहाता है। उस पूरक पवन को नाभि के मध्य में स्थिर रखना कुम्भक है और उसे धीरे धीरे बाहर निकालना रेचक कहा जाता है। यह वायुमंडल चार प्रकार का होता है—पृथ्वी-मंडल, जलमंडल, वायुमंडल और अग्निमंडल। इन चारो मण्डलों की पहचान बतलाते हुए 'ज्ञानार्णव' के कर्ता ने इन्हें 'अचिन्त्य' और अति दुर्लक्ष्य* बतलाया है और लिखा है कि, प्राणायाम के अत्यन्त अभ्यास से शायद कभी किसी योगी को इन सब का संवेदन हो सकता है। इन चारों पवनों से तथा इनके प्रवेश और निस्सरण से जय, पराजय, जीवन, मरण, हानि, लाभ आदि विषयक अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है। तथा वशीकरण, उच्चाटन, संमोहन आदि तांत्रिक प्रयोगों में भी इनका उपयोग होता है किन्तु—

इदमखिलं श्वसनभवं सामर्थ्यं स्यान्मुनेर्ध्रुवं तस्य।
यो नाड़िका-विशुद्धिं सम्यक् कर्त्तुं विजानाति ॥७१॥ ज्ञानार्णव ॥

---

* अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम्।
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात् कथंचन ॥ १७ पृष्ठ २८७

यह प्राणायाम-जन्य सामर्थ्य उसी योगी को प्राप्त होती है जो नाड़िका यानी वायु के संचार को शुद्ध करना जानता है अतः पूर्ण प्राणायाम के अभ्यासी को नाड़िका-शुद्धि भी जाननी चाहिये।

मुक्ति-साधना के अलावा लौकिक साधनाओं में प्राणायाम का अधिक उपयोग देखकर प्रायः जैनाचार्य उसका निषेध कर गये हैं। ज्ञानार्णव के कर्ता ने योग का अङ्ग मानकर प्राणायाम का सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन किया है अवश्य, किन्तु आगे चलकर वे भी उसका निषेध कर गये हैं।* वे कहते हैं—'प्राणायाम से मन विक्षिप्त हो जाता है अतः समाधि की सिद्धि के लिये प्रत्याहार करना प्रशंसनीय है'।

प्रत्याहार

इन्द्रिय और मन को अपने अपने विषयों में खींच कर अपनी इच्छानुसार किसी विषय में लगाने को प्रत्याहार कहते हैं। योगदर्शनकार कहते हैं कि, इस प्रत्याहार से इन्द्रियों की 'परमवश्यता' होती है। महर्षि व्यास इन्द्रियों के निरोध को अर्थात् शब्दादि विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध रोक देने को 'परमवश्यता' कहते हैं। किन्तु पातञ्जल योगदर्शन पर योगवृत्ति के रचयिता जैनाचार्य यशोविजय जी, अच्छे या बुरे शब्दादि विषयों के साथ कर्ण आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर भी तत्त्वज्ञान के बल से रागद्वेष के पैदा न होने को इन्द्रियों की परमवश्यता कहते हैं।

धारणा

जिसका ध्यान किया जाय उस विषय में मन को निश्चलरूप से लगा देने को धारणा कहते हैं। पूर्वोक्त पांच अङ्गों के द्वारा शरीर और इन्द्रियों को योगसिद्धि के अनुकूल बनाया जाता है। योगाभ्यास का प्रारम्भ तो धारणा से ही होता है।

ध्यान और समाधि

जैन साहित्य में योग, ध्यान और समाधि ये तीनों शब्द प्रायः समानार्थक पाये जाते हैं। योग के कहने से जैनवाङ्मय में ध्यान या समाधि का ही बोध होता है (ध्यान की

---

* सम्यक् समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विंदति ॥४
वायोः संचारचातुर्यमणिमाद्यंगसाधनम्।
प्रायः प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सतः ॥६
संविग्नस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ८॥ पृष्ठ १०५

चरमसीमा को ही समाधि कहते हैं अतः समाधि ध्यान से पृथक् वस्तु नहीं है) यही कारण है कि जैन ग्रन्थों में योग के अन्य अङ्गों का बहुत साधारण वर्णन पाया जाता है जब कि, ध्यान का खूब विस्तृत विवेचन किया गया है।

ध्यान के सम्बन्ध में चार बातें जानने योग्य हैं—ध्यान, ध्याता, ध्येय और फल। ध्यान—ध्येय वस्तु में एकाग्रता के होने को कहते हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञान की स्थिरता को ही ध्यान कहते हैं इसी से जैनधर्म में आत्मा के ज्ञानगुण की अवस्था-विशेष को ध्यान बतलाया है। योगसूत्र के 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इस लक्षण से भी वही बात ध्वनित होती है। ध्यान अच्छी बातों का भी किया जाता है और बुरी बातों का भी। इसी से आर्त और रौद्र को दुर्ध्यान कहते हैं और धर्म्म और शुक्ल को शुभ। इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, शारीरिक वेदना आदि सांसारिक व्यथाओं को कष्टजनक मानकर उनके दूर हो जाने के लिये जो संकल्प विकल्प किये जाते हैं उन्हें आर्तध्यान कहते हैं। जो प्राणी धर्म का सेवन करके उससे मिलनेवाले ऐहलौकिक और पारलौकिक सुखों की कल्पना में तल्लीन रहता है, जैनधर्म में उसे भी आर्तध्यानी कहा गया है।

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँचो पापों का सेवन करने में ही जिसे आनन्द आता है और इनके किये विना जिसे चैन नहीं मिलता वह रौद्रध्यानी कहा जाता है। कल्याण-मार्ग के पथिकों को यह दोनों ध्यान बिल्कुल न करना चाहिये।

शुभ ध्यान

धर्म से सम्बन्धित बातों का सतत चिन्तन धर्मध्यान कहा जाता है। जैसे, अपने और दूसरों के कल्याण की भावना, आत्मचिंतन, विषय-विराग आदि। इसके चार भेद हैं—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। जिसमें पार्थिवी, आग्नेयी श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती धारणाओं* के द्वारा अपनी आत्मा का ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं। पवित्र मंत्रों का अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। 'अर्हं' 'ॐ' 'णमो अरहंताणं' 'णमो सिद्धाणं' 'णमो आइरियाणं' 'णमो उवज्झायाणं' 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इत्यादि मंत्र ध्यान करने के योग्य हैं। रूपस्थ-ध्यान में जीवन्मुक्त अरहन्त परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है और रूपातीत-ध्यान में अष्टकर्म-निर्मुक्त चिदानन्दमय शुद्ध अमूर्तिक अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है।

जो ध्यान उज्ज्वल सफेद रंग के समान अत्यन्त निर्मल और निर्विकार होता है उसे

* धारणाओं के स्वरूप के लिये देखो ज्ञानार्णव, पृष्ठ ३८१ से।

शुक्लध्यान† कहते हैं। धर्मध्यान के बाद अत्यन्त शुद्ध चित्तवृत्ति का धारक, वज्र के समान सुदृढ़ शरीर का स्वामी मुनि ही इस शुक्ल ध्यान का ध्याता हो सकता है। आजकल के प्राणियों को शुक्लध्यान नहीं हो सकता।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

पहला शुक्लध्यान वितर्कवीचार और पृथक्त्व-सहित है इसलिये उसका नाम पृथक्त्व-वितर्कवीचार है। श्रुत अर्थात् शास्त्रज्ञान को वितर्क कहते हैं; अर्थ व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति को वीचार कहते हैं। अर्थात् जिस ध्यान में पृथक् पृथक् रूप से श्रुतज्ञान बदलता रहता है उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यान कहते हैं और जिस शुक्लध्यान में संक्रान्ति नहीं होती—एक रूप से ही स्थित रहता है उसे एकत्ववितर्कवीचार कहते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से ध्याता के चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है, उसे जैन-शास्त्रों में 'अर्हन्' कहते हैं। पहले के दो शुक्लध्यानों में संप्रज्ञात-समाधि होती है और 'अर्हन्' अवस्था में असंप्रज्ञात समाधि होती है।

'अर्हन्' पद को प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी महान् आत्मा इस पृथ्वी-तल पर विहार करते हैं और स्थान स्थान पर धर्मोपदेश देकर जगत् के जीवों को कल्याण के मार्ग में लगाते हैं। जब उनकी आयु एक अन्तर्मुहूर्त बाकी रह जाती है तब तीसरे सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यान का समय आता है। इस ध्यान में मनोयोग और वचनयोग का निग्रह करके काययोग की क्रिया को अत्यन्त सूक्ष्म कर दिया जाता है इसी से इसका नाम सूक्ष्मक्रिय है। समुच्छिन्नक्रिय नाम के चौथे शुक्ल-ध्यान में श्वास उच्छ्वास आदि कायिक क्रियाएँ समुच्छिन्न अर्थात् बिल्कुल नष्ट हो जाती हैं। इस ध्यान की भूमिका में विहरते ही यह आत्मा कर्ममल से निर्लिप्त होकर शुद्ध-बुद्ध बन जाता है और जन्म-मरण के चक्कर से निकल कर सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है।

ध्याता

इन ध्यानों के ध्याताओं का स्वरूप जानने के लिये जैन-शासन के चौदह आध्यात्मिक विभागों को जानना आवश्यक है, इन विभागों को 'गुणस्थान' के नाम से पुकारा जाता है। जैन-ग्रन्थों में इनका बहुत विस्तृत वर्णन है। यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा।

---

† निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ४, ज्ञा० पृष्ठ ४११
कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ६, ,, ,, ,,

१ *मिथ्यादृष्टि*—जब तक जीव की अन्तर्दृष्टि ठीक नहीं होती—वह आत्म और अनात्म के भेद का ठीक ठीक अनुभव नहीं करता—समस्त शास्त्रों का पारगामी होने पर भी तब तक वह मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

२ *सासादन-सम्यग्दृष्टि*—कुछ आन्तरिक कारणों से जिनकी सम्यग्दृष्टि दूषित हो जाती है वे प्राणी सासादन-सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं।

३ *सम्यग्मिथ्यादृष्टि*—जिनकी दृष्टि न सच्ची कही जा सकती है और न झूठी वे जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।

४ *सम्यग्दृष्टि*—आत्म और अनात्म के भेद को जो न केवल जानते ही हैं किन्तु उसका अनुभवन और मनन भी करते हैं उन सत्यनिष्ठ सम्यग्ज्ञानी पुरुषों को सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दृष्टि हुए बिना कोई भी जीव आगे के गुणस्थानों में आरोहण नहीं कर सकता। अतः इसे 'मोक्ष महल की पहली सीढ़ी' कहते हैं।

५ *देशविरत*—जो सम्यग्दृष्टि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच यमों को एक देश से पालता है उसे देशविरत कहते हैं।

६ *प्रमत्तसंयत*—जो पाँचों यमों को पूर्णतया पालन करते हैं उन संसार-विरक्त दिगम्बर साधु को प्रमत्तसंयत मुनि कहते हैं। इस गुणस्थान में पूर्णसंयम के साथ साथ कुछ प्रमाद भी रहता है।

७ *अप्रमत्तसंयत*—जब पूर्वोक्त साधु निष्प्रमाद होकर आत्मध्यान में लीन रहताहै तब उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

इस गुणस्थान से आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी: जिस श्रेणी में मोहनीय कर्म का क्रमशः समूल नाश किया जाता है उसे क्षपक श्रेणी कहते हैं और जिस श्रेणी में मोहनीय का समूल नाश नहीं किया जाता किन्तु उसकी शक्ति को दबा दिया जाता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं। उपशम श्रेणी में चार गुण स्थान हैं—आठवाँ, नवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ। क्षपक श्रेणी में भी चार गुणस्थान होते हैं—आठवां, नवाँ, दसवाँ और बारहवाँ। ये दोनों श्रेणियाँ ध्यानस्थ दशा में ही होती हैं।

८ *अपूर्वकरण*—इस गुणस्थान में जीवों के परिणाम प्रतिसमय अपूर्व अपूर्व होते हैं।

९ *अनिवृत्तिकरण*—इस गुणस्थान में जीवों के भाव पहिले से भी अधिक उन्नत और पवित्र होते हैं।

१० सूक्ष्मसांपराय—जिस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के २८ भेदों में से केवल सूक्ष्म-लोभ की सत्ता शेष रह जाती है उसे सूक्ष्मसांपराय कहते हैं।

११ उपशान्तकषाय—इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की शक्ति बिल्कुल उपशान्त कर दी जाती है। इस गुणस्थान में पहुँच कर जीव का पतन अनिवार्य है—क्योंकि मोहनीय कर्म की दबी हुई शक्तियाँ पुनः जागरित हो जाती हैं, इसी से उपशम श्रेणी मोक्ष का मार्ग नहीं मानी गई है।

१२ क्षीणमोह—इसमें मोहनीय का समूल नाश हो जाता है। क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले महात्मा दसवें गुणस्थान से बारहवें में पहुँच जाते हैं अतः पतन का मुख्य द्वार ग्यारहवाँ गुणस्थान उनके नहीं होता।

१३ सयोगकेवली—क्षीणकषाय मुनि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों घातिया कर्मों का नाश करके इस गुणस्थान में पहुंचता है। इस गुणस्थान में पूर्णज्ञान—जिसे जैन-वाङ्मय में केवलज्ञान कहते हैं—प्राप्त हो जाता है। अतः वह 'सर्वज्ञ' 'सर्वदर्शी' 'जीवन्मुक्त' 'अर्हन्' 'केवली' आदि नामों से पुकारा जाता है। और कर्मबन्ध के दो मुख्य कारणों में मोह और योग में से केवल योग रह जाता है अतः सयोगकेवली कहा जाता है।

१४ अयोगकेवली—जब जीवन्मुक्त केवली का योग भी नष्ट हो जाता है तब वह अयोग-केवली कहलाता है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने के कुछ ही क्षण बाद मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

संक्षेप में गुणस्थानों की यह आत्म-कथा है। विशेष जानने के लिये 'गोम्मटसार' आदि ग्रन्थराजों का आलोडन करना चाहिये।

उक्त चारों ध्यानों में से आर्तध्यान छठवें गुणस्थान तक हो सकता है। रौद्रध्यान पाँचवें तक होता है। धर्मध्यान सातवें तक होता है। उसके बाद केवल शुक्लध्यान ही होता है। आठवें से ग्यारहवें तक पृथक्त्ववितर्क, बारहवें में एकत्ववितर्क, १३ वें में सूक्ष्मक्रिय तथा चौदहवें में समुच्छिन्नक्रिय नामक शुक्लध्यान होते हैं।

ध्येय

यद्यपि ध्यान का स्वरूप बतलाते समय ध्येय का सामान्य उल्लेख किया जा चुका है। फिर भी उसके सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें जानने योग्य हैं। ध्येय चार प्रकार है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। 'अर्हं' आदि मंत्र नाम-ध्येय कहे जाते हैं। जैन तीर्थंकरों की

मूर्तियाँ स्थापनाध्येय में सम्मिलित हैं। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु यह पंच परमेष्ठी द्रव्यध्येय हैं। इनके गुण भावध्येय कहे जाते हैं। यह सब परावलम्बी ध्यान के ध्येय हैं। स्वावलम्बी ध्यान में केवल स्वात्मा का ही ध्यान किया जाता है। किन्तु समाधि में तो किसी भी ध्येय की आवश्यकता नहीं है, उसमें तो 'तवैकाग्र्यं समासाद्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'। पर प्रारम्भ में इतनी एकाग्रता और मनोनिरोध का हो सकना कठिन है, अतः—

स्वात्मानं भावयेत् पूर्वमैकाग्र्यस्य च सिद्धये।

'प्रारम्भ में एकाग्रता की सिद्धि के लिये स्वात्मा का ध्यान करना चाहिये'। यदि समाधि में समस्त कर्मजन्य विकारों से भिन्न चिदानन्दमय ज्ञानस्वरूप स्वात्मा का अनुभवन न हो सके तो उसे ध्यान नहीं कहा जा सकता। जिस समय योगी आत्मध्यान में एकतान हो जाता है उस समय बाहिरी वस्तुओं का रंच-मात्र भी प्रतिभास नहीं होता, जैनों की दृष्टि से यही दशा नैरात्मदर्शन* या अद्वैतदर्शन† के नाम से पुकारी जाती है।

फल

योग के बल से योगी को ज्ञान, श्री, आयु, नीरोगता, धैर्य आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती। ध्यान में तल्लीन साधु को देखकर क्रूर जीव शान्त हो जाते। ध्यानी पुरुष आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, निर्विषीकरण, उच्चाटन, निग्रह, अनुग्रह आदि अनेक लौकिक कार्यों को कर सकता है। सारांश यह कि, ध्यान के बल से सब कुछ प्राप्त हो सकता है—लौकिक भी और लोकोत्तर भी। किन्तु जैनधर्म में लौकिक फल की प्राप्ति के लिये योग की साधना करना निन्द्य समझा जाता है। पुराने समय में यदि किसी योगी को कोई ऋद्धि प्राप्त हो जाती और वह उसका उपयोग कर लेता तो वह योगी अपने पद से च्युत कर दिया जाता था—जैनपुराणों में इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। अतः मोक्षप्राप्ति के उद्देश से योग-साधना करना ही श्रेयस्कर है।

उपसंहार

जैन-योग-विद्या का यह संक्षिप्त परिचय है। विशेष जिज्ञासुओं को 'ज्ञानार्णव' योगविंशिका, योगसूत्र की उपाध्याय यशोविजय-कृत व्याख्या तथा योगदर्शन (हेमचन्द्र) आदि योगविषयक जैन-साहित्य का अवलोकन करना चाहिये।

---

* अन्यात्मभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः ॥ (?)
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यक् नैरात्म्यदर्शनम् ॥१७६॥

† आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम् ॥१७७॥ 'तत्त्वानुशासन'

वि० सं० १५३ की जैनमूर्त्ति

(ले०—श्रीयुत बाबू छोटेलाल जी जैन M.R.A.S.)

भास्कर भाग ३ किरण १ में दिल्ली के धर्मपुरा दिगम्बर जैन मन्दिर की वि० सं० १५३ की एक जैनमूर्त्ति का चित्र प्रकाशित हुआ था। इस चित्र का पूर्ण परिचय सम्पादक जी ने प्रकट नहीं किया है। इस प्रतिमा को स्वयं देख कर और इसकी जाँच पड़ताल कर इसका पूरा परिचय फिर कभी मैं प्रकट करूंगा। इस समय पाठकों के समक्ष इस मूर्त्ति के शिलालेख के समय पर ही अपना संक्षिप्त विचार प्रकट करता हूं।

लोगों में यह एक धारणा प्रचलित है कि जिन प्रस्तर मूर्त्तियों में कोई संवत् या लेख नहीं होता है उन्हें वे चतुर्थकालीन या भगवान् महावीर से पूर्वकाल की घोषित करते रहते हैं। इसी प्रकार कितनी ही अन्य मूर्त्तियों में, जिनमें सम्वत्-संख्या के कोई अंक या तो शिलालेखक की असावधानी से छुट जाते हैं या कहीं लोगों की अदूरदर्शिता के कारण केवल अन्त के दो अंक अंकित कर दिये जाते हैं; लोग उन्हीं दो या तीन संख्यांक प्रमाण समय को यथार्थ स्वीकार कर लेते हैं। पाठकों ने वृद्ध पुरुषों को प्रायः यह कहते सुना होगा कि "सम्वत् ५६ में अमुक घटना हुई थी"—यहां १८५६ या १६५६ के प्रथम दो संख्यांक को छोड़, बाद के दो संख्यांकों का व्यवहार किया।

लेखरहित मूर्त्तियों के निर्माण-काल को निर्धारित करने के साधन आज कल बहुत कुछ सरल हो गये हैं; पर तो भी यह कार्य्य विशेषज्ञों का है। इस विषय का विवेचन मैं किसी अन्य लेख में करूँगा।

इस दिल्लीवाली मूर्त्ति के नीचे के लेख की लिपि यह है—

अर्थात् "सं १५३ माघ सु १० चंद्रे।"

यदि इस सम्वत् को ठीक मान लिया जाय तो यह मूर्त्ति वि० की द्वितीय शताब्दी की ठहरती है और चित्र के नोट में भी यही प्रकट किया गया है, पर इस लेख पर विचार करने से यह मूर्त्ति वि० की सोलहवीं शताब्दी की प्रमाणित होती है।

वर्तमान समय में भारतवर्ष में नागरी आदि जितनी लिपियां प्रचलित हैं उन सब की जननी ब्राह्मी लिपि है और ब्राह्मी लिपि का अस्तित्व यहाँ खृष्टाब्दपूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर लगभग खृष्टीय चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मिलता है।

ब्राह्मी लिपि के परवर्ती काल में अर्थात् गुप्तों के शासन-समय में खृष्टीय चतुर्थ और पञ्चम शताब्दी में उत्तर भारत में 'गुप्त' लिपि प्रचलित थी; छठीं से नवीं शताब्दी तक की लिपि का नाम 'कुटिल' लिपि था और यह गुप्त लिपि का परिवर्तित रूप ही था। इसी 'कुटिल' लिपि से खृष्टीय दशवीं शताब्दी में हमारी नागरी लिपि का जन्म हुआ था और वर्तमान नागरी लिपि का रूप बारहवीं शताब्दी से मिलता जुलता है; पर खृष्टीय चौदहवीं शताब्दी से तो अब तक प्रायः ज्यों का त्यों चला आ रहा है।

यही अवस्था अंकों की है। हमारे अंक भी ब्राह्मी के अंकों से उत्पन्न हुए हैं; किन्तु इनके लिखने की प्रणाली दो प्रकार की उपलब्ध होती है। एक तो जैसी वर्त्तमान समय में प्रचलित है। दूसरी प्रणाली जो प्राचीन शिलालेखों में पायी जाती है, वह यह है कि १ से ६ तक के तो नव अंक हैं। फिर भिन्न भिन्न दहाई, सैकड़ा और हजार के भिन्न भिन्न चिह्न हैं। जैसे १५३ लिखने के लिये पहिले १०० का चिन्ह, फिर ५० का चिन्ह और फिर ३ का अंक लिखना पड़ता था।

यदि इस मूर्त्ति को वि० की द्वितीय शताब्दी की मान लेते हैं तो इस मूर्त्ति के लेख का रूप उस समय की (ब्राह्मी) लिपि में इस प्रकार होना चाहिये—

इससे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि यह मूर्त्ति वि० सं० १५३ की किसी प्रकार नहीं हो सकती। अस्तु यह मानना होगा कि इसका एक अंक शिला-लेखक की असावधानी से छूट गया है।

यदि इस संख्या का प्रथम अंक छूट जाना मान लेते हैं तो यह मूर्त्ति सं० ११५३ की ठहरती है और गणना के अनुसार वि० सं० ११५३ के माघ शुक्ला दशमी के दिन सोमवार की उपलब्धि भी होती है। पर वि० सं० ११५३ के लगभग की नागरी लिपि में इस लेख को लिखा जाय तो उसका रूप इस प्रकार होगा—

अस्तु यह मूर्त्ति सं० ११५३ की भी नहीं हो सकती। यदि इसके द्वितीय अंक का अभाव माना जाय तो इसका समय इन नव सम्वतों में से ही कोई होना चाहिये। अर्थात् १०५३, ११५३, १२५३, १३५३, १४५३, १५५३, १६५३, १७५३ और १८५३। इन सम्वतों में माघशुक्ल दशमी के दिन सोमवार केवल वि० सं० ११५३, १३५३, और १५५३ में पड़ता है। इनमें ११५३ पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। अवशिष्ट दो समयों में द्वितीय सं० १५५३ पर पीछे विचार करूंगा, अब रहा सम्वत् १३५३।

सम्वत् १३५३ का यह लेख इसलिये नहीं हो सकता कि इसमें 'चंद्रे' के 'च' का रूप इस समय से पीछे का है और 'ए' की मात्रा '◌े' भी व्यंजन के ऊपर न होकर पड़ी मात्रा के रूप में अर्थात् व्यंजन की बायीं ओर और यदि व्यंजन के ऊपर भी हो तो [illegible] इस प्रकार उस समय के शिलालेखों में देखी जाती है: किन्तु इस लेख में 'ए' की मात्रा इन दोनों प्रकारों से भिन्न और आज कल जैसी प्रचलित है, वैसी है।

यदि इसके तृतीय अङ्क का अभाव माना जाय तो यह मूर्त्ति इन दस सम्वतों में से किसी समय की होनी चाहिये अर्थात् १५०३, १५१३, १५२३, १५३३, १५४३, १५५३, १५६३, १५७३, १५८३, और १५९३। इनमें माघ शुक्ला दशमी के दिन सोमवार केवल वि० सं० १५५३ और १५७३ में पड़ता है। अतः इन दो सम्वतों में से यह मूर्त्ति किसी एक सम्वत् की हो सकती है।

यदि इसके अन्त का अङ्क छुट जाना मान लिया जाय तो यह मूर्त्ति १५३०, १५३१, १५३२, १५३३, १५३४, १५३५, १५३६, १५३७, १५३८, और १५३९ इन सम्वतों में से होनी चाहिये। किन्तु इन दस सम्वतों में से माघ शुक्ला दशमी सोमवार केवल सम्वत् १५३२ में पड़ता है इसलिये इस सम्वत् की भी यह प्रतिमा हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतिमा सम्वत् १५३२, १५५३ और १५७३ अर्थात् विक्रम की सोलहवीं शताब्दी की प्रमाणित होती है। यदि इस प्रतिमा को भले प्रकार देखकर इसकी परीक्षा की जाय तो इनमें से किसी एक ही समय को निश्चित करने में कठिनता न होगी। तो भी यदि गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय तो इसके अन्त के अङ्क के छुट जाने की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है। अस्तु यह प्रतिमा वि० सं० १५३२ की ही मालूम होती है। तदनुसार इसको अंग्रेजी ता० १६ जनवरी सोमवार सन् १४७५ होती है।

उत्तर भारत की जिन प्रतिमाओं में संवत् का नाम नहीं होता, वे मेरा जहाँ तक अनुभव है, विक्रम संवत् को ही सूचित करती हैं। यदि इस सम्वत् को शक-सम्वत् ही मान लिया जाय तो यह मूर्त्ति पूर्वोक्त तर्कानुसार, १०५३ ११५३, १२५३, १३५३, १४५३, १५५३, १६५३; १५०३, १५१३, १५२३, १५३३, १५४३, १५५३, १५६३, १५७३, १५८३, १५९३; १५१०, १५३१, १५३२, १५३४, १५३५, १५३६, १५३७, १५३८, और १५३९ इन संवतों में से किसी की होनी चाहिये। इन संवतों में माघ शुक्ला १० सोमवार, केवल शक सम्वत् १५२३, १५३३, १५३६ और १५६३ में पड़ता है। पर शक संवत् १५३३ में दशमी और एकादशी* सम्मिलित है इसलिये उस दिन प्रतिष्ठा होनी संभव नहीं है; कारण एकादशी और तिथिभंग है। अस्तु, यदि अवशिष्ट तीन सम्वतों में से ही किसी समय की यह मूर्त्ति है तो यह विक्रम की सप्तदश शताब्दी की होती है—तदनुसार विक्रम सं० १६५८ (२ फरवरी सन् १६०१) वि० सं० १६७१ (१० जनवरी सन १६१४) और वि० सं० १६९८ (११ जनवरी सन् १६४१) की यह प्रतिमा हो सकती है। पर यह समय इस मूर्त्ति के लिये बहुत पीछे का हो जाता है।

नोट—बा० छोटेलालजी का यह लेख महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है। जिस समय यह चित्र भास्कर की गत किरण में छपा था उस समय मेरा ध्यान इसकी लिपि की ओर नहीं गया था। इसी लिये इस विषय में कोई नोट नहीं दिया जा सका। बाबू छोटेलालजी ने इस लेख-द्वारा मेरा ध्यान इधर आकर्षित किया, एतदर्थ मैं आपका आभारी हूं।

के० बी० शास्त्री

---

* संवर्जयेत्त्रिद्विभुजं तथापि रुद्रामपि प्रांततिथिं विनेष्टं ॥ १८९

जयसेन-प्रतिष्ठापाठः।

जैनपादपूर्त्ति-काव्य-साहित्य

(ले० श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

जैन-साहित्य की विविध विशेषताओं में बहुसंख्यक पादपूर्त्ति-काव्यों का उपलब्ध होना भी एक है। क्योंकि जैनेतर साहित्य में ऐसे काव्यों का प्रायः अभाव सा ही है, सिद्धदूत-काव्य के अतिरिक्त (जिसका परिचय मैं अपने पूर्व लेख में दे चुका हूँ) ऐसा अन्य कोई काव्य अद्यावधि मुझे अज्ञात है। अतः इस लेख में ज्ञात जैनपादपूर्त्ति-काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है, आशा है प्रेमी पाठकों को रुचिकर और उपयोगी प्रतीत होगा।

पादपूर्त्ति की रचना का कारण

जो काव्य जितने उत्कृष्ट, मनोहर और प्रख्यात होंगे, उनका प्रभाव या आकर्षण उतना ही अधिक होना नितान्त स्वाभाविक है। ऐसे काव्यों से प्रभावान्वित होकर अनेक विद्वान् उनपर विशद-व्याख्या करके, उनके सदृश अन्य काव्य निर्माण करके उनके लोकव्यापी प्रभाव को व्यक्त करते हैं। पादपूर्त्ति-काव्यों का रचा जाना भी इन्हीं काव्यों के आकर्षण का परिणाम है। यह बात इस लेख के विवेच्य काव्यों से भलीभांति सिद्ध है।

रचयिता की योग्यता

पादपूर्त्ति काव्यों को निर्माण करना कोई साधारण कार्य नहीं, जिसे हर कोई कर सके। इस विशिष्ट कार्य में मूलकाव्य के रहस्य को हृदयङ्गम कर लेने के साथ साथ रचयिता में उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति, असाधारण पाण्डित्य, भाषा पर परिपूर्ण अधिकार, प्रखर प्रतिभा और कुशाग्रमेधा होने की नितान्त आवश्यकता होती है।

दुर्गमता

काव्य-रसिकों को यह विदित ही है कि मूलकाव्य की पदावलियों के भाव-सौकुमार्य, अर्थगाम्भीर्य, पदलालित्य आदि गुणों की रक्षा करते हुए उन्हीं पदावलियों को स्वनिर्मित निकष में ढालने में पद-पद पर कितनी कठिनाइयां और उलझनें उपस्थित होती हैं। इस दुर्गमता के भारी दलदल को पार कर उद्देश की सफलता प्राप्त करना उपर्युक्त गुणों के बिना नितान्त असम्भव है। प्रस्तुत निबंध में विवेच्य मेघदूत, माघ, नैषध आदि के पादपूर्त्ति-काव्यों में, मूल शाङ्गारिक काव्यों के चरणों को वैराग्यमय भावों में जो विलक्षण

ओतप्रोत और विचित्र संमिश्रण किया गया है यह हमारे कथन के आदर्श दृष्टांत और ज्वलंत-प्रमाण-स्वरूप कहा जा सकता है। इन काव्यों के अध्ययन से रचयिताओं की अपूर्व कुशलता और आदर्श सफलता का भलीभांति परिचय मिल जाता है।

सफलता की पराकाष्ठा

जो कवि मूल पदों के भावों के साथ अपने भावों का जितना अधिक सुन्दर संमिश्रण कर सकता है और ऐसे कार्य में सहज प्राप्त होनेवाली क्लिष्टता और नीरसता से अपने काव्य को बचा सकता है वह कवि उतनी ही अधिक मात्रा में सफल कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकता है। जिस पादपूर्त्तिकाव्य को पढ़ते समय काव्यमर्मज्ञ भी (पादपूर्त्ति का भान भूलकर) मौलिक उत्कृष्ट काव्य का रसास्वादन करने लगे, वहां निर्म्माता की सफलता की पराकाष्ठा हो जाती है। पार्श्वाभ्युदय आदि इसी के उज्ज्वल उदाहरण हैं। बल्कि कई काव्यां में तो मूल ग्रन्थ से भी पादपूर्त्ति उत्कृष्ट, सरस और मनोहर हुई है।

प्राचीनता और विकास

अद्यावधि इस प्रकार के जितने भी काव्य उपलब्ध हुए हैं, 'पार्श्वाभ्युदय' उन सब में प्राचीन है अतः ऐसे काव्यों के रचे जाने का आरंभ काल ८ वीं शताब्दी कहा जा सकता है। पर उसके बाद लगभग १५ वीं शताब्दी के पहले का कोई काव्य उपलब्ध नहीं है। १५ वीं, १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के काव्यां की संख्या उत्तरोत्तर वृद्धि पाकर १८ वीं शताब्दी में इसका पूरा विकाश हुआ ज्ञात होता है। २० वीं शताब्दी में तो पादपूर्तिमय काव्य, केवल गुरु-स्तुति-रूप ही रचे गये हैं। और वे भी भक्तामर और कल्याणमंदिर स्तोत्रद्वय-मात्र के ही समस्यापूर्ति-रूप हैं। इन सब में अधिकांश काव्य श्वेताम्बर विद्वानों के ही रचित हैं।

प्रस्तुत लेख में सहायक ग्रन्थ

इसी पत्र में प्रकाशित दूत काव्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण लेख पढ़ने के अनन्तर पादपूर्ति-काव्यों के सम्बन्ध में भी कुछ खोज-शोध कर के लिखने का विचार उद्भूत हुआ और तभी से एतद्विषयक ग्रंथों की खोज प्रारंभ की। प्रस्तुत लेख उसी शोध का तुच्छ परिणाम है। इसके लिखने में प्रो० हीरालाल रसिक लाल कापड़िये के सम्पादित (१) भक्तामर कल्याणमंदिर (२-३) काव्य-संग्रह भा० १-२, (४) जैनधर्मवर स्तोत्र और नाथूराम जी प्रेमी-की विद्वद्रत्नमाला, यशोविजय ग्रन्थमाला में प्रकाशित जैनस्तोत्र-संग्रह भाग २ और जैन स्तोत्र-सन्दोह आदि ग्रंथों की सहायता ली गई है। एतदर्थ उनके सम्पादक महोदयों का आभार मानता हूँ। मैं कोई विद्वान् नहीं हूँ अतः संभव है, कई त्रुटियां रह गई हों, उनके लिये मैं निरुपाय हूँ। मैंने यह लेख साहित्यप्रेम से आकृष्ट होकर ही लिखा है।

मेघदूत की पादपूर्ति के काव्य

सुप्रसिद्ध कवि कालिदास-कृत मेघदूत काव्य की प्रख्याति चारों दिशाओं में व्याप्त हुई उसी के अनुकरण-स्वरूप जो पचासों दूत काव्य भिन्न भिन्न अनेकों कवियों ने निर्म्माण किये उनके विषय में इसी पत्र को (भाग २) द्वितीय किरण में एक लेख प्रकाशित हो चुका है और उक्त लेख में इस काव्य के पादपूर्ति काव्यों का भी परिचय आ चुका है पर मेरे इस लेख का विषय वही होने से कुछ विशेष ज्ञातव्य के साथ पादपूर्ति काव्यों का संक्षिप्त परिचय रचना-काल के क्रमानुसार नीचे दिया जाता है—

१ *पार्श्वाभ्युदय काव्य*—

पादपूर्त्ति काव्यों में यह सर्व-प्रथम काव्य है। मेघदूत के सारे श्लोकों की पादपूर्तिमय यह काव्य रचा गया है यह इसकी विशेषता या विशिष्टता है। कवि ने ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों में इसे पूर्ण किया है और प्रत्येक श्लोक में मेघदूत के एक या दो चरण वेष्टित कर शृंगार रस के काव्य को वैराग्य रस के अर्थ में योजित कर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है। मेघदूत की कथा और पार्श्वचरित्र में बहुत अन्तर है अत: अन्य कथा के भावों और शब्दों से उसे भिन्न कथानक में परिणत और भिन्न भावमय बना देना कितना कठिन कार्य है यह काव्य-मर्मज्ञों से छिपा नहीं है। इस प्रकार की रचनाओं में सहज क्लिष्टता और नीरसता आ जाती है, पर यह इन दोषों से बच गया है। यह उत्तमता अन्य काव्यों में क्वचित् ही मिलेगी। कवि ने रचना-शैली की कुशलता में ऐसा कमाल कर दिया है कि इसे पढ़ते समय पादपूर्त्ति काव्य का भान न होकर स्वतंत्र उत्तमोत्तम काव्य का रसास्वादन होता है।

कवि-परिचय—

इसके निर्माता जिनसेनाचार्य हैं जिनका समय ८ वीं शताब्दी माना जाता है। आप के रचित ग्रंथों और जीवन चरित्र के लिये 'विद्वद्रत्नमाला' ग्रन्थ देखना चाहिये।

२ *शीलदूत*—

इसमें सुप्रसिद्ध जैनाचार्य स्थूलिभद्र जी का चरित्र वर्णित है, मेघदूत के अन्तिम चरण की पादपूर्तिरूप यह काव्य १३१ श्लोकों में रचा गया है।

कवि-परिचय—

बृहत् तपागच्छ के रत्नाकर सूरि की परंपरा में जयतिलकसूरि के शिष्य चारित्रसुन्दरगणि ने सं० १४८४ (७ ?) खम्भात में इस काव्य की रचना की

है। कर्त्ता के अन्य ग्रन्थ १ कुमारपाल-चरित्र, (१० सर्ग २०३२ श्लोकों में शुभचंद्रगणि की अभ्यर्थना से) २ महिपाल-चरित्र, ३ आचारोपदेश ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आप के विद्या-गुरु पाठक जयमूर्ति थे।

३ नेमिदूत---

नेमिनाथ स्वामी के चरित्रसम्बन्धी यह काव्य भी मेघदूत की चतुर्थ पाद-पूर्तिमय १२६ श्लोकों में रचा गया है। रचना उत्तम है।

कवि-परिचय—

सांगण के पुत्ररत्न विक्रम* कवि ने इसे बनाया है। यद्यपि कवि ने ग्रन्थ में रचना-काल नहीं दिया है पर इस काव्य की सं० १६०२ की लिखित जीर्ण प्रति बालुचर के गट्टू बाबू के यहां विद्यमान है। अतः इससे पूर्व रचित तो सिद्ध है ही। विद्वद्रत्नमाला पृ० ४६ में श्रीप्रेमीजी ने इन्हें दि० विद्वान् सूचित किया है पर हमारी सम्मति में आप श्वेताम्बर विद्वान् ही थे। इस काव्य की अनेक प्रतियाँ श्वे० भांडारों में हैं और श्वे० विद्वान् की इस पर टीका भी उपलब्ध है।

टीकाकार—

नेमिदूत पर खरतरगच्छीय सुप्रसिद्ध विद्वान् गुणविनयोपाध्याय† ने सं० १६४४ में बीकानेर में टीका बनाई है, जिसकी २५ पत्र की प्रति बीकानेर में श्री वैद्यरत्न महो० रामलाल जी यति के संग्रह में विद्यमान है।

४ चंद्रदूत—

इस काव्य का और रचयिता का विशेष वृत्तांत हम इसी पत्र की पिछली किरण में दे चुके हैं अतः यहां नहीं दिया जाता।

५ मेघदूत-समस्यालेख—

इस काव्य का विशेष परिचय विज्ञप्ति-त्रिवेणी में है। यह भी मेघदूत के चतुर्थ चरण की समस्या पूर्त्तिरूप है। कर्त्ता ने औरंगाबाद से गच्छपति विजय-प्रभसूरि जी की सेवा में दीवबंदर (तक के मार्ग के भौगोलिक वृत्तांत के साथ) को १३० श्लोकों में यह विज्ञप्ति-पत्र भेजा था।

---

* बीकानेर स्टेट लायब्रेरी और हेमचंद्रसूरि पुस्तकालय की प्रतियों में अंतिम शब्द 'विक्रमाख्य': के बदले 'झाँझणाख्य': है।

† देखें युग-प्रधान श्रीजिनचंद्रसूरि पृष्ठ २०० ।

कवि-परिचय—

इस काव्य के रचयिता महोपाध्याय मेघविजयजी हैं और इस काव्य को सं० १७२७ में रचा था। आपने अध्यात्म, ज्योतिष, व्याकरण, न्याय, काव्य के अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना की है। लेख-वृद्धि के भय से उन कृतियों की सूची नहीं दी जा सकती। जिज्ञासु पाठकों को 'भक्तामर, कल्याणमंदिर, नमिऊण स्तोत्र' ग्रन्थ की प्रस्तावना और जैन " साहित्यनों संक्षिप्त इतिहास " नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

६ चेतोदूत—

चित्त को दूत बनाकर कवि ने अपने गुरुवर्य को विज्ञप्ति-पत्र के रूप में इसे रचा है। इसमें स्थान, गुरुनाम और कर्त्ता का नाम नहीं है अतः सदैव सब कोई इसका व्यवहार कर सकें इसी आशय से रचा गया ज्ञात होता है। रचना बड़ी मधुर, प्रासादिक और उत्तम प्रकार की है।

७ हंसपादांक-दूत (?) उल्लेख—विद्वद्रत्नमाला पृ० ४६*

माघकाव्य की समस्यापूर्त्ति

जैनेतर काव्यों में महाकवि माघ का माघ (शिशुपाल-बध) काव्य भी सुप्रसिद्ध काव्यों में से है। इस काव्य की महिमा सर्वोत्तम काव्यरूप से इस प्रकार मिलती है :—

"नैषधे पदलालित्यं, भारवेरर्थगौरवम्।
उपमा कालिदासस्य, माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥"
"नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते।"

अर्थात्—नैषध का पद-लालित्य, किरातार्जुनीय का अर्थ-गौरव कालिदास के काव्यों के उपमाअलंकार, सारे काव्यों से बढ़कर है। पर माघ में यह तीनों गुण विद्यमान होने के साथ यह विशेषता और भी अधिक है कि इसके ९ सर्ग पढ़ लेने पर संस्कृत में पठनीय नव्य शब्द और अवशेष नहीं रह जाते; इस काव्य का भी समस्यापूर्त्तिमय एक जैनकाव्य उपलब्ध है जिसका परिचय इस प्रकार है :—

१ देवानन्दाभ्युदय†—

कवि ने माघ काव्य के प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण लेकर तीन पाद स्वयं नये बनाकर बड़ी खूबी और सुन्दर रीति से संघटित कर सात सर्गों में विजयदेव

* हमें इस काव्य के अस्तित्व में संदेह है। प्रेमी जी से इसके विषय में पूछताछ भी की, पर उन्होंने अवकाशाभाव लिख कर कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया।

† लगभग २॥ सर्ग यशोविजय ग्रन्थमाला-द्वारा प्रकाशित है।

सूरि के भिन्न भिन्न समय का इतिहास (ऐतिहासिक रूप से) इस काव्य में सुसंकलित किया है।

कवि-परिचय—

मेघदूत-समस्या, शान्तिनाथ-चरित्रादि के कर्त्ता मेघविजयजी ने ही सं० १७२७ सादड़ी में ॐकार से अङ्कित यह काव्य सम्पूर्ण किया है।

नैषधकाव्य की समस्यापूर्त्ति

मेघदूत की भांति श्रीहर्ष कवि-कृत नैषधकाव्य भी प्रधान काव्यों में से एक है। इस काव्य के पादपूर्तिमय एक काव्य ही उपलब्ध हुआ है जिसका परिचय इस प्रकार है—

१ शान्तिनाथ-चरित्र—

पार्श्वाभ्युदय की भांति यह काव्य भी विशिष्ट गुण-सम्पन्न है। नैषध काव्य के प्रथम सर्ग के सम्पूर्ण श्लोकों (केवल २८ वें श्लोक के चतुर्थपाद के अतिरिक्त), को इस काव्य के प्रथम चरण में नैषध के प्रथम चरण को, द्वितीय को द्वितीय, तृतीय को तृतीय और नैषध के चतुर्थ चरण को (इस काव्य के) चतुर्थपाद में नियोजित कर प्रथम सर्ग को पूर्ण समाविष्ट कर दिया है। यह विशेषता पार्श्वाभ्युदय में भी नहीं है। इतना ही क्यों, इस काव्य में कहीं कहीं नैषधीय काव्य के एक ही चरण को भिन्न भिन्न अर्थों की अपेक्षा से दो दो तीन तीन बार भी पूरित या नियोजित किया है।

कवि-परिचय—

इस विशिष्ट-काव्य को भी सुप्रसिद्ध महोपाध्याय मेघ विजय जी ने ६ सर्गों में अपने शिष्य मेरुविजय के कथन से निर्म्माण किया है। पं० हरगोविंद दास जी ने संशोधित कर जैन विविध-साहित्य-शास्त्रमाला (७) द्वारा सन् १९१८ में इसे प्रकाशित कर दिया है।

जैनस्तोत्रों की पादपूर्त्ति

जैनस्तोत्र-भाण्डागार में भक्तामर और कल्याणमंदिर नामक दो स्तोत्र सब से अधिक प्रख्यात हैं, इनका दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय बड़े आदर की दृष्टि से अध्ययन करते हैं। ये स्तोत्र बड़े प्रभावशाली और मनोहर हैं।

भक्तामर—

पादपूर्त्ति-साहित्य में भक्तामर के समस्यापूर्त्ति काव्यों की संख्या सब से अधिक है

और इसपर जितनी अधिक टीकायें* उपलब्ध हैं शायद किसी भी जैन-स्तोत्र पर नहीं है, यह इस काव्य की प्रख्याति और लोकादर का ज्वलन्त प्रमाण है। कई टीकायें तो बड़ी विशद हैं जिनमें प्रत्येक श्लोक के प्रति अलग अलग मन्त्राक्षर और कथायें† लिखी गई हैं। भक्तामर पादपूर्त्ति मय सारे काव्यों का समय निर्णीत नहीं है अतः यहाँ उनकी सूची रचनाकाल के क्रम से न देकर तीर्थंकरों के नामानुक्रम से दी जाती है।

१ ऋषभ-भक्तामर—

अष्टलक्षी-प्रणेता सुप्रसिद्ध खरतरगच्छीय महोपाध्याय समयसुंदरजी† ने भक्तामर के चतुर्थपाद की समस्यापूर्त्ति में ऋषभदेव प्रभु की स्तुति-स्वरूप रचा है। श्लोक-संख्या ४५, अप्रकाशित है।

२ शान्तिभक्तामर—

इसे कीर्त्तिविमल के शिष्य लक्ष्मी-विमल ने चतुर्थपाद-पूर्त्तिमय ४५ श्लोकों में शान्तिनाथ जी की स्तुति गर्भित कर रचा है। भक्तामर-पादपूर्त्ति काव्य-संग्रह भाग २ में गुजराती-भाषान्तर-सहित प्रकाशित हो चुका है।

३ नेमिभक्तामर—

संघहर्ष‡ के शिष्य धर्मसिंह के शिष्य रत्नसिंह सूरिजी ने ४६ श्लोकों में नेमि राजिमती की स्तुतिमय निर्माण किया है। इसका अपरनाम प्राणप्रिय काव्य है और इसी नाम से श्रीनाथूराम जी प्रेमी के हिन्दी भाषान्तर-सहित जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित है।

(क्रमशः)

---

* कतिपय टीकाकारों के नाम ये हैं:—१ गुणाकरसूरि (१४२६) २ रामचंद्रसूरि (१४७२) ३ अमरप्रभसूरि, ४ गुणाकर (१५२४ चैत्र गच्छीय), ५ कनककुशल (१६५२), ६ साधुकीर्त्ति, ७ सिद्धिचंद्र, ८ रत्नचंद्र, ९ हर्षकीर्त्तिसूरि, १० मेघविजय, ११ गुणसुन्दर, १२ खंडिल-गच्छी शांतिसूरि, १३ पद्मविजय, १४ मेरुसुन्दर (बाला०), १५ विनयकलश (खर० १६७२ वै० सु०५) १६ समयसुन्दर (१६८७)। दि० टीकाकार १ रत्नचंद्र सूरि (१६६७ शाके), २ प्रभाचंद्र ३ शुभचंद्र ४ ब्रह्म रायमल (१६६७), ५ देवसुन्दर, ६ मेधावी, ७ अभयचंद्र, ८ जयचन्द्र राव, ९ लालचंद्र नथमल (नं० ४ से ९ तक का उल्लेख "दिगम्बर जैनग्रन्थ कर्त्ता और उनके ग्रंथ" में ११ विश्वभूषण (हीरालाल- कृत केटलाग)।

† इस स्तोत्र की सचित्र, मंत्राक्षर, कथामय प्रति यहाँ श्री पूज्यजी के संग्रह में भी है।

‡ प्रकाशित-काव्य की प्रशस्ति में श्रीसिंहसंघ छपा है पर ही० कापड़िये ने जो प्रशस्ति दी है उसमें संघहर्ष नाम स्पष्ट है शुद्ध पाठ का निर्णय आवश्यक है।

कतिपय दाक्षिणात्य जैनराजवंश की कैफियत

(ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

अजिल राजवंश की कैफियत

(क्रमागत)

(३)

तिम्मण्णा अजिल जिस समय गंगनाडु में शासन कर रहे थे उस समय एक दूसरे राष्ट्र ने उक्त नगर पर चढ़ाई की जिसके परिणामस्वरूप वहाँ तुमुल युद्ध हुआ। अन्त में तिम्मण्ण अजिल अपनी कमजोरी को ताड़ कर शत्रुओं की अधीनता स्वीकार नहीं करने की इच्छा से अपने भाई लक्ष्मणप्प, कुलदेव सोमनाथ एवं वीरभद्र तथा सभी परिवार-वर्ग को लेकर वहाँ से चलकर पश्चिमघाटी की उपत्यका (तलहट्टी) में बस गये। क्रमशः वहाँ के आस-पास के जंगलों को कटवा एवं वहाँ महल, वाटिका, खेत आदि सभी राजोचित साधनों को सम्पन्न कर उस स्थान को भी अपनी पूर्व राजधानी गंगवाडि के नाम से ही इन्होंने प्रसिद्ध कर दिया। बल्कि आजकल यह स्थान बंगवाडि के नाम से मशहूर है। पीछे इन्होंने अपने कुलदेवता के लिये यहीं के कल्लुगुड्ड स्थान में एक भव्य मन्दिर भी बनवा दिया। कुछ समय के उपरान्त बड़े भाई तिम्मण्णा अजिल ने अपने छोटे भाई लक्ष्मणप्प से कहा कि इस घाटी की तलहट्टी में रहने के लिये हम सबों को पर्याप्त स्थान नहीं है, इसलिये अन्यत्र कहीं अलग अलग रहना ही श्रेयस्कर होगा। इस निश्चयानुसार लक्ष्मणप्प बेळतंगडि में और बड़े भाई तिम्मण्ण अजिल वेणूरु में महल आदि बनवा कर रहने लगे। बल्कि पीछे से दोनों भाई ही उक्त स्थानों के अधिकारी भी बन गये। बाद इन दोनों भाइयों में से बड़े भाई ने तो अपने नाम के आगे वंशसूचक ज्यों का त्यों अजिल कायम रक्खा किन्तु छोटे भाई ने अपने नाम लक्ष्मणप्प के आगे वासस्थान का परिचायक बंग जोड़ दिया। थोड़े दिनों के बाद तिम्मण्ण अजिल का देहावसान हो गया। अब इस राजवंश में केवल दो स्त्रियाँ रह गयी थीं। क्योंकि उन्हें और कोई सन्तान थी ही नहीं। इनमें से एक विधवा और दूसरी कुमारी। ये दोनों सगी बहनें थीं। तिम्मण्ण अजिल का शत्रुवर्ग इनके मरणोपरान्त इनकी सभी सम्पत्तियों को लूट-खसोट कर उक्त दोनों बहनों को निस्सहाय बनाकर इन्हें तंग करने लगा। ऐसी दशा में इन दोनों ने विजयनगर-साम्राज्य के शासक की शरण में पहुंच कर वंशपरिचय-पूर्वक अपनी दयनीय दशा का कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। तत्कालीन विजयनगराधीश ने इनकी

दुरवस्था पर तरस खा इन्हें आश्वासन एवं अभयदान दे कर अपने यहाँ रख लिया। बल्कि उक्त शासक ने पीछे इन बहनों के कुल और गोत्र आदि का ठीक ठीक पता लगा कर उस स्वभाव-सुन्दरी कुमारी से विवाह भी कर लिया। इस नव विवाहिता स्त्री के गर्भ से विजयनगर साम्राज्य शासक को तिम्मण्णराय और कामिराय नाम के दो पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए। इन दोनों लड़कों के रक्षण, भरण एवं शिक्षण बड़ी सतर्कता के साथ हुए। इनमें तिम्मण्णराय बड़ा और कामिराय छोटा था। इन दोनों भाइयों के बालिग हो जाने पर इनकी विधवा मौसी ने राजा से निवेदन किया कि हमलोगों ने शत्रुओं से अत्यन्त अपमानित होकर आपकी शरण ली थी। सौभाग्य से ही आप जैसे माननीय सहृदय शासक की छत्रच्छाया में रहकर हमलोगों को इस समुन्नतावस्था को प्राप्त करने की सुविधा मिलगयी है। अब हमें इन दोनों बच्चों को साथ लेकर अपनी जन्मभूमि का दर्शन करने की हार्दिक उत्कण्ठा हो रही है। आशा है कि आप हमारी यह विनीत प्रार्थना स्वीकृत करेंगे। राजा ने यह प्रार्थना सहर्ष कबूल कर ली। अपने इन दोनों लड़कों को उस विधवा मौसी के साथ उनकी जन्मभूमि को भेज कर मंगलूरु प्रान्त के कुछ हिस्से बड़े लड़के तिम्मण्णराय और कुछ हिस्से छोटे लड़के कामिराय को देकर इन्हें अपने प्रांत-विभाग के शासक बना दिया। बल्कि अधिक वात्सल्यभाजन होने की वजह से छोटे लड़के कामिराय को बड़े की अपेक्षा दुगुना हिस्सा दिया। अर्थात् जागीर से वार्षिक आय बड़े की बारह हजार रुपये की थी और छोटे की चौबीस हजार रुपये की।

इनके बाद बड़े लड़के तिम्मण्णराय अपनी ओर से वेणूरु में और छोटे कामिराय नन्दावर में राजधानी बनाकर वहां सुखपूर्वक रहने लगे। तिम्मण्ण अजिल के मरने के बाद चार पीढ़ियां तक अजिल और बंग दोनों वंशों में पुत्र ही उत्तराधिकारी होते गये। किन्तु सामवंश से सम्बन्ध-विच्छेद होकर जब से जैनियों से सम्बन्ध होने लगा तब से प्रान्तीय नियमानुसार चिर-प्रचलित बहनों का उत्तराधिकारी होना ही जारी हो गया। यह क्रम बीस पीढ़ियों तक प्रचलित रहा। × × × × × × यह तो हुई बड़े तिम्मण्ण अजिल की चर्चा, किन्तु इनके छोटे भाई लक्ष्मणप्प जो वेळतंगडि में महल बनाकर रहते थे निस्सन्तानावस्था में ही मरे। इनकी बिरुदावली में निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय एवं विचारणीय है—

"मल्लिदेविगर्भवार्धिचन्द्रोदयम्" दक्षिणामधुरारत्नामणिम्" "परमकादम्बवंशाम्बुधिचन्द्रम्" "परमकाश्यपगोत्रनीरजदिनकरम्" "वीरपुरनरेश्वरमातुलम्" "चामुण्डराय-कुलतिलकम्" "तौळवकुलस्थापनाचार्यम्"।

(सुवासिनि संपुट ४, संचिके १)

चौट राजवंश की कैफियत

(४)

शालिवाहन शक १०८२ (ई० सन् ११६०) में सोमवंशोत्पन्न तिरुमल राय चौट राजपदारूढ़ होकर सोमनाथ (शंकर) की उपासना एवं अर्चना में सदा निरत रहने लगे। किम्वदन्ती है कि एक समय महल के उत्तर तरफ एक खंडहर को खुदवाते समय इन्हीं सोमनाथ की कृपा से उन्हें अपार निधि मिली। उल्लाळ, सोमेश्वर, तलपाडि, अम्मेम्बळ बाळेपुणे, कैरंगळ इन्हीं स्थानों का शासन-सूत्र इनके हाथ में रहा। जब शक ११०१ (ई० सन् ११७९) में उल्लिखित स्थानों का शासन इनके भाँजे चेन्नराय चौट के हाथ में आया तब एक समय इनके भांजे वरदय्य अपने जातिबन्धु सुराल तोळहार के यहाँ गये थे। वहाँ से लौटती बार पुत्तिगे प्रान्तान्तर्गत कबरगुड्डे स्थान में एक कायेर वृक्ष के नीचे यह विश्राम कर रहे थे कि इसी के बीच में उस पेड़ से गिरे हुए एक फल के रस का यह आस्वादन करने लगे किन्तु उस कायेर नामक कटु वृक्ष के फल का आस्वादन अत्यन्त सुमधुर अनुभूत होने से इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और पीछे बड़ी चाह से वहाँ की जमीन खुदवायी। इन्हें भी उस खुदाई में फलतः प्रचुर निधि मिली। बाद इसी स्थान को शुभद समझ कर वहाँ एक महल बना आप वहाँ के आसपास के कई स्थानों को स्वाधीन कर वहीं रहने लगे। बल्कि उल्लाळ राजधानी से इनके मामा चेन्नराय चौट भी इसी भाँजे के नवनिर्मित महल में आकर इनके साथ रह कर वहीं से शासन करने लगे। पीछे इसी वरदय्य ने शक ११४१ (ई० सन् १२१९) में देवराय चौट के नाम से राज्याभिषिक्त हो शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। फिर शक ११६७ (ई० सन् १२४५) में इनके भाँजा तिरुमलराय राजगद्दी के उत्तराधिकारी हुए। इनकी ध्वजा वृषभाङ्कित थी। इसी तिरुमल राय ने पुत्तिगे में सोमनाथ मन्दिर का निर्माण कराया था। शक १२०५ (ई० सन् १२८३) में इनकी भाँजी अब्बक्क देवी राजसिंहासन पर बैठी। इन्हीं देवी जी का लड़का भोजराय चौट शक १२३८ (ई० सन् १३१६) में सिंहासनारूढ़ हुआ। उल्लिखित चौटवंशीय शासक सोम (चन्द्र) वंशी क्षत्रिय थे और इनके कुलदेव भी उपर्युक्त सोमनाथ ही थे। भोजराय चौट की भाँजी पदुमल देवी शक १२७२ (ई० सन् १३५०) में, इनका पुत्र चन्नराय चौट शक १३०४ (ई० सन् १३८२) में, इनकी भाँजी चेन्नम्मदेवी (चौट) शक १३२५ (ई० सन् १४०३) में, इनका लड़का भोजराज चौट शक १३६० (ई० सन् १४३८) में, इनका भाँजा तिरुमलराय चौट शक १३९० (ई० सन् १४६८) में, इनकी भाँजी तिरुमलदेवी (चौट) शक १४३६ (ई० सन् १५१४) में और इनकी पुत्री अब्बकदेवी (चौट) शक १४५९ (ई० सन् १५३७)

में उत्तरोत्तर शासन करती रहीं। इन्हीं अबक्कदेवी के शासनकाल में कार्कळ के भैररस ओडेयर के साथ इन देवी जी का युद्ध हुआ और इस युद्ध में यह मारी गयीं। बाद शक १४८३ (ई० सन् १५६१) में इनका पुत्र चिक्कराय चौट, शक १५०७ (ई० सन् १५८५) में इनकी भांजी चेन्नम्म देवी (चौट) और शक १५२५ (ई० सन् १६०३) में इनका (चेन्नम्म देवी का) पुत्र भोजराय चौट उत्तरोत्तर शासक होते गये। इस भोजराय चौट के समय में मूडबिदुरे में राजभवन निर्मित हुआ। पश्चात् इनकी भाँजी चन्नम्मदेवी (चौट) शक १५६६ (ई० सन् १६४४) में, इनका लड़का चिक्कराय चौट शक १६०१ (ई० सन १६७९) में, इनकी सहोदरी (बहन) पदुमल देवी (चौट) शक १६३७ (ई० सन् १७१५) में तथा इनकी छोटी बहन अब्बक्क देवी शक १६४८ (ई० सन् १७२६) में क्रमशः राजसिंहासनाधिकारिणी होती गयीं। बाद इनका पुत्र चन्द्रशेखर राय शक १६७१ (ई० सन् १७५९) में राजसिंहारूढ़ हुआ।

(सुवासिनि सम्पुट ४, संचिके ३, ६, ७)

नोट— "सुवासिनि" नामक कन्नड मासिक पत्रिका के भिन्न भिन्न अंकों में प्रकाशित चार कैफियतों या विशेष वक्तव्यों का भावानुवाद "भास्कर" के विज्ञ पाठकों के समक्ष रख दिया गया है। इतिहास को प्रामाणिक बनाने के लिये स्थूल से स्थूल बातों का अन्वेषण करनेवाले ऐतिहासिक विद्वानों को मैं आशा करता हूं कि इन कैफियतों से भी कुछ तात्विक बातें उपलब्ध हो जायँगी। इनके संग्राहक श्रीयुत परशुराम जी हैं। इन कैफियतों का अक्षरशः यह अनुवाद नहीं होने पर भी उल्लेखनीय कोई बात नहीं छूटी है। इनके कई स्थानों पर नोट देने की गुंजायश अवश्य थी, किन्तु लेख का कलेवर विकराल होने की शंका से नहीं दिया जा सका।

के० भी० शास्त्री

कातंत्र व्याकरण के निर्माता कौन है ?

(ले० श्रीयुत पं० मिलापचन्द्र कटारिया)

इस ग्रन्थ में संस्कृत-व्याकरण का विषय ऐसे ढंग से गुंफित किया गया है जो न अधिक विस्तृत और न अधिक संक्षिप्त ही कहा जा सकता है। साथ ही क्लिष्ट भी नहीं है। व्याकरण की मध्यमरूप से शिक्षा पाने के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उच्चकोटि का है। वर्तमान में इसका विशेष प्रचार नहीं है। संभव है पहिले किसी समय इसका अच्छा प्रचार रहा हो। यह बात तो हमारी बाल्यावस्था में भी थी कि हमारे इधर इसका संधिपाठ अपभ्रंशरूप से विद्यार्थियों को कंठस्थ कराया जाता था। और जिसको "सीधा" के नाम से बोला करते थे। इस ग्रन्थ को "कातंत्र" के अलावा "कौमार" और "कालापक" के नाम से भी कहते हैं। इसके कर्ता कोई "शर्ववर्मा" हैं। किन्तु वे जैन थे या जैनेतर यह अभी विवादग्रस्त है। महाकवि सोमदेव भट्ट-रचित "कथासरित्सागर" में इस ग्रन्थ की उत्पत्ति की कथा मिलती है। उससे इसका निर्माता अजैन सिद्ध होता है। वह कथा उसके प्रथम लंबक षष्ठ तरंग श्लोक १०७ वें से लेकर सातवीं तरंग के श्लोक ११ वें तक है। उसका सारांश पाठकों की जानकारी के लिये यहां लिख दिया जाता है—

"एक समय राजा सातवाहन वसंत के उत्सव में रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। उस बीच में एक रानी ने संस्कृत में राजा को कहा "हे नाथ मोदकैस्ताडय"। सुनकर राजा ने वहाँ लड्डू मंगवाये। तब वह रानी हंसकर बोली-हे राजन् यहां जल क्रीड़ा में मोदकों का क्या काम ? मैंने तो आप से यह कहा था कि "हमें जल से मत ताड़ना करो" आप 'मा' शब्द और 'उदक' शब्द की संधि भी नहीं जानते हैं और मौके को भी नहीं समझते हैं। उस समय राजा की ओर रानियों ने हंसी की। इससे राजा बड़ा लज्जित हुआ। वह जलक्रीड़ा छोड़ अपमान से खेदित हुआ थका राजमहल में चला गया। वहां वह मौन पकड़ के चिन्तातुर सा रहने लगा। शर्ववर्मा और गुणाढ्य इन दो मंत्रियों ने राजा से बातें करना चाहा पर राजा बोला नहीं। तब शर्ववर्मा ने राजा का मौनभंग कराने के अभिप्राय से एक चौंका देनेवाली बात कही कि मुझे रात्रि को एक स्वप्न हुआ है कि जिसका फल यह है कि सरस्वती आप के मुख में प्रवेश कर गई हैं। यह सुन कर राजा बोल उठा कि तुम बताओ मनुष्य प्रयत्न करे तो कितने दिनों में पण्डित हो सकता है ? मुझे पाण्डित्य के बिना यह राज्यलक्ष्मी अच्छी नहीं मालूम होती। उत्तर में गुणाढ्य ने कहा—व्याकरण का ज्ञान मनुष्य को बारह वर्ष में होता है परन्तु

आपको मैं छः वर्ष में ही सिखा दूंगा। बीच ही में बात काटकर ईर्ष्या से शर्ववर्मा ने कहा सुखी पुरुष इतना श्रम कैसे कर सकता है? हे राजन्! मैं आपको छः ही मास में व्याकरण सिखा सकता हूं। यह सुन कर गुणाढ्य क्रोधित हो बोला-जो तुम छः मास में राजा को व्याकरण सिखा दो तो मैं संस्कृत प्राकृत और अपने देश की बोली ये तीनों भाषायें जिन्हें कि मनुष्य बोला करते हैं बोलना छोड़ दूंगा। तब शर्ववर्मा ने कहा जो मैं छः महीने में इन्हें व्याकरण न पढ़ा दूं तो बारह वर्ष तक तुम्हारी खड़ाऊं अपने सिरपर रक्खूं। इसतरह दोनों प्रतिज्ञा करके अपने घरको चले गये। शर्ववर्मा को अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह होना दुस्तर दिखने लगा और पश्चात्ताप-सहित अपना वृत्तांत अपनी स्त्री को कहा। तब वह बोली—हे स्वामिन् ऐसे संकट में सिवाय "स्वामिकुमार" की आराधना के और कोई पार नहीं लगा सकता। स्त्री की बात को ठीक समझ कर शर्ववर्मा प्रभात ही स्वामि-कुमार के पास जा, वहां निराहार मौन धारण कर और अपने शरीर को न गिन कर ऐसा तप किया, कि जिससे प्रसन्न हो कर भगवान् स्वामिकुमार ने उनका मनोरथ पूर्ण किया। साक्षात् स्वामिकुमार ने उन्हें दर्शन दिये और उनके मुख में सरस्वती का प्रवेश हुआ। बाद में भगवान् स्वामिकुमार छहों मुखों से "सिद्धो वर्णसमाम्नायः" यह सूत्र बोले। जिसे सुन कर शर्ववर्मा ने चपलता से इसके आगे का सूत्र बोल दिया। तब स्वामिकुमार ने कहा—यदि तुम बीच में न बोलते तो यह शास्त्र पाणिनीय शास्त्र से भी बढ़ कर होता। अब छोटा होने के कारण इसका "कातन्त्र" नाम होगा और कलापी मेरे वाहन के नाम से इसका अपर नाम "कालापक" भी होगा।"

इस कथा में शर्ववर्मा को स्वामिकुमार कहिये कार्त्तिकेय नाम के अजैन देव के उपासक ही नहीं बतलाया गया है बल्कि ग्रन्थ का उद्गम कार्त्तिकेय ही से हुआ बतलाया गया है। और इसी अभिप्राय को लेकर ग्रन्थके "कालापक" व "कौमार" नामों की सृष्टि हुई बतलाई गई है। इससे यह ग्रन्थ साफ तौर पर एक अजैन की कृति सिद्ध होता है। साथ ही इस ग्रन्थ का प्राचीनत्व भी सिद्ध होता है। क्योंकि कथा में इसे सातवाहन राजा को सिखाने के अर्थ बनाया गया बतलाय गया है। सातवाहन संभवतः वे ही शालि-वाहन राजा हैं जिनका शक संवत् आज १८५७ चल रहा है। इस ग्रन्थ पर कई संस्कृत टीकायें सुनी जाती हैं। श्वेतांबर टीका का उल्लेख 'भास्कर' की पिछली किरण में भी हुआ है। लेख में भी इसे अजैन ग्रन्थ प्रकट किया गया है। इतनी टीकाओं के होते भी इसके कर्त्ता के विषय में ऐसा विवाद रहना एक आश्चर्य की बात है। अभी तक यह ग्रन्थ 'भावसेन' मुनि-रचित 'रूपमाला' नाम की टीका-सहित छपा है। और इसीलिये 'कातंत्र-रूपमाला" इस नाम से प्रचार में आ रहा है। इस टीका के देखने से पता

लगता है कि भावसेन मुनि दिगंबर धर्म के माननेवाले थे। और उन्होंने अपने नाम के साथ "त्रैविद्यदेव" और "वादिपर्वतवज्री" ये दो विशेषण भी लिखे हैं। ये मुनि अधिक प्राचीन मालूम नहीं होते हैं। क्योंकि इन्होंने रूपमाला टीका की प्रशस्ति में एक श्लोक दिया है वह सोमदेव कृत "नीतिवाक्यामृत" की प्रशस्ति-गत पद्य की नकल है।

तद्यथा—

क्षीणेऽनुग्रहकारिता समजने सौजन्यमात्माधिके,
सम्मानं नुतभावसेनमुनिपे त्रैविद्यदेवे मयि।
सिद्धान्तोऽयमथापि यः स्वधिषणागर्वोद्धतः केवलम्,
संस्पर्द्धेत तदीयगर्वकुहरे वज्रायते मद्वचः॥

"रूपमाला-प्रशस्ति"

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,
सिद्धान्तोऽयमुदात्त-चित्त-चरिते श्रीसोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढता प्रौढिप्रगाढा ग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते॥

"नीतिवाक्यामृत-प्रशस्ति"

इन समान पद्यों से यह अनुमान किया जा सकता है कि भावसेन सोमदेव के बाद हुए हैं। ऐसा मालूम होता है कि भावसेन ने कातंत्र को एक जैन कृति समझ कर ही उस पर टीका बनाई है। यह बात रूपमाला के निम्न पद्यों से साबित होती है—

वर्द्धमानकुमारेणार्हता पूज्येन वज्रिणा।
कौमारे ऋषभेणापि कुमाराणां हितैषिणा॥
मुष्टिव्याकरणं नाम्ना कातन्त्रं वा कुमारकं।
कालापकं प्रकाशात्मब्रह्मणामभिधायकं॥
प्रकाशितं शीघ्रबोधसंपदे श्रेयसां पदं।
समासानां प्रकरणं भावसेन इहाभ्यधात्॥

(पृष्ठ ६९)

चतुःषष्टिः कलाः स्त्रीणां ताश्चतुः-सप्ततिर्नृणाम्।
आपकः प्रापकस्तासां श्रीमानृषभतीर्थकृत्॥
तेन ब्राह्म्यै कुमार्यै च कथितं पाठहेतवे।
कालापकं तत्कौमारं नाम्ना शब्दानुशासनम्॥
यद् वदन्त्यधियः केचित् शिखिनः स्कंदवाहिनः।
पुच्छान्निर्गतसूत्रं स्यात्कालापकमतः परम्॥

तन्न युक्तं यतः केकी वक्ति प्लुतस्वरानुगम्।
त्रिमात्रं च शिखी ब्रूयादिति प्रामाणिकोक्तितः॥
न चात्र मातृकाम्नाये स्वरेषु प्लुतसंग्रहः।
तस्मात् श्रीऋषभादिष्टमित्येव प्रतिपद्यताम्॥

"पृष्ठ ११२"

यहां हम यह भी बतला देते हैं कि कातंत्र रूपमाला की अब तक दो आवृत्तियां निकल चुकी हैं। प्रथम आवृत्ति का प्रकाशन आज से लगभग चालीस वर्ष पहिले सेठ हीराचन्द् जी नेमीचंद जी के द्वारा हुआ है। उसमें ये श्लोक कतई नहीं हैं। दूसरी आवृत्ति ६ वर्ष पहिले 'जैनसाहित्य-प्रसारक-कार्यालय" की तरफ से प्रकाशित हुई है, उसी में ये सब श्लोक हैं। और जहां ये दिये गये हैं वहां कुछ अप्रकरण से मालूम होते हैं। इस प्रकार के श्लोक मंगलाचरण के बाद में या ग्रन्थ के अन्त में दिये जाते तो प्रकरण संगत लगते। यह भी मालूम होता है कि कातंत्र की उत्पत्ति की ऊपर दी हुई कथा से भी भावसेन अपरिचित नहीं थे, क्योंकि इन श्लोकों में उसी कथा का विरोध किया गया है। और कातंत्र के कौमार और कालापक नामों का अर्थ जैन-मान्यता में घटाया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि भावसेन के वक्त भी इसके कर्त्ता के विषय में मतभेद था। कोई उसे जैन मानते थे और कोई अजैन। भावसेन का इसे जैनग्रन्थ घोषित करना चाहे ठीक ही हो तथापि इसे अन्तिम निर्णय नहीं समझ लेना चाहिये। हमारी समझ से अभी इस दिशा में और भी खोज होने की आवश्यकता है। शर्ववर्मा गृहस्थ विद्वान् थे या साधु? इसका पता लगाना चाहिये। ऐसा नाम भी बहुत कर के गृहस्थावस्था का ही उपयुक्त हो सकता है। मुनि अवस्था का तो कुछ अटपट सा दीखताहै। अगर वे मुनि ही थे तो उनकी गुरु-परम्परा क्या है? उन्होंने और भी क्या कोई जैन ग्रन्थ बनाये हैं? जब कि वे इतने प्राचीन हैं तो पिछले शास्त्रकारों ने उनका या उनके कातंत्र का या अन्य ग्रन्थ का कहीं उल्लेख भी किया है या नहीं? इत्यादि बातों का अन्वेषण होना जरूरी है। आशा है इतिहासज्ञ जैन विद्वान् इसपर प्रकाश डालेंगे।

नोट—कातन्त्र के अवतरण-विषयक एक लेख भास्कर के १ म भाग की ३ री किरण में सम्पादकीय स्तम्भ में निकल चुका है। हाँ इसके रचयिता के बारे में इस लेख में कुछ प्रकाश डाला गया है, इसी लिये लेखक के आग्रह से इस किरण में इसे प्रकाशित कर दिया गया है। मेरा अनुरोध है कि लेखक के अन्तिम कथनानुसार इसके रचयिता के बारे में इतिहास-वेत्ता कुछ विशेष प्रकाश डालेंगे।

के० बी० शास्त्री

समालोचना

युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि—लेखक, अगरचन्द नाहटा, भँवर लाल नाहटा। प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज, नाहटा नं० ५१६ आरमीनियन स्ट्रीट कलकत्ता, पुस्तक की पृष्ठ-संख्या परिशिष्ट मिला कर ३७० है। वक्तव्य, प्रस्तावना आदि की पृष्ठ सं० ८२ अलग। मूल्य १) मात्र।

इस ऐतिहासिक ग्रन्थ के आधार श्रीजिनचन्द्र जी सूरि हैं। आप १७ वीं शताब्दी के प्रभावशाली श्रीश्वेताम्बर जैनाचार्यों में अन्यतम हैं। आप के सदुपदेश से प्रभावित होकर तत्कालीन मुगल बादशाह अकबर ने अपने साम्राज्य में हिंसा को बहुत कुछ बन्द कर दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त सूरि जी ने अपनी आदर्श तपस्या एवं त्यागवृत्ति से अकबर बादशाह को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था और उनकी सहायता से जैन धर्म की पर्याप्त प्रभावना की थी। अकबर ही तक नहीं बल्कि उसका उत्तराधिकारी जहाँगीर भी सूरि जी में विशेष आस्था रखता था। यह निर्विवाद इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि अकबर के शासनकाल में हीरविजयसूरि आदि कतिपय श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने अपने पाण्डित्य तथा सिद्धिबल से बादशाह के दरबार में जैन-धर्म की धाक जमा दी थी। श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने मध्यकाल में अनेक ग्रन्थरत्नों की रचना कर संस्कृत वाङ्मय की काफी सेवा की है।

अस्तु इसके रचयिता पुरातत्त्व-प्रेमी श्रीयुत अगरचन्द नाहटा तथा आप के भतीजे भँवर लाल नाहटा हैं। यह उपयोगी पुस्तक प्राचीन ग्रन्थ, पट्टावली, शिलालेख आदि ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर लिखी गयी है। इसका आमूलाग्र पढ़ने से तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थिति के साथ साथ जिनचन्द्र जी सूरि का अनुकरणीय जीवनचरित्र भी अवगत हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में कई उपयोगी शाही परवाने, विहार-पत्र आदि परिशिष्ट भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध विद्वान् मोहन लाल दलीचन्द देशाई B. A. LL. B. की एक गवेषणापूर्ण ४१ पृष्ठ की प्रस्तावना पुस्तक की उपयोगिता बढ़ा रही है। प्रस्तावना गुजराती में है। इसका हिन्दीरूप परमावश्यक था। इस प्रस्तावना के द्वारा पुस्तक के ऊपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लेखक "युगप्रधानपदप्राप्ति" "अकबर-प्रतिबोध" आदि विषयों पर स्वगच्छीय प्रमाणों के सिवा परगच्छीय एवं जैनेतर ऐतिहासिकों का प्रमाण भी उद्धृत करने की चेष्टा करते, तो पुस्तक की उपादेयता और बढ़ जाती। यों तो प्रायः प्रत्येक जगह पर टिप्पणी-द्वारा प्रचुर प्रमाण उद्धृत कर विषय को व्यक्त कर दिया गया है—हाँ प्रमाणों में शिलालेखादि की अपेक्षा ग्रन्थों के प्रमाण ही अधिक मात्रा में रख दिये गये हैं।

छापे की भूल या प्रान्तीयता दोष कहिये, निम्न लिखित शब्दों के अशुद्ध रूप बे-तरह खटकते हैं। आशा है कि नाहटा जी अग्रिम संस्करण में इन्हें सुधारने का कष्ट उठावेंगे। यों तो नोट के उद्धृत प्रमाणों में भी बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। किन्तु मैं यहाँ कोष्टक में शुद्ध रूप के साथ नमूने के तौर पर कुछ ही शब्द देता हूं :—

सैका (शताब्दी) पृष्ट (पृष्ठ) सूचि (सूची) फूट नोट (फुटनोट) कइ (कई) श्रमणाएं (श्रम) कनिष्ट (कनिष्ठ) विद्वता (विद्वत्ता) आवश्यकीय (आवश्यक) उपरोक्त (उपर्युक्त) काष्ट-फलक (काष्ठफलक) अप्पकाय (अप्काय) सन्मान (सम्मान) सहाय्य (साहाय्य) स्मर्ण (स्मरण) आशक्त (आसक्त) दुद्धर्ष (दुर्द्धर्ष) कर्त्तव्यनिष्ट (कर्त्तव्यनिष्ठ) मातुश्री (मातृश्री)

इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से पुस्तक उपयोगी है। लेखकों ने संकलन में पर्याप्त प्रयास किया है एवं सफल भी हुए हैं। इतिहास-प्रेमियों को इसे मंगा कर अवश्य पढ़ना चाहिये।

के० *भुजबली शास्त्री*

द्रव्य-संग्रह—संपादक पं० भुवनेन्द्र " विश्व "। प्रकाशक-जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता। कीमत पाँच आने, पृष्ठ सं० ६०। कागज व छपाई सुन्दर एवं भड़कीली है। मुख पृष्ठ पर छहों द्रव्यों के सुन्दर काल्पनिक चित्र हैं।

५ चार्ट अन्दर भी हैं। चार्टों में परिश्रम तो किया है ; किन्तु शीघ्रता या अन्य किसी कारण से पहिले ही उपयोग के चार्ट में परोक्ष-प्रमाण-भूत मतिज्ञान के कुमति और सुमति, श्रुत ज्ञान के कुश्रुत और सुश्रुत, विकल-प्रत्यक्ष-प्रमाण अवधिज्ञान के कु-अवधि और सु-अवधि भेद लिखे गये हैं, जो भारी भूल है। कुमति, कुश्रुत और कु-अवधि ये प्रमाणा-भास हैं, प्रमाण नहीं। इसलिए प्रमाण से पृथक् ही लिखना चाहिये था। द्रव्य के चार्ट में भी पहिले द्वीन्द्रिय आदि का सामान्य भेद—विकलेन्द्रिय लिख कर द्वीन्द्रियादि विशेष भेद पीछे बतलाना उचित था, जो विशेष लिख कर फिर सामान्य में समावेश (विपरीत ही) कर दिया है।

गाथाओं की उत्थानिका में बड़े अक्षरों की अपेक्षा छोटे होने चाहिये। गाथा २ के अन्वयार्थ में (विस्ससोड्ढगई) का अर्थ स्वभाव से ऊर्ध्वलोक में गमन करनेवाला की अपेक्षा ऊर्ध्व दिशा लिखना संगत था। पृष्ठ ५ की टिप्पणी में—मति, श्रुत को देशप्रत्यक्ष लिखा है। जो "आद्ये परोक्षम्" या "अवधिज्ञान मनपर्यय दो हैं देश-प्रत्यक्ष" से एक दम विरुद्ध ही है। पृष्ठ १३ में (टिप्पणी में) " एक, दो और तीन यथायोग्य समय में स्वस्थान प्राप्त कर लेता है " को " एक, दो या तीन समय में यथायोग्य स्वस्थान प्राप्त कर लेता है " लिखना चाहिये। कारण स्पष्ट है।

गाथा १६ में संस्थान का अर्थ आकाश प्रूफ की गलती होगी। पर गाथा २७ में (तत्तिवमित्ता)

का अर्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ऊपर के (तवसुदवदवं) तप, श्रुत और व्रतवान् के प्रकरण से भिन्न हो गया है।

गाथा २१ का अन्वय "जो दव्व-परिवट्ट-रूवो परिणामादी लक्खो सो ववहारो कालो हवेइ, वट्टण-लक्खो परमट्ठो" अनुचित है। काल (सामान्य) के लक्षण को व्यवहार काल में मिला दिया है। मेरे खयाल से "जो दव्व-परिवट्ट-रूवो सो कालो हवेइ, परिणामादी लक्खो ववहारो, व वट्टण-लक्खो परमट्ठो" ऐसा अन्वय ठीक होगा। इससे सामान्य का लक्षण हो जाने पर विशेष भद व उनके लक्षण कहना उचित प्रतीत होता है

गाथा ३६ के अर्थ में "तप के द्वारा कर्म छूटने को अविपाक भाव निर्जरा है और ज्ञानावरणादि कर्मों का छूट जाना द्रव्य-निर्जरा है" लिखा है। इन दोनों लक्षणों में क्या अन्तर है? "अविपाक" विशेषण का अर्थ तो तप के द्वारा हो गया। सामान्य में क्या भाव और द्रव्य निर्जरा एक ही वस्तु हैं?

पृष्ठ ४१ की १४ वीं पंक्ति में "मन, वचन, काय ध्याता हैं" तो अब आत्मा की जरूरत ही नहीं रह जाती है।

गाथा ३४ में (दव्वासव-रोहणे अप्पणो हेऊ) को (दव्वासव-रोहणे हेऊ अप्पणो) करने से उद्देश्य-विधेय भाव ठीक होगा। यही त्रुटि गाथा ५८ के अन्वय में भी है। इस तरह पर्याप्त भूलें हैं। अन्त में भावार्थ कठिन शब्दों का अर्थ आदि प्रकरण छात्रों के लिए नोटबुक या सच्चे मित्र की तरह उपयोगी हैं। किन्तु ५० वें पृष्ठ में अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के लक्षणों में ऐसा कोई पद नहीं है जो उन्हें मतिश्रुत होने से बचा ले। "प्रत्यक्ष जाने" या "स्पष्ट जाने" ऐसा पद ही इस त्रुटि को दूर कर सकता था। "विश्व" जी ने परिश्रम किया है और पर्याप्त किया है, वे सफल भी हुए हैं, अतः उन्हें बधाई है। यदि "विश्वजी" दूसरे विद्वानों से सहयोग ले लेते तो और भी अच्छा होता और ऐसी त्रुटियाँ नहीं रहतीं।

छहढाला—सम्पादक भुवनेन्द्र "विश्व"। प्रकाशक जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, १६१।१ हरिसन-रोड, कलकत्ता। पृष्ठ ८२, कीमत ५ आने।

मुख पृष्ठ पर इसी ग्रन्थ में वर्णित मुनि की शान्ति-मुद्रा का चित्र है। पीछे समन्तभद्रस्वामी का चित्र ग्रन्थान्तर का है। सम्पादक ने इसका अर्थ संस्कृत के ग्रंथों की भांति अन्वय के साथ लिखा है। यद्यपि परिश्रम काफी किया है, तथापि द्रव्यसंग्रह की भांति इसमें भी त्रुटियां रह गयी हैं। शब्दों के अर्थ लिखने में भी सम्पादक ने स्वातन्त्र्य का उपयोग अधिक कर डाला है। जैसे १ विज्ञानता का अर्थ केवल ज्ञान करना चाहिए, किन्तु 'केवल ज्ञान के धारण करनेवाले सर्वज्ञ' किया है, यह त्रुटि मंगलाचरण के प्रथम पद्य ही में है। २ भवि का अर्थ सम्यग्दृष्टि! किया है,

जब कि भवि—भव्य का अर्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता (मात्र) रखनेवाला होता है, इसी भांति लिखने की शैली में भी वे स्वातन्त्र्य को नहीं भूले, अतएव कहीं कहीं बे-तुकापन सा आ गया है, जैसे कि—

" छयालीस दोष बिना, सुकुल श्रावक तणे घर अशन को—
लें, तप बढ़ावन हेत, नहिं तन पोषने, तज रसन को। "

इसका अर्थ—"छयालीस अन्तराय-रहित तप बढ़ाने के लिए आहार श्रावक के घर लेते हैं, इस से शरीर को पुष्ट नहीं करते, किन्तु रसों का त्याग करते हैं। " लिखा है जो कि अन्वय के क्रम को उल्लंघन कर और शब्दों के अशक्त होने पर भी खींच कर निकाला गया है। वास्तव में इसे—" शरीर को पुष्ट करने के लिए नहीं, किन्तु तप के बढ़ाने के लिए रसों का त्याग कर और छयालीस दोषों को दूर कर कुलीन श्रावक के घर आहार लेते हैं " इस तरह लिखना चाहिए। प्रथम रीति में छयालीस अन्तराय-रहित का तप के साथ संबंध हो जाने से यह छयालीस अन्तराय तप के मालूम होने लगते हैं, जोकि महा अनर्थ हो जाता है। इसी प्रकार तीसरी ढाल में—

" यों अजीव अब आस्रव सुनिये मन, वच, काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरति अरु कषाय परमाद-सहित उपयोगा॥ "

इसमें से आश्रव सुनिये तक पृथक् कर के " मन, वच, काय त्रियोगा " का अन्वय "उपयोगा" शब्द से (इतनी दूर) जोड़ा है और अर्थ लिखा है " .... (मन-वचकाय) मन, वचन, और काय इन (त्रियोगा) तीनों योगों की (उपयोगा) प्रवृत्ति को आस्रव कहते हैं"। इसी भाँति पाठान्तर करके कहीं कहीं मूल को भी गिरा दिया है। जैसे—" शम दम तें ज्यों कर्म न आवे सो संवर आदरिये " यहां " तें " की जगह " सों " और " ज्यों " की जगह " जो " पाठान्तर किया है, और अर्थ किया है कि—' यदि(?) क्रोधादि कषायों के शान्त और स्पर्शनादि इन्द्रियों के दमन-वश में करने से कर्मों का आस्रव नहीं होता है तो वह संवर आदर करने योग्य है। इस जगह "यदि" से उठा कर संदेह हो लक्षण में रख दिया है। मूल पाठ " ज्यों " के रखने से उसका अर्थ ' कषाय—शान्ति और इन्द्रिय दमन से या जिस किसी उपाय से कर्म नहीं आवें, उस उपाय-रूप संवर का आदर करना चाहिये। " संगत प्रतीत होता है। इसी ढाल के छन्द १० वें के अर्थ में " जिनेन्द्र आदि ही को सम्यग्दर्शन का कारण समझ कर अष्ट अङ्ग-सहित धारण करो " लिखा है ऐसे वाक्यों को देख कर आश्चर्य होता है। जहां मूलकर्ता का अभिप्राय ' अष्ट अङ्ग-सहित सम्यग्दर्शन के धारण करने ' का है, वहां अनुवादक या टीकाकार " जिनेन्द्र आदि को ही अष्ट अंग-सहित धारण करने ' का उपदेश करते हैं।

" गेही पै गृह में न रचै ज्यों जल में भिन्न कमल है।
नगरनारि को प्यार यथा कादे में हेम अमल है॥ "

यहां पर " नगर-नारि को प्यार " का अर्थ अभी तक अन्य टीकाकार " वेश्या का प्यार " ही करते आये हैं, किन्तु इन्होंने लिखा है कि—गांव तथा स्त्री आदि के प्रति प्रीति ऐसी होती है, जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ सुवर्ण निर्मल रहता है। " और ऊपर के अर्थ को ' नगर-नारि से वेश्या का अर्थ भी लिया जा सकता है ' लिख कर गौण सिद्ध करना चाहा है, किन्तु ' नगर-नारि ' का अर्थ वेश्या करने पर ' जल में भिन्न कमल आदि ' तीन उपमाओं की माला बन जाती है और ' गेही पै गृह में न रचे ' पर पूरा जोर पड़ने लगता है। जो बहुत सुंदर प्रतीत होता है, आप के नगर और नारी का प्रेम अर्थ करने पर एक तो यह उपमा-माला टूट जाती है, फिर ' गेही पै गृह में न रचे ' को ही इसमें दुहराने के कारण पुनरुक्ति भी हो जाती है।

" 'दौल' समझ सुन चेत सयाने " तीसरी ढाल की अंतिम लाइन का अर्थ बड़ी खोज के साथ लिखा है और विशेष—नोट देकर 'समझ' का अर्थ सम्यग्दर्शन, ' सुन ' का सम्यग्ज्ञान और 'चेत' का ' सम्यक्चारित्र ' अर्थ स्पष्ट किया है। जो उल्टा हो गया है, सम्भव है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र का क्रम बनाने के कारण यह भूल हो गयी है। 'समझ' का अर्थ ज्ञान करना या जानना होता है, अतएव समझ-समझकर बुद्धि के साथ, सुन-ध्यान दे, ताकि श्रद्धान हो जावे और फिर चेत - चरित्र धारण कर संभल जा ' ऐसा अर्थ करने पर वही अर्थ और वही क्रम स्पष्टतः बना रह सकता था। इस तरह की त्रुटियां प्राय: रह गयी हैं, कहीं पाठान्तर, कहीं अन्वय की दूरता, कहीं शब्दों की खींचातानी से अर्थ व्यवहित हो गया है, एक जगह (ढा० ४ छन्द ८ में) तो टीकाकार खींचतान कर ' व्यवहार-नय से संबंध छोड़ कर निज चिदानंद स्वरूप आत्मा का ध्यान करो, लिख कर तुरंत ही व्यवहार-चारित्र का उपदेश देकर धारण करने की प्रेरणा करने लगते हैं, और दूसरी जगह " मुख्योपचार दुभेद यों बड़ भाग रत्नत्रय धरें " मूल में उसका समर्थन भी प्रकट किया है, फिर नहीं मालूम यह त्रुटि कैसे हुई है।

द्रव्य-संग्रह की तरह इसमें भी ६ चार्ट दिये हैं; उनमें भी आत्मा के चार्ट में उत्तम अन्तरात्मा को ' मुनि ' सामान्य लिख कर प्रमत्त मुनि को भी उत्तम अंतरात्मा मान लिया है, और मध्यम अंतरात्मा को (देशव्रती श्रावक) लिखकर प्रमत्त मुनि को इस कक्षा से बाहिर कर दिया है, क्या यह—" द्विविध-संग बिन शुध उपयोगी मुनि " उत्तम " निज-ध्यानी " और " मध्यम अंतर आतम " हैं जे देशव्रती, अनगारी " मूल का विरोध नहीं है ? उपर्युक्त पंक्तियों का अर्थ लिखते समय टीकाकार ने ही जो अर्थ लिखा है उसी का निर्वाह वे चार्ट में नहीं कर सके। अजीव के चार्ट में—पुद्गल के भेद, रूप, रस, गंध, स्पर्श। फिर उनके क्रम से ५+५+२+८=२० भेद करके पुद्गल के २० भेद कर डाले हैं, जो एक दम सिद्धांत-विरुद्ध है ; ये पुद्गल के भेद नहीं हैं, किंतु गुण हैं, अतएव इन्हें भेद समझना भूल है।

इसमें द्रव्य-संग्रह की भांति परिशिष्ट में प्रश्नसंग्रह आदि नहीं जोड़े हैं किंतु 'छहढाला की कुंजी' नाम की पुस्तक पृथक् ≡) में मिलने की सूचना इसीमें दिये सूचीपत्र में दी है, जो इस पुस्तक में शामिल कर दी जाती तो लोगों का भ्रम भी दूर होता और पाठकों को भी सरलता प्राप्त होती।

महेन्द्रकुमार जैन, काव्यतीर्थ

जैनसिद्धान्त-भवन, आरा

की

संक्षिप्त रिपोर्ट

(वीर सं० २४६१ से २४६२ तक)

१—वीर सं० २४६१ ज्येष्ठ शुक्ल ५ मी से वीर सं० २४६२ ज्येष्ठ शुक्ल ४र्थी तक ३००० पाठकों ने भवन से साहित्यिक लाभ उठाया है। विशिष्ट दर्शकों में से कई प्रख्यात पण्डितों ने भवन का पर्यवेक्षण कर अपनी बहु-मूल्य सम्मतियों द्वारा प्रबन्ध एवं संग्रहादि की प्रशंसा की हैं।

२—इस वर्ष भवन में छपी संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, कन्नड, गुजराती, मराठी आदि भारतीय विविध भाषा की चुनी हुई १६४ तथा अंगरेजी को ३७ पुस्तकें कुल २०१ संगृहीत हुई हैं।

३—इस साल भवन के ग्रन्थ भेंट करनेवाले दाताओं में बाबू धन्यकुमार जैन बाढ़, राजकीय पुस्तकालय मैसूरु, बाबू अजितप्रसाद लखनऊ, बाबू अगरचन्द नाहटा बीकानेर, सेठ रावजी सखाराम दोशी शोलापुर आदि सहृदयों के नाम उल्लेखनीय हैं।

४—हस्तलिखित निम्नाङ्कित ग्रन्थ इस साल भवन में संगृहीत हुए :—

(१) श्रावकाचार (गुणभद्र) (२) सम्बोधपञ्चाशिका (३) परमार्थोपदेश (ज्ञानभूषण) (४) योगसार (योगीन्द्रदेव) (५) भैरवपद्मावती कल्प संस्कृत एवं भाषा टीका-सहित (मल्लिषेण) त्रिभंगिसार (नेमीचन्द्र) (६) श्रीपाल-चरित्र (शुभचन्द्र) (७) जैनेन्द्र पुराण का अवशिष्टांश (जिनेन्द्र भूषण) इस कार्य में दिल्ली निवासी बा० पन्नालाल जी से विशेष सहायता मिली है, एतदर्थ आप धन्यवाद के पात्र हैं।

६—नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करनेवालों के अतिरिक्त अपवाद रूप में बाहर भी ३३४ ग्रन्थ दिये गये। स्थानीय पाठकों के सिवा मैसूरु, मद्रास, उज्जैन, कलकत्ता, बंबई आदि भारत के भिन्न भिन्न स्थानों की संस्थाओं एवं विद्वानों ने भी इससे लाभ उठाया है।

७—फुटकर शास्त्र लिखाई के अतिरिक्त इस साल ऐलक पन्नलाल सरस्वती-भवन, बम्बई एवं रायचन्द्र आश्रम अगास के लिये ग्रंथराज जयधवल का अवशिष्टांश भवन-द्वारा लिखवाया गया।

८—प्रकाशन-विभाग में इस साल कोई अलग ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ। इसी भास्कर में धाराप्रवाह प्रशस्ति-संग्रह, प्रतिमा-लेख-संग्रह एवं वैद्यसार जो निकल रहे थे, इनमें से प्रतिमा-लेख-संग्रह-सम्पन्न-प्राय है, बल्कि इसके स्थान में अब जैन-वाङ्मय में जो " तिलोयपण्णत्ति " एक समुज्ज्वल रत्न है निकलेगा।

९—इस वर्ष नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, सरस्वती, जैनमित्र, जैनगजट (हिन्दी) वीर, जैनदर्शन, खण्डेलवाल जैन-हितेच्छु, जैन महिलादर्श, दिगम्बर जैन, जैन-बोधक, Jain Gazette, Indian Culture, Indian Historical Quarterly, Journal of B. & O. Research Society, Indian Library Journal, सूर्योदय (संस्कृत) उद्यानपत्रिका (संस्कृत) कर्नाटक साहित्य-परिषत्पत्रिका (कन्नड) प्रबुद्ध कर्णाटक आदि पत्र-पत्रिकायें भवन में आती रही हैं। इनमें से अधिकांश-पत्र भेंटरूप में प्राप्त हुए हैं अतः उनके संचालक धन्यवादार्ह हैं।

मन्त्री,

श्रीजैनसिद्धान्त-भवन, आरा

आवश्यक सूचना

गत किरण में मैं पाठकों को सूचित कर चुका हूँ कि अगली किरण से 'प्रतिमा-लेख-संग्रह' के स्थान में "तिलोय-पण्णत्ति" निकलने लगेगी। किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि प्रेस अनेक अन्यान्य कार्यों में व्यापृत हो यथा-समय इसे नहीं निकाल सका। हाँ, यदि भास्कर को यह किरण विलम्ब से प्रकाशित की जाती तो इसी किरण में "तिलोय-पण्णत्ति" निकल सकती थी, पर किसी पत्र को समय पर निकालना ही उस पत्र का गौरव-रूप है यह जानकर इसके लिये देर करना मैंने उचित नहीं समझा। खैर यह अगी किरण से अवश्य निकलेगी। आशा है कि पाठकगण मेरी विवशता की ओर ध्यान देंगे।

के० बी० शास्त्री

ग्रन्थमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

(क्रमागत)

दण्डस्वस्तिकपंकजकुक्कुटकुलिशाख्यभद्रपीठानि ।
उदयार्करागशशधरधूमहरिद्राः सिता वर्णाः ॥
त्र्यस्रकं शस्यते कुंडं वश्याकर्षणपीडने ।
शान्तिपुष्टौ चतुष्कोणं वृत्तं द्वेषापसारके ॥
स्फटिकं च प्रवालं च मुक्ता स्वर्णं च बीजकम् ।
शान्तिपुष्टौ वशाकृष्टौ विद्वेषोच्चाटरोधने ॥
शान्तिपुष्टौ तु रुद्राक्षैः पद्माक्षैः स्फटिकैर्जपेत् ।
तद्वर्णयुतसत्पुष्पैर्जपं स्यात्सर्वकर्मणि ॥
मोक्षशान्तिवशाकर्षे स्तम्भद्वेषेऽपसारके ।
अंगुष्ठमध्यमानामितर्जनीभिर्मणिं चरेत् ॥
अङ्गुलानि समुद्दिष्टं द्वादशाकृष्टिवश्ययोः ।
अष्टावेवाभिचारेषु नवशान्तिकपौष्टिके ॥
वषड् वश्ये फडुच्चाटे हुं द्वेषे पौष्टिके स्वधा ।
वौषडाकर्षणे स्वाहा शान्तिके घेऽथ पीडने ॥
शान्तिपुष्ट्योः सितं पुष्पं वश्याकृष्टौ च रक्तकम् ।
अभिचारे तु धूम्रं स्यात् स्तम्भने पीतमादिशेत् ॥
सर्वधान्यकृतैर्लाजैस्तद्रजोभिर्गुडान्वितैः ।
चन्दनागुरुकर्पूरगुग्गुलाज्यघृतादिभिः ॥
पायसान्नाक्षतैर्मिश्रैश्च क्षवृक्षोद्भवादिभिः ।
समिद्भिश्च चरेद्धोमं प्रतिष्ठाशान्तिपौष्टिके ।

॥ इति षट्कर्मविधिः समाप्तः ॥

यह एक मन्त्र-शास्त्रान्तर्गत अल्पकाय ग्रन्थ है। इसका नाम "बीजकोष" है। देवताओं के मूल मन्त्र को बीज मन्त्र कहते हैं। यह इसी का संग्रह—कोश है। तन्त्र-शास्त्र में प्रत्येक देवता के भिन्न भिन्न बीजमन्त्र कहे गये हैं।

इसमें सर्व-प्रथम बीजाक्षर सामर्थ्य प्रकरण दिया गया है। इस प्रकरण में भिन्न भिन्न बीजाक्षरों की सामर्थ्य बतलायी है। जैसे ह्रीं आं ह्रीं स्मृतिनाशनम्, ह्रीं मां ह्रीं आकर्षणम्, ह्रीं ईं ह्रीं पुष्टिकरणम्, ह्रीं ईं ह्रीं आकर्षणम् आदि। दूसरा प्रकरण है बीजकोष। इसमें अन्यान्य बीजाक्षरों का उल्लेख मिलता है। जैसे—

क्षींकारं पृथिवीबीजं पंकारं आपदुच्यते।
आंकारं अग्निबीजं वा प्रणवं सर्वदर्शने॥
स्वाकारं मारुतं ज्ञेयं हकारं व्योमनिश्चयम्।
टकारं वह्निबीजं च क्रों गजवशाङ्कुशे॥

तीसरा प्रकरण मन्त्र-व्याकरण है। इस प्रकरण में अकारादि से लेकर क्षकार-पर्यन्त प्रत्येक बीजाक्षर का लक्षण बतलाया गया है। बल्कि इसी प्रकरण का आरम्भिक कुछ अंश अन्तिम भाग के पहले मध्य भाग शीर्षक में दे दिया गया है। इसके आगे अक्षरों के वर्ण, लिङ्ग, वश्य, आकर्षण आदि कार्यभेद तथा पारस्परिक बीजाक्षरों की मित्रता शत्रुता आदि का उल्लेख किया गया है। अन्तिम मन्त्रपरीक्षा प्रकरण में मास-फल, नक्षत्र-फल, राशिफल, पञ्चभूत-फल आदि की चर्चा कर कौन कौन बीजाक्षर किन किन कार्यों में व्यवहरणीय है एवं उनकी क्या विधि है इत्यादि बातों पर संक्षेप में विचार किया गया है। साथ ही इसमें यह भी बतलाया है कि गुरु-मन्त्रोपदेश देने के पहले शिष्य की भले प्रकार से जाँच कर ले। अन्त में उच्चाटनादि प्रत्येक कर्म की दिशा, काल, मुद्रा, आसन, हवनकुण्ड, माला, समिध् (लकड़ी) आदि आवश्यक बातों पर भी साधारण प्रकाश डाला गया है।

हिन्दू मन्त्रशास्त्र में भी मूल बीजाक्षरों पर काफ़ी प्रकाश पड़ा है। जैसे—अन्नपूर्णा-बीज, शूलिनी-बीज, हयग्रीव-बीज, नरहरि-बीज, श्रीविद्या-बीज, श्मशानकालिका-बीज, चाण्डालिनी-बीज, कर्णपिशाची-बीज, मूषिकाविषहर-बीज, सुखप्रसव-बीज, निगडबन्धन-मोक्षण-बीज आदि।

अब रही बात इसके रचयिता के विषय में। किन्तु इस विषय के साधन के अत्यन्ताभाव से इस बीज कोश के कौन रचयिता हैं यह नहीं कहा जा सकता।

---

(१५) ग्रन्थ नं० २२२/ख

प्रतिष्ठा-कल्पटिप्पणम् (जिनसंहिता)

कर्त्ता—कुमुदचन्द्र

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३॥ इञ्च चौड़ाई ५॥। इञ्च पत्रसंख्या ३९

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमाघनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्त्तितनूभवः ।
कुमुदेन्दुरहं वच्मि प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणम् ॥१॥
विज्ञानं विमलं यस्य भासते विश्वगोचरम् ।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चिताङ्घ्रये ॥ २ ॥
प्रपञ्चयन्तु नः प्रज्ञां पञ्चापि परमेष्ठिनः ।
यद्वचोऽमृतसेकेन शीतीभूतमिदं जगत् ॥ ३ ॥
एवं जिनगुणस्तोत्रकृतमङ्गलसत्क्रियः ।
संग्रहीष्यामि भव्येभ्यो हिताय जिनसंहिताम् ॥ ४ ॥
शास्त्रावतारसम्बन्धः प्रथमं प्रतिपाद्यते ।
श्रेयोऽर्थिनः समाधाय चेतः शृणुत धीधनाः ॥ ५ ॥
इत्यनुश्रूयते वीरश्चरमस्तीर्थनायकः ।
विपुलाद्रौ सभां दिव्यामध्युवास कदाचन ॥ ६ ॥
तत्रासीनं तमभ्येत्य वन्दित्वा मगधेश्वरः ।
उपेत्य गणभृज्ज्येष्ठमप्राक्षीज्जिनसंहिताम् ॥ ७ ॥
चराचरजगद्बन्धुस्ततस्तां जिनसंहिताम् ।
भगवान्गौतम-स्वामी मागधं प्रत्यबूबुधत् ॥ ८ ॥
ततः प्रभृत्यविच्छिन्नसर्गपर्वक्रमागता ।
मयाधुना यथोक्तेन संहिता संप्रकाश्यते ॥ ९ ॥

मागधप्रश्नमुद्दिश्य गौतमः प्रत्यवोचत।
इतीदमनुसंधाय प्रबन्धोऽयं निबध्यते ॥ १० ॥
संगतं हितमेतस्यां भव्यानामितिसंहिता।
जिनसम्बन्धिनी सेयं नाम्ना स्याज्जिनसंहिता ॥ ११ ॥
हितार्थिनो ये जिनसंहितामिमां पठन्तु ते श्रद्दधतः सहादरम्।
प्रकाशितां विश्वपदार्थदर्शिभिः प्रमाणभूतैर्वृषभैः कवीश्वरैः ॥१२॥
पूज्यं पूजार्हमर्हन्तं प्राप्यपायादिसम्पदम्।
प्रणिपत्य प्रवक्ष्यामि पूजासार-समुच्चयम् ॥ १३ ॥
पूज्यो जिनपतिः पूजा पुण्यहेतुर्जिनार्चना।
फलं स्वाभ्युदया मुक्तिः भव्यात्मा पूजकः स्मृतः ॥ १४ ॥

× × × ×

मध्य भाग (पत्रपृष्ठ १४ पंक्ति ३)

ओं शक्रवह्नियमनैऋर्तिवार्धिवायुयक्षेशशेषशशिसंज्ञकलोकपालाः।
पूर्वादिकासु विभवेन दिशासु वेद्यास्तिष्ठन्तु लब्धकुसुमादिकयज्ञभागाः॥
ओं भक्तितः सुरधरैरिति पञ्चवर्णमाणिक्यचूर्णरजसा परिकल्पितायाः।
वेद्या विदिक्षु कुलिशान् विलिखेत् सुरेन्द्रो रुन्द्रश्रिया परिगतो वरवज्रचूर्णैः॥

अथैवं वेदिकाविधानं परिसमाप्य तत्तन्मालामन्त्रैः पञ्चोपचारविधिना वेदिकायां लिखिततद्दलकोष्ठनिवासिदेवान् पञ्चगुरुमुख्यान् समाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृत्य संपूज्य वेदिकामलङ्कृत्य वेदिकाविधानं कर्त्तव्यम्।

इति श्रीमाघनन्दिसुतश्रीवादिकुमुदचन्द्रपण्डितदेवविरचिते प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणे वेदिकाविधानम् समाप्तम्।

× × × × ×

अन्तिम भाग—

इति श्रीमाघनन्दिसिद्धांतचक्रवर्त्तिसुतचतुर्विधपाण्डित्यचक्रवर्त्तिश्रीवादिकुमुदचन्द्रपण्डितदेवविरचिते प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणे यन्त्रार्चनविधिः समाप्तः।

इसके रचयिता पण्डितदेव कुमुदचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती माघनन्दी के पुत्र हैं। यह बात मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोकान्तर्गत " तनूभव " एवं प्रशस्तिगत " सुत " शब्द से स्पष्ट प्रतीत होती है। परन्तु पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने " माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला " में प्रकाशित " सिद्धान्तसारादिसंग्रह " के " ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय " में

'तनूभव' शब्द का उल्लेख करते हुए भी कोष्ठक में इन कुमुदचन्द्र को माघनन्दी सिद्धान्त-चक्रवर्ती का शिष्य लिखा है—यह बात विचारणीय है। संभव है कि कहीं कहीं * शिष्य के अर्थ में पुत्र शब्द का प्रयोग देख कर प्रेमीजी ने यह लिख दिया हो। किन्तु यहाँ तो "तनूभव" शब्द है, जिसका अर्थ एकान्ततः शरीरजन्मा अर्थात् आत्मज होता है। बल्कि प्रेमीजी ने मद्रास की ओरियन्टल लायब्रेरी में संगृहीत "प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण" या "जिनसंहिता" के प्रारम्भिक भाग और प्रशस्ति को उद्धृत करते हुए जिस कुमुदचन्द्र को उस "परिचय" में माघनन्दी का शिष्य बतलाया है उसी कुमुदचन्द्र को M. Rangacharya M.A., और S. Kuppuswami Shastri M.A., इन दोनों प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ताओं ने A Descriptive Catalogue of the Sanskrit manuscripts in the Government Oriental manuscript Library Madras नामक ग्रन्थतालिका में उक्त पुस्तक का उद्धरण कर सम्पादक की हैसियत से 6345 पृष्ठ में साफ साफ पुत्र लिखा है। संभव है कि सिद्धान्त-विपरीत समझ कर कोष्ठक में इन्हें प्रेमीजी ने शिष्य लिख दिया हो। परन्तु मैं यह समझता हूँ कि कुमुदचन्द्र जी ने वंश-परम्परागत पाण्डित्य-परिपाटी को प्रकटित करने के लिये ही गौरवरूप में विद्वद्वर्य माघनन्दी का अपने को पुत्र होना स्वीकार किया है।

इसका मतलब यह नहीं है कि मैं प्रेमीजी के मन्तव्य का खण्डन कर रहा हूँ। इसमें मेरा केवल यही अभिप्राय है कि उल्लिखित 'तनूभव' शब्द का अर्थ पुत्र होना चाहिये। बल्कि अन्यान्य विद्वानों ने भी इसका यही अर्थ किया है और माना है। मैं समझता हूँ कि प्रेमीजी भी उक्त शब्दों का अर्थ एकान्ततः शिष्य नहीं मानते। अन्यथा इसे कोष्ठक में रखने की उन्हें जरूरत ही क्या थी? मैं ऊपर यह बात सप्रमाण लिख चुका हूँ कि कहीं कहीं पुत्र, सुत, अपत्य एवं सूनु शब्द का प्रयोग शिष्य अर्थ में भी होता है। अतः इस विषय पर मेरा सर्वथा कदाग्रह नहीं है, पर हाँ विचारणीय अवश्य है।

अस्तु माघनन्दी नाम के कई आचार्य हो गये हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कुमुदचन्द्र के पिता या गुरु कौन से माघनन्दी हैं। "कर्नाटक कविचरिते" के मतानुसार एक माघनन्दी का समय सन् १२६० (वि० सं० १३१७) है। इन्होंने शास्त्र

* "दे [जो] यात् श्रीधरदेवशिष्यतिलकः श्रीवासुपूज्यो मुनिः
त्रैविद्यस्तदपत्यनुत्याद्येन्दुख्यातसैद्धान्तिकः।
तत्पुत्रः कुमुदेन्दुयोगितिलकस्तत्सूनुरत्युन्नतः
सिद्धान्तार्णवचन्द्रमाः सुखपदं श्रीमाघनन्दी व्रती॥"
(शास्त्रसारसमुच्चय की कन्नड टीका पृष्ठ ३३१)

सारसमुच्चय की एक कन्नड टीका लिखी है एवं माघनन्दी श्रावकाचार के कर्त्ता तथा पदार्थसार के टीकाकार भी आप ही हैं। शास्त्र सारसमुच्चय के मूल रचयिता भी माघनन्दी ही कहे जाते हैं ॐ। शास्त्र-सारसमुच्चय के टीकाकार ने अपनी गुरु-परम्परा यों बतलायी है :—

× × × × (१) श्रीधरदेव (२) वासुपूज्य (३) उदयेन्दु (४) कुमुदेन्दु या कुमुदचन्द्र (५) माघनन्दी। इससे सिद्ध होता है कि इस कन्नड़ टीकाकार माघनन्दी के गुरु कुमुदचन्द्र हैं। अगर प्रस्तुत प्रतिष्ठाकल्प के कर्त्ता यही कुमुदचन्द्र टीकाकार माघनन्दी के गुरु हों तो इनका भी समय लगभग यही होना चाहिये। श्रवण-बेलगोळ के शिलालेख नं० १२६ (३३४) में भी एक कुमुदचन्द्र और माघनन्दी का उल्लेख मिलता है। इसमें कुमुदचन्द्र को माघनन्दी का गुरु† लिखा है। इस शिलालेख का समय शक सम्वत् १२०५ ई० सन् १२८२ है। शिलालेख-गत कुमुदचन्द्र और माघनन्दी मेरे प्रस्तावित कुमुदचन्द्र और माघनन्दी से अभिन्न मालूम होते हैं। बल्कि "कन्नड कविचरित" के सुयोग्य सम्पादक आर० नरसिंहाचार्य एम० ए० भी इन्हीं कुमुदचन्द्र को शास्त्र-सारसमुच्चय के टीकाकार माघनन्दी का गुरु मानते हैं‡। उपर्युक्त शास्त्र-सारसमुच्चय के टीकाकार माघनन्दी की गुरु-परम्परा में कुमुदचन्द्र के पहले इनके पिता या गुरु माघनन्दी का नाम न मिलकर उदयेन्दु का नाम दृग्गोचर होता है, अतः इसी कुमुदचन्द्र को टीकाकार माघनन्दी का गुरु मानने में कुछ खटकता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि पता नहीं लगता कि कुमुदचन्द्र के पिता या गुरु कौन से माघनन्दी हैं। बल्कि मेरे मन में यह भी विचार उठ खड़ा होता है कि शास्त्र-सारसमुच्चय के मूल रचयिता एवं टीकाकार माघनन्दी एक ही हैं। अर्थात् कुमुदचन्द्र के शिष्य माघनन्दी ही शास्त्र-सार-समुच्चय के कर्त्ता हैं और इन्हीं की स्वोपज्ञ कन्नड टीका भी है। फिर भी इसे मैं अभी सिद्धान्त-रूप में स्वीकार नहीं करता हूँ। इस विषय पर अभी खोज करने की जरूरत है। आश्चर्य नहीं कि

ॐ श्रीमाघनन्दी योगीन्द्रः सिद्धांताम्भोधिचंद्रमाः।
अचीकरद्विचित्रार्थं शास्त्रसारसमुच्चयम् ॥

(सिद्धांतसारादि-संग्रह)

† नमः कुमुदचंद्राय विद्याविशदमूर्त्तये।
यस्य वाक्चन्द्रिका भव्यकुमुदानन्ददायिनी ॥३॥
नमो नम्रजनानंदस्यन्दिने माघनन्दिने।
जगत्प्रसिद्धसिद्धान्तवेदिने चित्प्रमोदिने ॥४॥

‡ भास्कर भाग २, किरण ४, पृष्ठ १४२ देखें।

स्वगुरु कुमुदचन्द्र के समान शिष्य इस माघनन्दी ने स्व-रचित शास्त्र-सारसमुच्चय पर स्वयं कन्नड वृत्ति लिखी हो।

"कर्नाटक कविचरिते" के सुज्ञ लेखक आर० नरसिंहाचार्य एम० ए० उक्त ग्रंथ के भाग २ पृष्ठ ११ में एक वादिकुमुदचन्द्र का परिचय इस प्रकार देते हैं :—" इन्होंने जिनसंहिता नामक प्रतिष्ठा कल्प पर कन्नड व्याख्यान लिखा है। उसके प्रारम्भ में यह श्लोक है " यों लिख कर प्रस्तुत प्रतिष्ठाकल्प से उद्धृत उल्लिखित प्रारम्भिक श्लोक एवं प्रशस्ति को ही प्रमाण-रूप से आप प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पर भी आपने मेरे पूर्व कथनानुसार कुमुदचन्द्र को माघनन्दी सिद्धान्त-चक्रवर्ती का शिष्य न लिख कर पुत्र ही लिखा है। बल्कि प्रेमी जी ने भी इसका अनुवाद करते हुए "अनेकान्त" वर्ष १ पृष्ठ ४६० में इन्हें पुत्र ही लिख कर मेरे मन्तव्य को और प्रशस्त कर दिया है। आर० नरसिंहाचार्य जिस वादिकुमुदचन्द्र को जिनसंहिता का कन्नड व्याख्याता बतलाते हैं वही कुमुदचन्द्र मेरी समझ में उसके मूल कर्त्ता भी हैं। क्योंकि टीकाकार के परिचय में आप ने जो प्रारम्भिक श्लोक और प्रशस्ति उद्धृत किये हैं वे ज्यों के त्यों मूलग्रंथ के हैं। अतः जिनसंहिता के मूलकर्त्ता तथा कन्नड व्याख्याता एक ही कुमुदचन्द्र कहने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं मालूम पड़ती। 'कवि-चरिते' के सम्पादक आगे लिखते हैं कि " देवचंद्र के 'रामकथावतार' (ई० सन् १७९७) से मालूम होता है कि कुमुदचन्द्र ने एक रामायण भी लिखी है। इसका समय लगभग ई० ११०० होना चाहिये।" यहाँ विचारणीय बात यह उपस्थित होती है कि आप ही के लेखानुसार शास्त्र-सार-समुच्चय के टीकाकार माघनंदी के समय (ई० सन् १२६०) से इस वादिकुमुदचंद्र (ई० सन् ११००) का समय बहुत पीछे पड़ जाता है, जिसे मैंने ऊपर जिनसंहिता के मूलकर्त्ता एवं इस माघनंदी का गुरु बतलाया है। पता नहीं कि आप ने किस प्रमाण के आधार पर उल्लिखित वादिकुमुदचन्द्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी बतलाया है। मालूम होता है कि आप की दृष्टि में माघनंदी के गुरु कुमुदचन्द्र और यह वादि-कुमुदचन्द्र भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं।

इस जिनसंहिता में निम्नलिखित प्रकरण हैं :—

(१) पूज्य-पूजकपूजकाचार्य-पूजाफल-प्रतिपादन (२) त्रैवर्णिकाचार-विधि (३) सकलीकरण-विधि (४) ध्वजारोहण-विधि (५) अङ्कुरारोपण-विधि (६) विमानशुद्धि (७) होमविधि (८) वेदिका-विधान (९) अभिषेक-मण्डप-विधान*। *भवन की यह प्रति शुद्ध है तथा भाषा-शैली परिमार्जित है। किन्तु अन्तिम भाग देखने से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ अपूर्ण है।*

---

* मद्रास की ग्रंथ-तालिका से।

(१६) ग्रन्थ नं०—$\frac{२२३}{ख}$

पञ्चनमस्कार-चक्र

कर्त्ता—

विषय—मन्त्रशास्त्र

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१४ इञ्च *चौड़ाई—८ इञ्च* *पत्रसंख्या ५६*

प्रारम्भिक भाग—

येनास्यामवसर्पिण्यामादावुत्पाद्य केवलम्।
कृत्स्नो मन्त्रविधिः प्रोक्तस्तस्मै× × × × × ×॥

ॐ णमो अरहन्ताणम्। ॐ णमो सिद्धाणम्। ॐ णमो आइरियाणम्। ॐ णमो उवज्झायाणम्। ॐ णमो लोए सव्वसाहूणम्।

शान्तिकपौष्टिकवशीकरणाकर्षणमोहनोच्चाटनविद्वेषणरत्तणाद्यनेकक्रियासाधनस्य चौरारिमारिकृतोपसर्गविनाशनस्य सर्वव्याधिविनाशनस्य व्याघ्राहिद्विपडाकिनीभूत-राक्षसपिशाचादिभयापहारस्य सर्वशत्रुमदभञ्जनस्य स्वर्गापवर्गसाधनस्य इह लोकेऽभ्युदयावहस्य पञ्चनमस्कारचक्रस्य विधानं व्याख्यास्यामः।

× × × × × ×

मध्यभाग (पूर्व पृष्ठ १५ पंक्ति १२)

साधकनामगर्भं छकारमालिख्य बाह्ये ग्लौंकारेण प्रच्छाद्य तद्बाह्ये सानुस्वारहकार छकाराभ्यामावेष्ट्य तत्सर्वं वज्रविद्धं कृत्वा बाह्ये पृथ्वीवलयं लेख्यं कुंकुमादिभिर्भूर्जे लिखित्वा सूत्रेण सिक्थकेन वेष्टयित्वा जले प्रक्षिपेत्। अग्निस्तंभनम्।

सम्यग्दृष्टिजनस्य एषा विद्या दातव्या। निन्दासूयानास्तिक्ययुक्तानां धर्मद्वेषिणां मिथ्यादृशामपुष्टधर्माणाञ्च न दातव्या। कदाचिद्दत्ते(?) सति (?) तदा महापातकं प्रयुक्तं भवति।

एवं पञ्चनमस्कारचक्रं समाप्तमिति।

यह पंचनमस्कार-चक्र मन्त्रशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ है। मन्त्र-ग्रन्थों का मूल "विद्यानुवाद" नाम का दशमपूर्व कहा जाता है। जैन मंत्र-साहित्य में "नमस्कार-मन्त्रकल्प"

श्री-पूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक—पण्डित सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

(क्रमागत)

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग, ताम्रभस्म ८ भाग, शुद्ध मैनशिल ३ भाग, और तवकिया हरताल को भस्म दो भाग ले सबको एकत्रित कर पानी से मर्दन करे तथा उसमें १ भाग कालीमिर्च, और २ भाग शुद्ध विषनाग लेकर सबको न्यागड़ (संभालु) की पत्ती तथा भंगरा की पत्ती के रस में सात सात दिन मर्दन करके सुखा कर रख ले। फिर इसको दो दो रत्ती के प्रमाण से अदरख के रस के साथ या त्रिकुटा के रस के साथ देवे तो इसके सेवन से पांडु, कामला, राजयक्ष्मा, वातव्याधि, श्वास, खांसी, कृमिरोग, गुल्मरोग, सब प्रकार का शूल तथा त्रिदोषज व्याधि, प्रमेह, प्लीहा, जलोदर, ग्रहणी, कुष्ठ, धनुर्वात इत्यादि दोषों को यह दूर करता है। इसको २१ दिन सेवन करना चाहिये, इस के ऊपर पौष्टिक भोजन, दही, चावल, मही, भात हितकारी है। यह योग मनुष्यों के रोगरूपी अन्धकार को नाश करनेवाला उदय भास्कर रस है तथा सम्पूर्ण रोगों को नाश करनेवाला है। यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

६२—सर्वव्याधौ उदयादित्यवर्णरसः

रसस्य द्विगुणंगंधं गंधसाम्यं च टंकणं।
तत्समं मृतलौहेन तत्समं नागभस्मकं ॥१॥
तत्समं हेमभस्मैव रसभस्म पुनः पुनः।
सर्वमेकोत्तरं वृद्धि हंसपाद्या च मर्दयेत् ॥२॥
रससाम्यं विषं योज्यं कांतभस्म पुनः पुनः।
मुक्ताप्रवालभस्मापि विषस्य द्विगुणं भवेत् ॥३॥
तत्समं ताम्रभस्मैव कांस्यभस्म पुनः पुनः।
सर्वमेतत्तु संमिश्र्य काकमाच्या च मर्दयेत् ॥४॥
कन्यानिर्गुंडिकाभिश्च हंसपाद्या रसेन च।

पृथक् विमर्द्य खल्वे च सप्तवारं पुनः पुनः ॥५॥
ततोऽक्षमात्रान् वटकान् स्थापयेत् कांचभांडके (कूपिकायां)।
पतल्लवणयंत्रे च यंत्रे खेचरके पृथक् ॥६॥
इष्टिकायंत्रके पाच्यं चूर्णशुद्धतरं भवेत्।
उदयादित्यवर्णाख्यो नाम्ना चोदयभास्करः ॥७॥
सर्वव्याधिहरं नाम्न वल्लमात्रं तु सेवयेत्।
चातुर्थिकप्रशमनं पथ्यं दध्योदनं हितम् ॥८॥
सर्वज्वरहरं नामा सर्वरोगनिकृंतनः।
अष्टादशविधं कुष्टं सन्निपातत्रयोदशं ॥९॥
नाशनं राजयक्ष्माणां चानुपानविशेषतः।
त्रिकुटत्रिफलाचूर्णं निर्गुण्डी चार्द्रवारिणा ॥१०॥
शर्करामिश्रितं देयं तत्प्रयोगेन योजयेत्।
महारसमिदं प्रोक्तं नाम्ना चोदयभास्करः ॥११॥
इन्द्रियाणां बलकरो पूज्यपादेन भाषितः।

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, शुद्ध गंधक २ भाग, शुद्ध सुहागा २ भाग, लौह भस्म २ भाग, शीशाभस्म २ भाग, सोने की भस्म २ भाग इस प्रकार वृद्धि करके सबको एकत्रित कर हंसपादी (हंसराज) के रस में घोंटे तथा १ भाग शुद्ध विषनाग, कांतलोह की भस्म १ भाग, मोती की भस्म, मूंगे की भस्म दो दो भाग, तामे की भस्म २ भाग, शुद्ध विष २ भाग, कांसे की भस्म २ भाग इन सबको लेकर मकोय, घीकुवांरी, नेगड़ (सम्हालू) तथा हंसपादी के रस में अलग अलग सात सात बार मर्दन कर इनकी एक एक तोले की गोली बनावे और कांच की कूपी में रख देवे इसको लवण यंत्र, इष्टिका यंत्र एवं खेचर यंत्र में क्रम से पकावे। इन सबका चूर्ण बना ले यह उदय हुये सूर्य के वर्ण के समान उदयादित्य वर्ण रस तीन तीन रत्ती की मात्रा से सेवन करने से सम्पूर्ण व्याधियों को नाश करनेवाला तथा चौथिया ज्वर को दही भात के पथ्यपूर्वक शांत करनेवाला एवं सर्वप्रकार के ज्वरों को दूर करनेवाला है। इसके अतिरिक्त अठारह प्रकार के कोढ़, तेरह प्रकार के सन्निपात तथा अनुपान विशेष से राजयक्ष्मा को नाश करनेवाला है। यह रस सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला के चूर्ण के साथ तथा नेगड़ और अदरख के साथ देने से वातादि रोगों को भी नाश करता है। अनुपान-भेद से सब रोगों पर चलता है। पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ यह रस अत्यन्त बलकारी है।

६३—कामादौ गगनेश्वररसः

अभ्रकं वत्सनाभं च सूतं गंधकटंकणं।
लौहभस्म ताम्रभस्म व्योषधत्तूरबीजकम् ॥१॥
बिल्वमज्जा वचा ग्राह्या चातुर्जातविडंगकम्।
सर्वं तुल्यं क्षिपेत् खल्वे मद्यं भृंगरसैर्दिनम् ॥२॥
विजयारससंयुक्तं याममेकं विमर्दयेत्।
गुंजाद्वयं लिहेत् क्षौद्रैः पंचकासक्षयापहः ॥३॥
गुल्मशूलादिरोगघ्नश्चाम्लपित्तविनाशनः।
सन्निपातं वातरोगं ग्रहण्यामयशोधनम् ॥४॥
गगनेश्वरनामायं रसोऽयं सर्वरोगजित्।
कासादिकविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका-अभ्रकभस्म, विषनाग, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, सुहागा, लोहभस्म, ताम्रभस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल, धतूरे के शुद्ध बीज, बेलगिरी, सफेदवच, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेशर और विडंग सब बराबर-बराबर लेकर खल में डाल कर भंगरा के रस में मर्दन करे, फिर भांग के रस में घोंटे और जब तैयार हो जाय, तो दो-दो रत्ती के प्रमाण से शहद के साथ सेवन करे तो पांच प्रकार की खांसी, क्षय, गुल्मशूल, अम्लपित्त, सन्निपात, वातरोग और संग्रहणी इत्यादि को नाश करनेवाला है। यह गगनेश्वर रस सम्पूर्ण रोगों को जीतनेवाला है तथा खांसी और विष के दोष को नाश करनेवाला उत्तम योग है।

६४—शीतज्वरे कारुण्य-सागररसः

पारदं वत्सनाभं च शुद्धा चैव मनःशिला।
हरितालं शुभं गंधं निर्गुंडी कारवल्लिका ॥१॥
द्रवैश्चासां सदा कुर्यात् वटीं सर्षपमात्रिकाम्।
मृद्वीकाजीरकेणापि प्रदद्यात् भिषगुत्तमः ॥२॥
शीतज्वरहरो नाम कारुण्यरससागरः।
सर्वशीतज्वरध्वंसी पूज्यपादेन भाषितः ॥३॥

टीका—पारा, विषनाग, मैनशिल, हरिताल भस्म और गन्धक इन पांचों को शुद्ध कर कजली बना कर नेगड़ तथा करेले के रस में इनकी सरसों बराबर गोली बनावे और यह गोली सुबह शाम मुनक्का तथा जीरे के साथ देवे तो सब प्रकार का शीतज्वर दूर होवे।

६५—सन्निपाते सन्निपात-विध्वंसकरसः

सूतं गंधं समं शुद्धं तालकं माक्षिकं तथा।
मृतताम्राभ्रकं बोलं विषं धत्तूरबीजकं ॥१॥
क्षारत्रयं वचाहिंगुपाठाशृंगिपटोलकम्।
बंध्यानिंबत्रयं शुण्ठीकंदलांगुलिजं समम् ॥२॥
सिन्दुवारद्रवैः सर्वं मर्द्यं जंबीरजैर्द्रवैः।
चणकप्रमितां कुर्यात् सिन्दुवारद्रवैः वटीम् ॥३॥
अत्युग्रसन्निपातोत्थं सर्वोपद्रवसंयुतम्।
निहन्यादनुपानेन दशमूलार्द्रकेण वै ॥ ४ ॥
कषायेण न संदेहः पथ्यं दध्योदनं हितम्।
रसो विध्वंसको नाम सन्निपातनिकृन्तनः ॥५॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्धगन्धक, हरताल-भस्म, सोनामक्खीभस्म, ताम्रभस्म, अभ्रक भस्म, शुद्ध बोल, शुद्ध विषनाग, शुद्ध धतूरा के बीज, सज्जीखार, जवाखार, सुहागा, बचदूधिया, हींग, सोनापाठा, काकड़ासिंगी, परवल के पत्ता, बांझ ककोड़ा, नीम, सोंठ, लांगली का कंद इन सब को लेकर कूट पीस कर कपड़छान करके नेगड़ की पत्ती के रस में तथा जंबीरी नीबू के रस में घोंट कर नेगड़ की पत्ती के रस में चना के बराबर गोली बनावे। यह गोली अत्यन्त बढ़ा हुआ जो सन्निपात है उसको भी शान्त करता है। अनुपान में दशमूल का क्वाथ या अदरख रस या क्वाथ देना चाहिये।

६६—सन्निपाते पंचवक्त्ररसः

शुद्धं सूतं विषं गंधं मरिचं टंकणं कणा।
मर्दयेत् धूर्तजद्रावैः दिनमेकं विशोषयेत् ॥१॥
पंचवक्त्ररसो नाम द्विगुंजं सन्निपातजित्।
अर्कमूलकषायेण सव्योषमनुपाययेत् ॥२॥
दाडिमैरिक्षुदंडं च दधिभोजनशीतलं।
पूर्ववत्स्थाप्यते पथ्यं जलयोगं च कारयेत् ॥३॥

टीका—शुद्धपारा, शुद्ध गन्धक, शुद्धविष, काली मिर्च, सुहागे का फूला और पीपल इन सब को धतूरे के रस में एक दिन घोंट कर सुखा लेवे, यह पञ्चवक्त्र रस दो दो रत्ती के प्रमाण से सेवन करने पर अनेक प्रकार के सन्निपातों को जीतनेवाला है। इसका अनुपान आक

की जड़ की छाल का काढ़ा सोंठ, मिर्च, पीपल के सहित ऊपर से पिलावे तथा अनार पौड़ा (गन्ना) दही-भात तथा ठंढा जल का पथ्य दे। इसका सेवन करना चाहिये, सिर पर पानी डालना चाहिये।

६७—प्रमेहे द्वितीयः पंचवक्त्ररसः

मृतं लौहाभ्रकं तुल्यं धात्रीफलनिजद्रवैः।
सप्ताहं भावयेत् खल्वे रसोऽयं पंचवक्त्रकः ॥१॥
मासमेकं रसं खादेत् सर्वमेहप्रशांतये।
महानिंबस्य बीजानि पूर्ववत्तंडुलोदकैः ॥२॥
सघृतैः पाययेच्चानु ह्यसाध्यं साधयेत् क्षणात्।
अनेन चानुपानेन पंचवक्त्ररसो हितः ॥३॥

टीका—अभ्रक भस्म तथा कांतलौह भस्म इन दोनों को बराबर बराबर लेकर आंवले के फल के रस में सात दिन तक खरल में लगातार घोंटे, तब यह पञ्चवक्त्र नाम का रस तैयार होता है। यह रस एक माह तक सेवन करने से सब प्रकार का प्रमेह शांत करता है। इसका अनुपान बकायन के बीजों की गिरी को चावल के पानी में पीस कर उसमें घी डाल कर ऊपर से पीना चाहिये तथा इस रस की एक एक रत्ती के प्रमाण से शहद या मिश्री की चाशनी में खाना चाहिये। इससे असाध्य प्रमेह भी शान्त हो जाता है।

६८—श्वासादौ शिलातलरसः

तालं द्वादशभागं च चतुर्भागा मनःशिला।
त्रिकंटकरसैर्भाव्यं वालुकायंत्रपाचितम् ॥१॥
यामद्वयात् समुद्धृत्य तत्तुल्यं च कटुत्रयम्।
निर्गुण्डीमूलचूर्णं तु सर्वतुल्यं प्रदापयेत् ॥२॥
शिलातलरसो नाम मासैकं श्वासकासजित्।
योगोऽयं सर्वश्रेष्ठः स्यात् पूज्यपादेन भाषितः ॥३॥

टीका—हरताल तबकिया भस्म १२ भाग तथा शुद्ध मैनशिल ४ भाग इन सब को गोखरू के रस से भावना देवे तथा सुखा कर वालुका यंत्र में दो पहर तक पाचन करके बाद निकाल लेवे, उसमें सबके बराबर सोंठ, मिर्च और पीपल मिलाकर फिर सबके बराबर सम्भालू (निर्गुण्डी) की जड़ का चूर्ण मिलावे, बाद इसको अनुपान-विशेष से

एक माह तक सेवन करे, तो सब प्रकार के श्वासकास नष्ट होते हैं। यह योग सर्वश्रेष्ठ है—पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

६६—कुष्ठरोगे मेदिनीसाररसः

पलत्रयं मृतं लोहं मृतं शुल्वं पलत्रयं।
भृंगराजाम्बुगोमूत्रत्रिफलाक्वाथितैः पृथक् ॥१॥
पुटे त्रिवारं यत्नेन तस्मिन्नेव परिक्षिपेत्।
बीजपूररसस्यापि क्वाथे यामचतुष्टयम् ॥२॥
पुनश्च तुल्यं गंधेन पुटानां विंशति दहेत्।
पलमात्रं मृतं सूतं रुद्रांशममृतं तथा ॥३॥
कटुत्रयं समं सर्वैः पिष्ट्वा सम्यग्विदापयेत्।
रसोऽयं मेदिनीसारो नाम्ना च परिकीर्तितः ॥४॥
सेवितो वल्लमानेन घृतं त्रिकुटकान्वितम्।
इति सर्वाणि कुष्ठानि चित्राणि विविधानि च ॥५॥
गुल्मप्लीहामयं हिक्कां शूलरोगमनेकधा।
उदावर्तं महावातं कफमन्दानलं तथा ॥६॥
गलग्रहं महोन्मादं कर्णनादामयं तथा।
सर्पादिकं विषं घोरं वृणं लूताभगंदरं ॥७॥
विद्रधिं चांडवृद्धिं च शिरस्तोदं च नाशयेत्।
पूज्यपादप्रयुक्तोऽयं मेदिनीरस उत्तमः ॥८॥

टीका—तीन पल कांत लोह की भस्म, तथा तीन पल तामे की भस्म, इन दोनों को एकत्रित करके भंगरा के रस, गोमूत्र एवं त्रिफला के काढ़े से अलग अलग भावना देकर पुट देवे तथा बीजौरा नीबू के रस से चार पहर तक घोंट कर सुखा लेवे, तब उसी रस के बराबर शुद्ध गन्धक डाल कर घोंट कर पुट देवे। इस प्रकार बिजौरा के रस की २० पुट देवे तथा उसमें १ पल रससिन्दूर तथा उस चूर्ण से ११ वां हिस्सा शुद्ध विषनाग और त्रिकटु का चूर्ण सब के बराबर ले कर सब को उसी तैयार हुये रस में मिला कर घोंटे, बस यह मेदिनी सार रस तैयार हो गया समझें। इसको तीन २ रत्ती की मात्रा से घी तथा त्रिकटु चूर्ण के साथ खाने से अनेक प्रकार के कुष्ठ रोग दूर होते हैं। अनुपान-विशेष से गुल्म, प्लीहा, हिचकी, शूलरोग, उदावर्त, महावात, कफजन्य व्याधि, मन्दाग्नि, गले के रोग, उन्माद, कर्णरोग तथा सर्पादिक के विष की पीड़ा, भय-

क्रूर व्रण, लूता (मकड़ी का विष), भगंदर, विद्रधि, अण्डवृद्धि, शिर की पीड़ा वगैरह सब शांत होते हैं। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ मेदिनीसार रस उत्तम है।

७०—ज्वरादौ ज्वरकुठाररसः

सहस्रभेदी कनकस्य बीजं यष्टिलवंगकम्।
शिलात्वचा च संयुक्तं चैतेषां समभागकम् ॥१॥
नालिकेरांबुना पिष्ट्वा तदलाभे तुषांबुना।
चणकप्रमाणगुटिकां कृत्वा छायाविशोषितां ॥२॥
नालिकेरांबुना पेयादथवा तुषवारिणा।
शर्करासहिता जीर्णगुडेन सहसा तथा ॥३॥
जिह्वादोषं सन्निपातं प्रलापं कफदोषजं।
दोषत्रयोक्तरोगं च ज्वरं सद्यो नियच्छति ॥४॥
रसो ज्वरकुठारश्च सर्वज्वरविमर्दनः।
अनुपानविशेषेण पूज्यपादेन भाषितः ॥५॥

टीका—अमलबेंत, शुद्ध धतूरा के बीज, मुलहठी, लौंग, शुद्ध मैनशिल, दालचिनी इन सब को बराबर-बराबर लेकर नारियल के पानी में घोंटे यदि नारियल न मिले तो धान की तुषा के जल से घोंट कर चने के बराबर गोली बांध लेवे, तथा छाया में सुखावे और नारियल के या धान्य के तुषा के जल से अथवा शक्कर या पुराने गुड़ के साथ सेवन करावे तो इससे जिह्वादोष, सन्निपात, प्रलाप, कफ-दोष, त्रिदोषज सम्पूर्ण रोग तथा सब प्रकार के ज्वर शान्त होते हैं। यह ज्वर-कुठार विविध ज्वरों को नाश करनेवाला है। यह रस पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ है।

७१—शीतवाते अग्निकुमाररसः

रसभस्म च भागैकं मृतशुल्वं तथैव च।
विषं च तत्समं ग्राह्यं गंधकं त्रिगुणं कुरु ॥१॥
निर्गुण्डी चाग्निमंथानि वह्निव्याघ्रिद्वयं तथा।
पातालतुंबिका ग्राह्या चेन्द्रवारुणिका तथा ॥२॥
सर्वेषां स्वरसेनैव भावयेदेकविंशतिम्।
रसो ह्यग्निकुमारोऽयं पूज्यपादेन निर्मितः ॥३॥

शीते वाते सन्निपाते यमालयगतेऽपि च ।
गुंजिकाष्टप्रमाणेन सर्वज्वरनिषूदनः ॥४॥
सूचिकाग्रे प्रदातव्यः मृतो जीवति तत्क्षणात् ॥५॥

टीका—पारे को भस्म, तांबे को भस्म, शुद्ध विषनाग एक-एक भाग तथा शुद्ध गंधक १ भाग इन सब को एकत्रित करके नेगड़, गनयारी, चित्रक, बड़ी कटहली, छोटी कटहली, पाताल गरुड़ी, इंद्रायन इन सब के रस से तीन तीन अलग अलग भावना देवे तब यह अग्निकुमार रस तैयार हो जाता है। यह पूज्यपाद स्वामी का कहा हुआ रस शीत में, वात में, सन्निपात में ८ रत्ती के प्रमाण देने से एवं तीव्र हैजा में भी मृत प्राय हो जाने पर भी इस से लाभ हो जाता है ।

७२—ज्वरे लघुज्वरांकुशः

रसगंधकताम्राणां प्रत्येकं चैकभागकं ।
खल्वे द्विगजभागांशं देयं च धूर्तबीजयोः ॥१॥
मातुलुंगरसेनैव मर्दयेद्वा रसं बुधैः ।
कासमर्दकतोयेन सिद्धोऽयं जायते रसः ॥२॥
निंबमज्जार्द्रकरसैः वल्लं देयं त्रिदोषजित् ।
ज्वरे दध्योदनं पथ्यं शाकतुंडिफलं ददेत् ॥३॥
लघु ज्वरांकुशो नाम पूज्यपादेन भाषितः ।

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म इन तीनों को एक एक भाग लेकर तथा चार भाग धतूरे के शुद्ध बीज लेकर सब को खल में डाल बिजोरा नीबू के रस में मर्दन करे और कसोंदन के रस में मर्दन एवं सुखा कर रख लेवे, इसको तीन तीन रत्ती की मात्रा से नीम की मींगी के और अदरख के रस के साथ दिया जाय तो त्रिदोषज ज्वर में लाभ होवे। इसका पथ्य दही भात है तथा कौवाटोंडी का शाक भी दे सकते हैं। यह सब प्रकार के ज्वरों में दे सकते हैं। यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है ।

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Angl-Hindi quarterly Journal,

Vol. II.] September, 1936. [No. II.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy Rs. 1-4**

Om.

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. II. No. II	ARRAH (INDIA)	Sept., 1936.

What Jainism Stands for?

(By H. L. Jain, M.A., LL.B., King Edward College, Amraoti.)

LADIES AND GENTLEMEN,

It is a great pleasure to me to associate myself with the celebrations that are being held in honour of the Centenary of Shri Ramkrishna Deva, the latest of those great saints of India who have attempted to purify and enrich the reigious life and philosophic thought of the people by their own example and precept. As we all know, the *Paramahansa* was a great harmoniser of religions which he called "Part and parcel of one Eternal Religion." It is, therefore, in the fitness of things that the organisers of these celebrations have arranged for the message of all important religions to be delivered at this occasion. I have been invited to represent Jainism. Within the short space of time at my disposal I shall confine my remarks only to those essential features of Jainism which have got a direct and practical value in life, and with which, by a happy accident, coincide the essential teachings of the saint whose Centenary we are celebrating.

This speech was delivered at the Ramkrishna centenary celebrations held at Nagpur.

According to the Jaina Puranas, there was a time when the whole society of men lived in peace and harmony, without any trouble and without any struggle, every one getting what he wanted and being satisfied with what he got. There was then no distinction of the ruler and the ruled, the master and the servant, and no idea of mine and thine different. There was then no religion. But the happy state of things was disturbed when the idea of private property and ownership caught the fancy of man. The harmony of society was then broken and an era of struggle for life and existence, with its consequent warfare and trouble, commenced. It was at this stage that the great teachers of the age preached religion in order to avoid, or, at any rate, control, as far as possible, the clashes of worldly interests by placing before men certain higher ideals. Thus, according to Jainism, religion originally came in, not for safeguarding the future life of men in heaven, but as a measure to keep peace on earth, promote good will amongst mankind and inspire hope of a higher life in the individual.

Various systems of religion have grown in the world at different times in different lands. If analysed closely and intelligently, they will all be found to contain the same truths and the same morals. Differences will be found to exist in details and for the reason that particular aspects of truth and morality are emphasised in one in a particular manner and not so emphasised in another. Jainism has attempted a *rapprochement* between these seemingly warring systems by a breadth of vision which goes under the name of *Syadvada* or *Anekanta*. The doctrine of *Anekanta* draws attention to the fact that there are innumerable qualities in things and beings that exist, and ever so many sides to every question that may arise. We can talk about or discuss only one of them at a time The seeming differences in statements vanish when we understand the particular point of view. I say "I am mortal." Another man says "I am immortal." These are diagonally opposite statements between which there seems to be very little common ground. Can we accomodate both into one system? Jainism says, "Yes; please try to understand the view-point of

each statement before declaring them to be irreconcilable. Is it not that the one who says he is mortal is emphasising the phenomenon of birth and death of this body, about which there can be no dispute, while the other who says he is immortal is thinking of the imperishable nature of things in their essence. The form of things may change but their substance, call it the soul or the primal matter, continues to subsist. Nothing that is can be annihilated." In the Jaina terminology, the one who calls himself mortal is true from the point of view of form or acquired qualities, while the other who calls himself immortal is true from the point of view of substance or inherent and essential qualities. Thus, what is irreconcilable opposition in the eyes of others is, to a Jaina, not only a mere difference of point of view but a necessary stage in understanding a thing in all its aspects. The two statements are supplementary of each other and go together to convey the truth. It is because a part is mistaken for the whole that the difference arises. Jainas illustrate this by a significant story. Seven blind men went to get an idea of the elephant. Each of them could feel with his hands only one part of the huge animal. and when they sat down to compare notes, they began to quarrel. The one who had only felt the elephants leg said that the animal was like a huge round pillar; the other who had felt the tail declared the animal to be merely like the stick; while the third who had felt the elephant's ear affirmed on oath that both of them were wrong, for he was sure the elephant was like a winnowing basket. Thus they quarrelled without any hope of coming to terms, for each had the conviction of personal experience in the matter, till, at last, a man with eyes told them that they were all right and all wrong. They were right because each of them had stated a part of the truth and they were wrong because they wanted to pass a partial truth for the whole truth. Put all the partial truths together and you get the whole elephant. Every difference in religious and philosophical ideas—in fact, in all opinions and beliefs—may, in this light, be understood to furnish not a cause for quarrel but a welcome step towards the knowledge of the real truth. It is from this point of view of its synthetic outlook that

the Jaina system has been claimed by its own logicians as a synthesis of all the so called false beliefs.

We have seen above how a difference, or, to be more accurate, a seeming difference of opinion may arise between two persons when they are actually speaking about two different aspects of the truth. There would, similarly, be a great manifestation of difference when they both use the same word in different senses. One says "God is the creator of the universe." Another says "God is not the creator of the universe." Inspite of their utter difference the two statements can very well be reconciled if the idea of God in each case is analysed when it will probably be found that the one who believes God to be the creator means by God the ultimate power of Nature which is at the root of all that exists, while the other means by it the absolved soul the ideal of peace and supreme bliss which his opponent perhaps calls by some other name such as the *Muktatma* or the like.

There can hardly be any thing of practical value in life which will hold good for all times and all places in exactly the same way. Yet these important factors of time and place are frequently neglected or forgotten in estimating the truth of different statements, and this furnishes yet another fertile source of misunderstanding A time was, for example, in the history of the Aryan race when the animal sacrifices on a large scale may have been necessitated by the circumstances, namely, extension of colonies, clearing of forests and making land suitable for agriculture. Similarly, when one kind of profession began to attract too many people irrespective of their capacity for it, while other important and vital professions began to be neglected on account of the hardness of life involved there in, it became justifiable to bring into force the law of *Varnashrama*, so that there might be men enough for all kinds of necessary work in society. It would, however, not be just nor fair to maintain and emphasise these institutions of animal sacrifice and caste-restrictions when the time for them is passed.

We might feel inclined to blame Islam for its unsparing enmity to idol-worship and the institution of cow-sacrifice. But if we

study the conditions prevailing in Arabia at the time when its great Prophet Muhammad preached these ideas, they become quite intelligible to a reasonable mind. At that time the most barbarous brutalities were in vogue for idol-worship, and even human sacrifice was rampant. If, to suppress this barbarism, Muhammad preached against idol-worship, and if, not being able to make people give up animal sacrifice altogether he substituted the cow for man, we have to thank him rather than censure him. It must be remembered in this connection that cow was not as useful to the Arabs as it is to the Indians; it was the camel that was more useful to them. Similarly the marriage laws and the law of divorce that the Prophet promulgated, how-so-ever unfair they may appear to us to-day, were, no doubt, a great improvement upon the conditions that prevailed there before him. But what was right in Arabia at a remote age can not be claimed to be equally right to-day and in India. We must take into consideration the difference in time and place.

This is, gentlemen, the doctrine of *Syadvada* or *Anekanta* or view-points which forms the basis and the *sine-qua-non* of the Jaina system of thought. It requires that all facts and assertions should be studied in relation to the particular point of view involved and with reference to the time and place If these differences are clearly understood, the differences in principles will vanish and with them the bitterness also. Obviously, this is the best means of promoting common understanding and good will amongst the followers of different faiths. One might say that this is mere common-sense and that the principle is presupposed in every system of thought. It must, however be remembered that the principle, if kept in the back ground, is always forgotten when needed most, and that common-sense, unfortunately, is a thing which is most uncommon. In the Jaina system the principle is always kept in the forefront, and, hence, religious toleration and fellowship is the essence of Jaina philosophy.

I shall now deal with another principle of Jainism which is also of very great importance and of universal application, but which has frequently been misunderstood and misrepresented.

This is the principle of *Ahinsa* or non-injury to living beings. Primarily, the preaching of *Ahinsa* was directed against the institution of animal sacrifices in which hundreds and thousands, nay, millions of dumb and harmless creatures were butchered in the name of religion. This necessarily set the Jaina saints athinking, and they asked the question. "Is this shedding of blood really necessary for the betterment of the soul?" They received an answer from their inner conscience that the shedding of blood was not only not necessary, but it was against all canons of settled and peaceful religious life and holy conduct. But when the mind is blinded by fanaticism, reason, which alone can guide us as to the requirements of time and place, becomes obscured and superstition and custom take its place So the Jaina saints decided to reawaken people as to their duty towards themselves and towards all other beings. They emphasised *Ahinsa* as the rule of good conduct. Briefly stated, it comes to mean this. Life is sacred in what-so-ever form it may exist. Therefore, injure no life, and let this be the highest ethical principle. Be a gentleman: a gentleman is one who has no tendency to do violence. Every religion worth counting recognises the sanctity of human life; Jainism wants the same feeling to be extended to other forms of life as well, namely beasts, birds and smaller creatures. But one might say that life in the world is well-nigh impossible with absolute abstention from injury to all forms of life. So Jainism distinguishes various kinds of *Hinsa* according to the mental attitude of the person committing it; for, it is the intention that causes sin. It is conceded that a good deal of injury to life is involved even in the daily duties of an ordinary man, such as walking, cooking, washing and the like pursuits. The various operations of agriculture and industry also cause destruction of life. Life, again, may have to be injured and even destroyed in the act of defending on's life and property. So, with the catholicity which characterises all its rules, Jainism does not prohibit a householder from committing these three kinds of *Hinsa* which may be called accidental, occupational and protective; rather, shirking from them would be considered a dereliction of duty. It is only

the injury for injury's sake, for the merest pleasure or the fun of it without any thought and without any obvious higher end to serve, that a householder is recommended to guard himself against. Whenever the occasion arises, let him ask to himself the question. "Is it necessary for me to injure this being, and if so, what is the minimum amount of injury that will serve the needs?" This much care and caution would save him from a lot of wanton destruction.

It is not the infliction of physical injury alone that constitutes *Hinsa*, but violence in words and violence in thought is also *Hinsa*, and one must abstain from these too. Would these be called by reasonable men principles calculated to weaken communities and nations? In this age of armament and rearmament, one feels inclined to say 'Yes' to this question But if religion has to fulfil its mission of bringing peace on earth and good will amongst mankind, it must always emphasise the ultimate good, and declare evil as evil, howsoever inavoidable it may appear at any particular time Consistently with this view, Jainism wants abstention from injury to life to be established as a rule of good conduct: it wants to make people gentlemen who have no tendency to do violence to any body. With its outlook of *Anekanta* Jainism recognises that it is not always easy or good to abstain from inflicting injury; in such cases it recommends us to go by the rule of minimum of injury.

The other Jaina ethical vows are truthfulness, abstention from stealing and sex-fidelity which need no comments here. They, together with the vow of *Ahinsa*, it might be said in passing, constitude such a nice and simple code of good conduct that a reasonable observance of it would leave no scope for the application of any of the sections of the Criminal Procedure Code. The fifth and last vow requires some explanation here. It is called '*Parigraha parimana vrata*' or the vow of setting a limit to the maximum wealth that one would possess. As said above more than once, the aim of Jainism is to avoid as for as possible, undesirable clashes in life and consequent disharmony in society. Under the present vow, a house-holder is recommended to fix before-hand the

limit of his worldly belongings which he would never try to exceed. If and when he has reached that limit, he will either try to earn no more, or, if the earnings come inspite of himself, he would devote the surplus to charitable purposes the recognised forms of which are medical help, spread of education, distribution of food and other measures of relief from suffering. The spirit of the vow is clear. One should not be too greedy or selfish. The common wealth is limited, and so, in fairness to others, one should take to himself only as much as, according to his own reasonable estimate, he needs. This is good for the individual satisfaction as well as for the society. One can not fail to recognise in this vow a very quiet and peaceful attempt at economic equalisation by discouraging undue accumulation of capital in individual hands. It is, however, no fault of the religion itself if such noble principles have frequently been recognised in their violation rather than in their observance. At the same time, it can not be denied that the vow has created in the Jaina community a very charitable disposition as a result of which large amounts of money are devoted every year to deeds of philanthropy and so many charitable institutions are being permanently financed by the community.

Yet another principle of Jainism might be mentioned here. Jainism does not preach that there is any special power ruling over the destinies of men from behind or above. On the contrary, it teaches that every individual works out his own destiny by his own mental and physical exertions which, by themselves, generate energies that bring to him agreeable or disagreeable experiences. This is the *Karma* theory of Jainism which has been worked out in great detail. According to it, nothing, as a rule will come without effort, and no action will go without its appropriate result. It makes each individual fully responsible for his progress or decay, a sort of complete individual autonomy. The Jainas worship, not the creator or the destroyer of the Universe, but those great saints whom they believe to have known the ultimate truth and to have preached it to humanity. These saints they call *Tirthankaras*, *i.e.*, those who made it easy for others to cross over the ocean of life.

It will be seen that in a religious system like this there is no place for a distinction of caste and creed, and for a struggle for form and ceremony, and if within the Jaina community these weaknesses exist, they are inspite of specific religious injunctions against them and as a result of the close association of the Jainas with communities where these play an important part. In its philosophy as well as ethics Jainism has close affinities with Hinduism and Buddhism, and, in fact, with every other religion such as Christianity and Islam which have all the same end in view, namely, the salvation of mankind. It, however, stands to the credit of Jainism that it actively seeks a synthesis with all other systems through its outlook of *Anekanta*, and logically proves that it is one truth which is revealed to us through its several aspects. It also wants non-violence in thought, word and deed to be established as a rule of good conduct. Thus, it makes a definite move towards a common understanding amongst all faiths that have been and that may be, and creates a feeling of brotherhood among all men.

For this reason, gentlemen, a Jaina always welcomes opportunities of this kind when different points of view are expressed for the purpose of mutual understanding, and I am very thankful to the authorities of the Ramkrishna Ashram for organising this function, and for giving me an opportunity to put forth the Jaina point of view.

A Lost Jaina Treatise on Arithmetic.

(By **Sriyut** Bibhūtibhūṣaṇ Datta.)

In his commentary[1] on the *Āryabhaṭiya* of Aryabhaṭa I (499 A. D.), Bhāskara I[2] has quoted three Prākrit verses (*Gāthā*) from an earlier treatise on arithmetic. The first two of them contain rules for the calculation of the chord and area of a segment of a circle, and the third gives a method for addition of surds (*Karaṇi*).

The first Gāthā in question is

"ओगाहूणं विक्खम्भ एगाहेण संगुणं कुर्यात् ।
चउमणियं अस्स तु मुउ' (? लं) सा जीवा सव्वखत्ताणाम् ॥"

i.e., "Multiply the diameter less the depth by the depth; the square root of four times this (product) is the chord of the segment."

The second Gāthā is

"इसुपाम गुणा जीवा दसि करणी भवेत् विगणिअपदम् ;
धनुपट्ट अस्सिं खत्ते पदं करणं तु वाभव्वम् ॥"

i.e., "The chord multiplied by a quarter of the arrow and by the square-root of ten gives the area (of the segment). For (the calcu-

---

1. This commentary is still in manuscript. An incomplete copy of it is in the Mysore Government Oriental Library, Bangalore. The quotations given occur in the commentary of the verse 10 of the *Gaṇitapāda* of the *Āryabhaṭiya*.

2. This writer is quite a different person from the celebrated astronomer and mathematician, Bhāskarācārya, the author of the *Siddhānta-siromoṇi*, *Lilāvatl*, *Bijagaṇita*, etc. The latter was born in 1036 *Śaka* (=1114 A. D.), whereas the former flourished in the first half of the sixth century of the Christian era. Further particulars about the Elder Bhāskara can be gathered from the following articles by the present writer: "The two Bhāskaras" in *Indian Historical Quarterly*, Vol. 6, 1930, pp. 727—736; "Ācārya Āryabhaṭa and his disciples and followers" (*in Bengali*) in the *Sāhitya Pariśad Patrikā*, Calcutta, 1340 B.S. = 1934, pp, 129—158.

lation of) the bow (*i.e.*, arc) of that figure this (following) method is given."
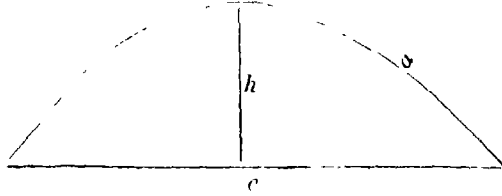
If h denote the height or arrow, c the chord, a the arc and A the area of a segment of a circle of diameter d, then the rules give the formulae

$$(i)\quad c=\sqrt{4h(d-h)}.$$

$$(ii)\quad A=\tfrac{1}{4}\,ch\,\sqrt{10}.$$

The third Prākrit Gāthā quoted by Bhāskara I runs as follows :-

"ओवट्टि अद्दसकेण इमूल समासस्स मोत्थवत् ।
ओवट्टणाय गणियं करणिसमास तु णाअव्वम् ॥"

i.e., "Having reduced (the given surds) by some (suitable) number, add together the square roots (of the quotients) as in the (common) method of addition. The sum (thus obtained) multiplied by the reducer should be known as the sum of the surds."

By way of illustration may be given the following application of the rule by him :—

$$\sqrt{90}+\sqrt{640}=\sqrt{10}\,(\sqrt{9}+\sqrt{64}),$$
$$=\sqrt{10}\,(3+8),$$
$$=11\sqrt{10}.$$
$$=\sqrt{1210}.$$

Algebraically, we have the formula

$$(iii)\quad \sqrt{a}+\sqrt{b}=\sqrt{c}(\sqrt{a/c}+\sqrt{b/c}),$$

in which the common reducing factor (c) has to be so chosen as will make the resulting quotients (a/c, b/c) perfect squares.

It may be pointed out that there is nothing new or of special importance in the above formulae concerning the mensuration of a segment of a circle. The formula (*i*) has been stated by the celebrated Jaina metaphysician Umāsvāti[1] several centuries before Bhāskara I.[2] He finds its application still earlier in the canonical works of the Jainas.[3] The formula (*ii*) occurs in the *Bṛhat Kṣetra-samāsa*[4] of Jinabhadra Gaṇe (529-589 A. D.), the *Ganita-sār-samgraha*[5] af Mahāvīrācārya (825A, D.) and other Jaina works[6]. It is, however, very inaccurate.

The rule for the addition of surds is of considerable historical importance inasmuch as it is not found in any available work, whether mathematical or non-mathematical, anterior to the *Brāhma-sphuṭa-siddhānta* of Brahmagupta (628). Brahmagupta gives a rule similar to the above.[7]

Of much greater importance for the history of Hindu mathematics is the source (or sources) of the above-mentioned Prākrit quotations of Bhāskara I. We know of ancient astronomical works written in Prākrit language, *e.g.*, the *Sūryaprajñapti*, *Candraprajñapti* and *Jyotiṣakaraṇḍaka*. But uptil now we are not aware of any treatise on mathematics in Prākrit. Rules for the mensuration of a segment of a circle are given in Prākrit in the *Bṛhat Kṣetrasamāsa* of Jinabhadra Gaṇe (c. 560 A.D.). But he is most

1. *Tattvārthādhigama-sūtra*, edited with the *Bhāṣya* of Umāsvāti, by K. P. Mody, Calcutta, 1903, iii, 11 (*Bhaṣya*), *Jambudvipasamāsa* of Umāsvāti, chap. iv

2. There is a bit of uncertainty as regards the time of Umāsvati He probably flourished about 150 B- C. or a century or two later.

3. *Jambudvipa-prajñapti*. *Jīvābhigama-sūtra*. etc., See Bibhutibhusan Datta, " The Jaina School of Mathematics," in the *Bulletin of the Calcutta Mathematical Society* vol. 21, 1929, pp 115—115 " Geometry in the Jaina Cosmography," in *Quellen and Studien Zur geschichte der Mathematik*, Abteilung B, Band 1, 1930, pp. 245—254.

4. *Brhat Kṣetra-samāsa*, i, 122.

5. *Ganita-sāra-samgraha*, vii, 70½.

6 For instance see *Laghu Kṣetrasamāsa* of Ratnasékhara Sūri (1440 A. D.), Rule 192.

7 *Brāhma sphuta siddhānta*, edited by Sudhakara Dvivedi, Benares, 1902. xviii, 33

probably posterior to Bhāskara I. Moreover, we do not find in that work any rule for addition of surds. So the treatise (or treatises) quoted by Bhāskara has either perished or is still lying buried in some unknown place. As Prākrit is the sacred language of the Jainas, that work must have been of Jaina authorship. In my article on "The Jaina School of Mathematics" I pointed out the existence of mathematical treatises by early Jaina scholars which are not available to us now. Here are some further and more specific proofs in support of that. My object in writing this short note is to request the Jaina scholars to make a determined attempt to unearth those ancient works.

A Jain letter to Maharaja Ajit Singh.

(By Pandit Dasharatha Sarma, M.A.)

The letter is anonymous, and bears at the top the seal of Mahārājā Ajit Singh with the words 'Śrī Mātājī' Maharājādhirāja Śrī Ajīt Sinha.' It is written in Sanskrit verse of the first order, and would be appreciated as a fine piece of poetry, even if it had no historical value. The metre used by the writer is *vaitālīya*.

We have no information regarding the exact occasion that necessitated the writing of this letter. But it is clear enough from even a cursory reading of the letter, that its writer felt that the Jainas were not being treated well by the officers of the State. Perhaps he chose to remain anonymous, because he feared being persecuted by some one or other, if his name were disclosed. How the letter passed back into the hands of the Jainas is a mystery, which I have been unable to solve.

The letter is now in the possession of my friend, Mr. Agarchand Nabata of Bikaner.

Text.

अधिरुह्य गिरेः शिरः कथं । गज निद्रासि निमीलितेक्षणः ॥१॥

परितः परिभाव्यते न किं । भृगुपातः प्रचुरापदां पदम् ॥२॥

सहकारममुं महेभ किं । भृशमुज्जासयितुं प्रगल्भसे ॥३॥

फलभोगयुज (:) परे जनाः । जनताभिश्च विगीयते भवान् ॥४॥

विस (श) दध्रुपथप्रवर्तने । ननु गोपाधिकृतो गवां भवान् ॥५॥

त्वकमेव यदि प्रवर्तसे । विपथे हंत हता मनस्विता ॥६॥

प्रचितं फलपुष्पपल्लवैर् । वनमुक्तं तव पूर्वजैरिदम् ॥७॥

चपलैः कपिभिर्विलुप्यते । न किमारामिकपाश पश्यसि ॥८॥

अयि दीपक दीप्यते त्वया । भवनं सत्पथदर्शिना निशि ॥९॥

महती वचनीयता जने । स्वपदस्थेन तु तामसेन ते ॥१०॥

अचिरान्न कथं विलीयसे । सुमनोमारक पंचमारक ॥११॥

महतामपि मज्जयस्यरे । धिषणानावमगाधवारिधौ ॥१२॥

बलिना कलिना कदर्थितं । यगदेतन् कटुकर्मकारिणा ॥१३॥

महतामपि येन जायते । बत सन्मार्गपरिच्युता मतिः ॥१४॥

मरुदेशमहीपतेरिमां । विषमां राज्यगतिं विभावयन् ॥१५॥
स पुमान्नुपलात्मको न किं । न मनाग्यस्य मनो विरज्यते ॥१६॥
जिनशासनमद्य दुःस्थितं । निपतत्कालकृतैः पराभवैः ॥१७॥
यदि तत्प्रभुणाप्युपेक्षते । किमियं हा जगतोऽस्ति दुर्दशा ॥१८॥
सुमतिः स्फुरतां महात्मनां । सुधियः सन्तु जनाश्चिरायुषः ॥१९॥
विरमन्तु विशृङ्खला खलाः । जिनधर्मः सततं समेधताम् ॥२०॥
हरिणै (रपि) कुत्र गंस्यते । विषमो व्याध रतः पलस्यति ॥२१॥
हत एष स तापसाधमः । त्वचमादित्सति शृङ्गसंयुताम् ॥२२॥
स () जतां किल काल (या)पनां । पृषतां दर्भलवाशिनां वने ॥२३॥
मुखतः कवलानि ( ) यन् । हत दावानल किं न लज्जसे ॥२४॥
तरवः प (रिप्लो) षिता भृशं । ज्वलदर्केण दवानलेन च ॥२५॥
घनचेद्भव (ता) पि मुच्यते । शनिरेषां भवितात्र का गतिः ॥२६॥

Translation.

Having climbed the summit of the mount, how is it that thou ; O elephant, sleepest with thy eyes closed? Art not thou aware of the precipice about thee that might be a source of great troubles? O big elephant! why dost thou try so much to uproot this mango tree? Others enjoy its fruit, and thou art censured by the people. Thou art verily a herdsman put in charge of cows, and expected to lead them by a broad and straight path. If even thou followest wrong ways, then there is an end to highmindedness. Thy forefathers filled this forest with fruits, flowers, and fresh leaves. Dost thou not see, O gardener, that it is being destroyed by mischievous and rash monkeys? O lamp, at night the house is lighted by thee that art the indication of the right path. If thou remaining at thy place were to diffuse darkness, great will be thy disrepute among people. O thou (the god) with five weapons, (O cupid), the user of flowers as thy missiles, why dost not thou perish? Thou sinkest even the intellect of great men, that might be likened to a boat, in the fathomless sea of (moral turpitude.) The world is being tormented by powerful Kali, the doer of improper and disagreeable deeds Through its influence, even the

minds of great men deviate from the right path. Is he not verily made of stone whose heart does not get disgusted in the least at seeing the bad line of administration adopted by the ruler of Marwar? On account of various humiliations brought about by the influence of time, the teaching of Jina has nowadays fallen on evil days. If it is neglected even by our master, how sad would be the plight of this world? May good ideas arise in the minds of great souls! May wise people be longlived! May people free from all moral bonds desist (from their nefarious activities)! May the Jaina religion ever grow! Where should the deer go? On one side is the hunter desirous of his flesh, and on the other that base ascetic desirous of having his skin along with his horns. Why art thou, O wretched forest-fire! not ashamed of taking away the mouthfuls of grass from the mouths of deer that live on *kuśā* grass, and pass their time somehow? Most trees have been scorched by the burning sun and the forest fire But O cloud if even thou art to shower thunderbolts, what would be their condition in this world?

VĒṆŪR & ITS GOMMAṬA COLOSSUS.

(By M. Govind Pai.)

Vēṇūr (वेणूर), which is now a petty village, stands on the river Phalguni, some thirty-four miles to the north-east of Mangalore the head-quarters of the South Kanara district in Madras Presidency. It contains an immense colossus of Bāhubalī, called *Gommatēśvara*, which is thirty-five feet in height. It was installed by King Timma[1] or Timmarāja *Oḍeya*[2] or Timmanna Ajila, as also he was called, who belonged to the *Ajila* or *Ajala* family of the Jaina chieftains that once ruled in that part of the district. This statue is the least in height of the three colossi of Bāhubalī existing in South India[3], and also the latest in point of time.

This colossus stands facing north on a petty large mound above an expanse of rice-fields close by the river, unlike that at Kārkala, which crowns a rocky eminence, and as such, this has neither the gravity of situation nor the grandeur of elevation as that. But nature is otherwise favourable in the case of this colossus; for the chain of the Western Ghats stretches right in front of it and from the blue mass of that lofty range rises yet biuer the ' Snout of the horse,[4] lifted as if to neigh in pleasure at the sight of the enormous master standing so hard by. Thus it goes without saying that the spectacle presented to the eye when watching around from that mound is of no mean beauty nor is it any the less in soleminty ; yet it ought to be said that the solemn

---

1. '*Timma*' is the abridged form of the Kanarese word '*Tirumala*' by which the Vaiṣṇava god *Śri Venkaṭeśa* of Tirupatī is popularly known.

2 '*Oḍeya*' is a Kanarese word meaning a chieftain, or a king.

3. The other two colossi are at Śravaṇabelagola in Mysore State and at Kārkaḷa in South Kanārā district. The former is 57 feet high and was installed in 981 A.C., and the latter is 41½ ft. in height and was installed in 1432 A.C.

4. The highest peak in the Western Ghaṭs in the South Kanārā district is called '*Kudure Mukha*' (कुदुरे मुख) which means horse's snout, as it has that appearance: it has an elevation of 6200 ft.

beauty thus envelping the looker-on, while it may quite suffice to slake his inner thirst for it, may not be adequate enough to improve the prespective either of the site or the environments of the colossus itself, in that the statue has been stuck into a hollow of hills and not set up on a majestic altitude.

This colosus is enclosed within a spacious stone enclosure in the northern wall of which is the gate leading within. On either side of this gate and immediately within it stand to very small shrines. That on the west is called '*Akkangaḷa Basadi*' (अक्कङ्गळ बसदि)[1] *i.e.*, the shrine of the sisters; and a Kanārese inscription on a stone beside it records that it was built in the Śaka year 1526 (*i.e.*, 1604 A. C.) by the two queens of prince Timmarāja *viz*, Pāṇḍyaka Dēvī (पाराड्य ऽ देवि) alias Vardhamānakka (बर्धमानक्क and Malli Dēvi (मल्लिदेवि). An image of Sri Chandranātha, the eighth Tīrthaṅkara, is enshrined within it. The other shrine on the east, and right in front of the former, is called '*Binnāṇi Basadi*' (बिन्नाणि बसदि), after Binnāṇi, who was another queen of the same prince. This also was constructed in the same year as the above as said in a stone inscription standing beside it, This shrine contains a small bronze image of Śrī Śāntinātha, the 16th, Tīrthṅkara. Thus both of these shrines were consecrated by those three queens in the very year in which their royal husband installed the colossus.

Leaving these shrines behind and passing towards the south within the enclosure, we reach a very large stone platform. The flight of seven steps leading up is flanked by two stone elephants. On this platform, but only on its northern side, is a stone railing on either side of these steps. From this platform rises a pedestal placed on several tiers, and on it stands the majestic colossus bolt upright and clad in bare innocence, in a firm posture called प्रतिमायोग (*i.e.*, in an erectile position as that of an image), as the very incarnation of renouncement and as calm and complacent, and as stable and serene as dispassion itself.

1. The Jaina temples in the Kanarese country are invariably called 'Basadi' (बसदि). This is clearly the Kanarese variant of the Sanskirt word 'बसति', which means an abode.

There stand beside it eight solitary pillars of stone, set in their places perhaps with a view to raise a stone canopy behind the colossus as at Kārkala; but the idea however remains yet unfulfilled. A very large slab of stone is set up behind the image closely sticking to it and extending from its feet upwards to its knees: this is intended to support the weight of the statue and keep up its static balance. There are no ant-hills hewn in stone and raised behind the colossus as at Śravaṇabelgols. On the northern face of this slab are carved a pretty large number of serpents, of which the two that are nearest to the statue, are very long; they rise up from about the region of its feet, and creep up crookedly reaching up above its knees, and these have three hoods each. Other serpents lying on either side fall outside the two long ones. These are much smaller in size and seem to have been intended for कुक्कुट-सर्प *i.e.*, (basilisks or cockatrices)[1], but in that these are never so cleverly carved as the very beautiful cockatrices engraved on the Kārkaḷa colossus, nor like those on the outer wall of the 'Chaturmukha Basadi' at Kārkala, it is to be regretted that the sculptor's intention could not achieve its end in this case.

A couple of parallel creepers, a twain of perennials in stone, sprout up from between the stone's feet and each entwines the thigh next to it, whence it spirals up on to the wrist, and, winding around the arm twice over, ends in a budded point just beneath that shoulder.

The hair of the image is crisp, and the ears have large and pendent bores, just like those of its two elder cousins. The nose however of this statue is slightly bent and is almost aquiline unlike those of the other statues. If the radiant bloom of irresistible soul-force beams on the youthful face of the colossus at Śravaṇabelgoḷa and the unruffled calm of renunciation and contentment on that of the statue at Kārkala, a native and nascent smile, lovable, and

1. It is said that when Bāhubali renounced the world and stood up in 'Pratimā-Yōga' for one full year ant-hills sprang up beside him, and a wilderness grew around which became infested with a peculiar kind of venomous amphibious creatures called the 'Kukkuṭa-Sarpa', which had the body of a cock crowned with the hood of the cobra

lovely, seems to elude the lips of this image at Vēṇūr: might it be that Bāhubalī is smiling farewell to the world he had so willingly renounced, when he was about to attain his apogee?

Outside the enclosure stands a high pillar, and on a slab set flat upon it is a seated image of Brahmadēva, as both at Śravaṇa-belgola and Kārkaḷa. This image has two hands, in one of which there is a fruit looking like a cocoanut, while the other holds a knife leaning against that shoulder. On the southern face of this pillar there is an embossed figure of a rider on horseback: this also seems to be Brahmadēva in another attitude. It may however be said that this Brahmadēva pillar is neither so beautiful as that at Kārkaḷa, nor does it contain any inscription as that does

To the right of the colossus lie the ruins of the old palace of the Ajila princes. But for a few very large slabs, which were once set into its floor and which are yet intact, nothing else remains of its old life or form. Only a couple of stone elephants still flank the now dilapidated flight of steps beneath its northern main gate, and their lonesomeness makes their adversity all the more miserable.

On a slight elevation to the east of these ruins stands a small, but very ancient, temple of Śiva, known as *Śrī Mahāliṅgeśvara*, which is a very common name by which that God is worshipped in most of the Śaiva temples in this district. It faces the east; it is neither large nor has any claim to beauty; it is just like so many other temples in the district, and is much smaller than many, of them. On a stone stuck into the floor of its inmost shrine, there is an old inscription in Kanarese letters, which is one of the oldest of those that have been yet discovered in this district. It is to be regretted that it is not possible to make out whose inscription it is, and all that has been made out as yet is the date, which is Śaka 790 Prabhava Saṁvatsara, *i.e.*, 967-968 A. C. [1] This God *Mahāliṅgeśvara* was the family god of the Jaina princes of the Ajila family, whose royal seal bore the legend: "*Śrī Mahāliṅgeśvaraḥ prasannaḥ* i.e. "Be the elessed (god) *Mahāliṅgeśvara* propitious (unto us)"! In the front of this temple stands

1. G O. Nos. 762—763 of July 1901 Epigraphy (Madras). p 16, No., 76

a pillar called the "*Nandi Stambha*" i.e. the pillar of Nandi; (who by the way is both the vehicle and the ensign of god *Śiva*), on which it is recorded that a *Seṭṭi* caused it to be set up; but neither his name nor the date of dedication has yet been made out.

A little further off to the south stands a Jaina temple called the '*Kalla Basadi*' i.e., the stone temple, which must have been so called on account of the fact that every inch of it is sable stone. Its proper name is "*Śāntīśvara Basadi*" from the image of the 16th *Tirthankara* of that name enshrined in the central temple within. Outside its enclosure stands a big stone pillar, called the "*Māna-Stambha*",[1] as is invariably found in front of the Jaina temples everywhere in South India. This pillar is of an exquisite workmanship, and in its four faces are carved four different and very intricate geometrical diagrams more or less looking like mazes.

A flight of steps standing in front of this pillar leads into the *Kall Basadi*. Within the enclosure there are three different shrines. The central shrine is the principal one, and it is the "*Śāntīśvara Basadi*" proper. It faces the east and contains the image of the 16th *Tirthankara*. There are two stone slabs lying close by and each of them has an inscription engraved in Kanarese language and script. One of these is of Śaka 1411 (i.e. 1489 A.C.) which mentions a certain prince (?) ruling over the principality of *Puñjali* (पुञ्जलिय राज्य), of which Vēṇūr was the capital; while the other of Śaka 1459 (1537 A C.), records the consecration of the 24 images of as many *Tīrthankaras* in the shrine called "*Tīrthankara Basadi*, standing to the right of the central shrine.

This *Tīrthankara Basadi* is another shrine within the same enclosure. It faces the north. It is also called "*Hari Pīṭha*," and contains 24 images of as many Tirthaṅkaras standing in an erectile position. The door-way of this shrine is made of pot-stone, and the carvings on it are simply exquisite. On a slab of similar pot-stone inclined to the eastern wall of this sharine, there is a

1. These *Mānaṣṭambhas* are believed to have been adopted from those, with which the "*Samavaśaranṇa-Maṇḍapa*" of each and every *Tīrthaṅkmara* is said to have been adorned.

Kanarese inscription of Madurka Dēvi, who was a queen regnant (1610-1647 A.C.) of the same Ajila family that ruled over that principality. This inscription is of Śaka[1] 1544 and records that a prince called *Rāmanātha Arasu*[2] son of Śankana *Arasu* of the principality of *Bellāri*[3] and belonging to the family called "*Beyara Bali*" (बेयर बळि[4]) made a gift to the *Śāntīśvara Chaityālaya*, of Yōnūru, which was the old name of Veṇūr, when the queen Maduraka Dēvi was ruling over the kingdom of *Puñjalike*, which is the same as *Puñjali* mentioned above. Though it is now more than three hundred years since this inscription was engraved, it is so clear and so fresh that it seems to have been finished but a moment ago!

Right opposite to this shrine is another small one to the left of the central shrine, wherein there is a pretty large seated image of the first Tīrthaṅkara Riṣabhanātha. It is exactly like that of the same Tīrthaṅkara in the "*Kattale Basadi*",[5] which stands on the smaller hill called Chandragiri at Śravaṇabelagola.

Behind the Gommaṭa colossus stands another Jaina temple called the "*Pārśvanātha Bashadi*," which contains an image of the 23rd Tīrthaṅkara. It is similar to the Mahālingeśvara temple already spoken of, but only a little larger in dimensions. It calls for no further remarks nor does it contain any inscription.

To be continued.

---

1. The exact date of this inscription is 6th October 1621 A. C.

2. Note that both the names *Rāmanātha* and *Sankara* are those of God Siva though the bearers thereof were Jainas. "*Arasu*" is a Kanarese word meaning "king."

3. This is perhaps Bellāre, which is now a small and insignificant village in the Puttur Tāluk of South Kanārā district

4. "*Bali*" is a Kanarese word meaning "family" and "*Beyara Bali*" means (1) either the family of the Beyara (बेयर being the genitive plural of बेय) or (2) the the family called by the name of Beyara (बेयर being the genitive singular of बेयर). A discussion of its correct significance falls beyond the scope of this article,

5. Epigraphia Carnatica, Vol, II (Sravaṇabelgola inscriptions Plate XI)

A COMPLETE UP-TO-DATE CATALOGUS CATALOGORUM OF SANSKRIT MANUSCRIPTS TO BE PUBLISHED BY THE UNIVERSITY OF MADRAS.

All Orientalists and Indologists are familiar with Dr. Aufrecht's monumental work—The Catalogus Catalogorum—as an indispensable piece of apparatus for Oriental research Since 1903, thirty-two years ago, when Dr. Aufrecht, completed his Catalogus Catalogorum, many important collections of Sanskrit manuscripts within and outside India have come to the notice of scholars and several volumes of catalogues, giving reliable information regarding some thousands of Sanskrit manuscripts, have become available in Madras, Bengal, Lahore, Bombay, Baroda, Dacca, Benares, Travencore, Central Provinces and Berar, Mysore and other centres. Highly valuable as are the materials contained in Dr. Aufrecht's great work, it is now found to be defective and incomplete, chiefly in view of the vast accession to the stock of knowledge about the literary treasures in Sanskrit that has been made available within the last thirty-two years subsequent to the completion of Dr. Aufrecht's work. The need for supplementing Dr. Aufrecht's work was recently brought to the notice of the Madras University, which, in view of the large number of Sanskrit manuscript in South India, has decided to undertake the prepara tion and publication of a complete *up to date Catalogus Catalogorum of Sanskrit Manuscripts*, utilising the invaluable work already done by Dr. Aufrecht as the basis and containing references to all known Sanskrit manuscripts. The main lines on which this work is proposed to be carried on are indicated below :—

1. Checking and verification of the entries in the Catalogus Catalogorum of Dr Aufrecht.
2. Introduction of fresh entries in the case of important manuscripts.
3. Dealing with the additional manuscripts collected within and outside India within the last thirty-two years.

4. Entering the dates of works and authors, as far as possible.
5. Incorporation of works known through citation alone, with appropriate references as far as possible.

The University has entrusted the work to an Editorial Committee constituted as follows:—

1. Mahamahopadhyaya Prof. S. Kuppuswami Sastri, M.A., Professor of Sanskrit and Comparative Philology, Presidency College, Madras (on leave), and curator, Government Oriental Manuscripts Library, Madras—(Editor-in-Chief).
2. Professor P. P. S. Sastri, M.A. (Oxon.), Officiating Professor of Sanskrit and Comparative Philology, Presidency College, Madras.
3. Dr. C. Kunhan Raja B.A. (Hons.), D. Phil. (Oxon.) Reader in Sanskrit, University of Madras.

Since the success of the undertaking is largely dependent upon the co-operation and help of scholars interested in Sanskrit, the Madras University would earnestly request scholars and heads of Institutions interested in Sanskrit and Indology to assist it by furnishing information on any or all of the following points :—

1. Places where manuscripts are available, with particulars regarding owners and authors.
2. Lists of manuscripts.
3. Other suggestions for the preparation of the proposed new Catalogus Catalogorum.

It is requested that all communications regarding this matter may be addressed to " The Editor-in-chief, Catalogus Catalogorum, Government Oriental Manuscripts Library, Museum Buildings, Pantheon Road, Egmore, Madras."

25—10—1935 }
MADRAS, }

S. KUPPUSWAMI SASTRI,
Editor-in-Chief.

Select contributions to Oriental Journals.

1. *Indian Historical Quarterly*; Vol, XII No. I.

Pp. 45—52. *The Eastern Chalukyas* by D. C. Ganguly Vimalāditya's (1011—1018 A D.) Rāmatirtham inscription reports that "Muni Trikālayagi Siddhāntadeva, a teacher of Desigaṇa School of Jainism, and a Spiritual teacher of the King Viṣṇuvardhana, paid his reference to the hoby place of Rāma Koṇḍā. Rama Koṇḍa is identical with Rāmatîrtham."

2. *Bulletin of the School of Oriental studies*; Vol. VIII, parts 2 & 3.

The Vasudevahiṇḍi, a specimen of Archaic Jaina Mahārāstri by L. Alsdorf.

3. *Indian Culture*, Vol. II, No. 3.

The Sitaharas of Western India by A. S. Allekar, furnishes the names and dates of the kings of the three Śitāhāra families ruling in South Konkan, North and Kolhapur and discusses the administrative, religious, social and economic conditions under them.

4. *Journal of the Bihar & Orissa Research Society*, vol. xxi, pt III, Sept. 1935. *Location of Dantapur* by S. Levi.

5. *Epigraphia Indica*, vol. xxii, pt I, January 1933 *Silāhara Cave Inscriptions* by D. R. Bhandarkar.

6. *The Poona Orientalist*, Vol. I No. I April 1936.

The Oldest available Ms. of Ksīrasvāmin's commentary on Amarkoṣa by N. G. Sardesai. The Scribe is a Jaina, who wrote at the behest of Sāha Ratanapāla for Brahma Jñānacandra in 1561 A. D. at Tejapur.

RULES.

1. The " Jaina Antiquary " (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June, September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage) and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The " Jaina Antiquary "
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made

4. Any charge of address should also be intimated to him promptly

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, " JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

The Jaina Antiquary

An Anglo-Hindi-Quarterly Journal.

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, जैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं:—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.
पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ३] [किरण ३

सम्पादक-मण्डल
प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९३

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ३ | दिसम्बर, १९३६ । मार्गशीर्ष वीर नि० २४६३ | किरण ३

तार्किक-चूड़ामणि श्रीविद्यानन्द स्वामी

(ले० श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०)

'विद्यानन्दस्वामी विरचितवान् श्लोकवार्त्तिकालंकारं।
जयति कविविबुधतार्किकचूड़ामणिरमलगुणनिलयः ॥'
—देवेन्द्रकीर्त्तिः*

श्लोकवार्त्तिकालंकार के रचयिता तार्किकचूडामणि, कवि, विबुध श्रीविद्यानन्द स्वामी जयशाली हों। वह अमल गुणों के निलय हैं। श्रीमद्भट्टाकलङ्क देव के उपरांत होनेवाले आचार्यों में विद्यानन्द स्वामी प्रमुख थे†। किन्तु जिस प्रकार श्रीअकलंक देव के जीवनचरित्र के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है, उसी प्रकार उससे भी कम श्रीविद्यानन्द स्वामी के विषय में ज्ञात होता है। 'आराधना-कथाकोष' में एक

*—हुम्बुच का शिलालेख नं० ४६। †—जैनहितैषी, भा० ११ पृ० ४३०।

कथा श्रीपात्रकेसरी स्वामी की है और समझा जाता था कि उसका सम्बन्ध विद्यानन्द स्वामी से है, क्योंकि पात्रकेसरी का ही अपर नाम विद्यानन्द अनुमान किया जाता रहा है*। किन्तु श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपने एक लेख-द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्यानन्द और पात्रकेसरी दो भिन्न भिन्न आचार्य थे†। पात्रकेसरी अकलंक देव से भी पहले हुए थे। इस अवस्था में पात्रकेसरी की कथा का सम्बन्ध विद्यानन्द जी से नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त कनड़ी ग्रन्थ 'राजावली कथे' में भी विद्यानन्द स्वामी की एक कथा है,‡ परन्तु उसमें क्या वर्णन है, यह ज्ञात नहीं§। परिणाम-स्वरूप इस समय उनके जीवन-सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं लिखा जा सकता। श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उनके ग्रन्थों के निम्न उद्धरणों के आधार से उनका अपर नाम 'सत्यवाक्य' या 'सत्यवाक्याधिप' भी सूचित किया है :—

'विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः।' —युक्त्यनुशासन-टीका।

*—पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'जैनहितैषी' वर्ष ६ अंक ६, में एक लेख प्रकट करके विद्यानन्द और पात्रकेसरी को अभिन्न सिद्ध किया था।

†—अनेकान्त भा० १ पृ० ६७—६६।

‡—जैन सिद्धान्त-भास्कर भा० २ पृ० १४७।

§ "राजावली कथे" में विद्यानन्दि-सम्बन्धी कथा का सार यों है :—

विद्यानन्दि कर्णाटक प्रान्तवासी एक जैन ब्राह्मण थे। युवावस्था में दरिद्रा देवी का इन पर प्रचण्ड कोप था। इस बीच में अन्तिम चोल राजा के दरबार में होते हुए अभिनय में सम्मिलित हो त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का पात्र बन कर इन्होंने अपने सरस एवं अपूर्व अभिनय से सभी दर्शकों को मुग्ध कर दिया। इसी अभिनय में एक बार इन्हें जैनमुनि का भी पात्र बनना पड़ा। इसका यह परिणाम हुआ कि वहाँ के जैनों अपने परम पूज्य मुनि का स्वाङ्ग करना अपमान मानकर अप्रसन्न हो इन्हें मुनि-धर्म धारण करने को बाध्य करने लगे। अन्ततो गत्वा यह अपनी जन्मभूमि का त्याग कर उत्तर हिन्दुस्तान के कुरु-जांगल देश में जाकर जैन-मुनिवृत्ति से रहने लगे। एक बार यहाँ विचरते हुए सरोवर के तट पर उन्हें एक निधि दीख पड़ी। वहां ही विद्यादेव राय भी अचानक आ पहुँचा, जिसने उस निधि को देख कर लेना चाहा। किन्तु उसके रक्षक एक यक्ष ने उन्हें उस निधि को लेने से यह कह कर रोका कि यह निधि तुम मुनि विद्यानन्दि को प्रसन्न कर के ही ले सकते हो। अन्त में उन्हें भक्ति-द्वारा प्रसन्न कर तथा निधि एवं विद्यानन्दि स्वामी को लेकर विद्यादेव राय विद्यानगर स्थापित कर श्रावक धर्मपूर्वक शासन करने लगे।

पता नहीं कि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है। साथ ही साथ यह भी नहीं मालूम कि इस कथा में वर्णित विद्यानन्दि यही हैं या दूसरे?

के० बी० शास्त्री

'सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः।'

—प्रमाण-परीक्षा।

'विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै।'

—आप्त-परीक्षा।

चूंकि विद्यानन्द स्वामी का घनिष्ठ सम्बन्ध श्रीअकलंक देव से था, इस लिये उनका कार्य्यक्षेत्र भी दक्षिण भारत ही प्रतीत होता है। बहुत संभव है कि उन्होंने गंग-वाड़ि प्रदेश में बहुवास किया हो, क्योंकि गंगवाड़ि प्रदेश के राजा राजमल्ल ने भी गंगवंश में होनेवाले राजाओं में सर्वप्रथम 'सत्यवाक्य' उपाधि या अपर नाम धारण किया था*। उपर्युक्त श्लोकों में, यह संभव है कि विद्यानन्द जी ने अपने समय के इस राजा के 'सत्यवाक्याधिप' नाम को भी ध्वनित किया हो। 'युक्त्यनुशासनालंकार' में उपर्युक्त श्लोक अन्तिम प्रशस्ति-रूप है और उसमें रचयिता-द्वारा अपना नाम और समय सूचित होना ही चाहिये। समय के लिये तत्कालीन राजा का नाम ध्वनित करना पर्याप्त है। राजमल सत्यवाक्य विजयादित्य का लड़का था और वह सन् ८१६ ई० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था†। उसका समय भी विद्यानन्द स्वामी के समयानुकूल है; क्योंकि निम्नलिखित प्रमाणों के आधार से वह नवीं शताब्दी के ही विद्वान् प्रमाणित होते हैं :—

(१) श्रीमद्भट्टाकलंकदेव कृत 'अष्टशती' ग्रन्थ पर कुमारिल भट्ट ने आक्षेप किये थे। विद्यानन्द जी ने कुमारिल के इन आक्षेपों का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'अष्टसहस्री' में 'भट्ट' नाम से किया है और उनका उत्तर भी दिया है। कुमारिल का समय ७५७ से ८७ वि० सं० निश्चित है। इस लिये विद्यानन्द स्वामी इस समय से किञ्चित् उपरान्त अथवा कुमारिल के अन्तिम समय के विद्वान् ठहरते हैं‡।

(२) विद्यानन्द स्वामी ने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ के ३३ वें श्लोक की टीका लिखते हुये उदाहरण-स्वरूप धर्मकीर्त्ति का यह लक्षण-वाक्य उद्धृत किया है।

'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमितिलक्षणस्यार्थः प्रत्यक्षप्रत्यायनम्'।

*—Rice, Mysore and Coorg P. 42—43

†—युक्त्यनुशासनालङ्कार के अन्तिम श्लोक में 'विजय' (प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः आदि) और 'सत्यवाक्याधिप' दोनों शब्द मिलते हैं जिनसे गंगराज, सत्यवाक्य और उसके पिता विजयादित्य का नाम ध्वनित हो सकता है।

‡—जैनहितैषी भा० ११ पृ० ४२८।

इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्द धर्मकीर्त्ति के बाद में हुये थे। धर्मकीर्त्ति का समय सातवीं शताब्दी बताया जाता है[१]।

(३) विद्यानन्द जी ने 'अष्टसहस्री' में भर्तृहरि के मत का उल्लेख किया है और भर्तृहरि का समय वि० सं० ७०० अनुमान किया जाता है। अतः विद्यानन्द इस समय के बाद ही हुए थे[२]।

(४) विद्यानन्द जी ने मण्डन मिश्र के कई श्लोक उद्धृत किये हैं, जिसका समय वि० सं० ८०७ से ८९१ अनुमानित है। अतः विद्यानन्द का समय भी इसी के लगभग होना चाहिए[३]।

(५) परन्तु उनका समय वि० सं० ८९५ से और पीछे नहीं माना जा सकता, क्योंकि शक सं० ७६० (वि० सं० ८९५) के लगभग भगवज्जिनसेन ने आदिपुराण रचा था और उसमें उन्होंने श्रीप्रभाचन्द्राचार्य की स्तुति की है[३] जिन्होंने विद्यानन्द जी का स्मरण अपने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ में किया है[४]।

(६) श्रीवादिराज सूरि ने 'पार्श्वचरित' में विद्यानन्द स्वामी की स्तुति की है जिसे उन्होंने वि० सं० ८१२ (शक सं० ६४७) में रचा था[५]।

अत एव श्रीमद्विद्यानन्द जी का समय वि० सं० ८१२ से ८६४ तक प्रकट होता है। डफ सा० ने विद्यानन्द का समय सन् ८१० ई० लिखा है[६]।

किन्तु जिस प्रकार उनका गार्हस्थ्य-जीवन अन्धकार में है उसी तरह मुनिजीवन भी अज्ञात है। मालूम नहीं कि उनके गुरु कौन थे। नगर जिला के शिलालेख नं० ४६ (सन् १५३०) में विद्यानन्द स्वामी की गुरु-परम्परा दी जाने का उल्लेख है[७]; परंतु कहा नहीं जा सकता कि यह कौन से विद्यानन्द हैं, क्योंकि १६ वीं शताब्दी में एक

१— Annals of the Bhandarkara Res. Instt. Vol. XV, P. 72

२—युक्त्यनुशासनम् (मा० ग्रं०) में प्रेमी जी लिखित परिचय, पृ० २।

३—रत्नकरण्ड श्रावकाचारः (मा० ग्रं०) भूमिका, पृ० ५८।

४—सिद्धं सर्वजनप्रबोधजननं सद्योऽकलङ्काश्रयं,

विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्। इत्यादि।

५—पार्श्वनाथ-चरित पृष्ठ १०।

६—C. M. Duff. The Indian Chronology, P. 72.

७—Bibliogrophie Jaina, 499.

अन्य विद्यानन्द प्रसिद्ध वादी दक्षिण भारत में हो चुके हैं*। तो भी यह पता है कि विद्यानन्द स्वामी के समकालीन विद्वान् भट्टाकलंक देव, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, वादिराज सूरि आदि थे। कर्णाटक आदि देशों में घूम कर उन्होंने जैनधर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। वह महान् तार्किक विद्वान् थे। उनके विषय में अन्य आचार्यों ने जो मत प्रकट किये हैं, उनसे उनकी महिमा स्वयं प्रकट होती है। प्रभाचन्द्राचार्य जी ने 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' में उनके समन्तभद्र गुणों का उल्लेख किया है†।' देवेन्द्रकीर्त्ति ने उन्हें 'कवि' और 'तार्किक-चूड़ामणि' उपाधियों से विभूषित किया है। और श्रीवादिराज सूरि ने लिखा है कि संसार में रत्नों से देदीप्यमान अलंकार-भूषण होते हैं। वे एक तो सीधे डोरों से गुथे हुए नहीं होते और दूसरे जो उन्हें पहिनता है उसी के अङ्ग को दीप्त करते हैं, परंतु श्रीविद्यानन्द स्वामी का रत्नत्रय-भूषित अलंकार (श्लोकवार्त्तिकालंकार) ऐसा है कि वह सरलवाक्यों से गुथा हुआ है और जो उसे स्वयं पहिनते - पढ़ते भी नहीं हैं, केवल सुनते ही हैं, उनके अङ्ग में भी दीप्ति—हिताहित-विचार-शक्ति पैदा कर देता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है"‡।

ऐसे महान् ग्रन्थ के विद्वान् और निर्मलगुणालंकृत यतिपति के विषय में यह तुच्छ लेखक भला लिखने की क्या सामर्थ्य रखता है—वह तो केवल उन के गुणों का चिन्तन करके उनके समक्ष नतमस्तक हो जाता है! धन्य होगा वह दिन जब हमें विद्यानन्द स्वामी की परिचायक अमूल्य सामग्री उपलब्ध होगी।

*—हुम्बुच का शिलालेख नं० ४६ व अनेकान्त १।६७—७२।

†—' विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्।'

‡—पार्श्वनाथचरित पृ० १०।

पाण्ड्यवंश और वीर पाण्ड्य का क्रिया-निघण्टु

(ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

हाल में भवन के संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची उलटते समय अचानक मेरी दृष्टि एक अत्यल्प कलेवर क्रिया-निघण्टु नामक पुस्तक पर पड़ी। यह प्रति ११"×५" इंच लम्बे-चौड़े कागज के सवा तीन—पत्रों पर समाप्त हुई है। पत्रों के बायें-दायें एक-एक इंच एवं ऊपर नीचे पौन इंच हासिया छुटी हुई है। प्रत्येक पृष्ठ पर १३ से लेकर १५ तक पंक्तियाँ हैं। भिन्न भिन्न छन्द के १०२ श्लोक इस प्रति में हैं। लिपि कन्नड है। इसके निम्नांकित प्रारम्भिक श्लोक से यह कृति राजा वीर पाड्य की लेखनी से समुद्भूत मालूम कर इसे मनोयोग-पूर्वक देखने को मैं और भी लालायित हो गया :—

" धातुप्रयोगपर्यायाः केचित्काव्योपयोगिनः।
वीरपाण्ड्यक्षितीशेन वक्ष्यन्ते शिक्षितुं शिशून्॥"

दक्षिण कन्नड जिले में पांड्य नाम के दो राजवंश शासन कर चुके हैं, अतः यह वीर पाण्ड्य किस वंश के हैं यह अपना अभिप्राय प्रकट करने के पहले सुविज्ञ पाठकों के समक्ष इन दोनों वंशों का कुछ परिचय प्रस्तुत कर देना मैं आवश्यक समझता हूं। इनमें से एक की राजधानी 'कार्कल' थी और दूसरे की 'बारकूरु'। बारकूरु में शासन करनेवाले पाण्ड्य-राजवंश का संक्षिप्त इतिवृत्त यों है। मधुरा पाण्ड्यवंशीय देव पाण्ड्य नाम के एक व्यक्ति ई० सन् १म शताब्दी में व्यापारार्थ तत्कालीन व्यापार के केन्द्रभूत तौलवदेशान्तर्गत बारकुरु में आकर बस गये और वहीं के जैनी के यहां उनका विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित हो गया। उस समय बारकूरु तौलव-प्रान्त का एक प्रधान नगर था तथा लाल समुद्र अफ्रिका के पूर्व समुद्र एवं एजिप्ट के साथ इसका व्यापार-सम्बन्ध था। एक बार देव पाण्ड्य ने व्यापार-निमित्त एक बड़ा भारी जहाज बनवाया। नूतन-निर्मित जहाज को समुद्र में सन्तरण कराने के पूर्व उसके कारीगरों ने देव पाण्ड्य से कहा कि कुण्डोदर नाम का व्यन्तर-देव एक नर-बलि चाहता है। देव पाण्ड्य ने यह सुन जैनत्व के नाते बहुत क्षुब्ध होते हुए निरुपायावस्था में अपने ही लड़कों में से एक को बलि देना निश्चित कर इस असह्य अभिमन्त्रणा की सूचना अपनी स्त्री को दी। किन्तु इनकी स्त्री शिवदेवी इस बात से सहमत नहीं हुई। पर देव पाण्ड्य की जिस बहन की शादी उसी तौलव-प्रान्त के एक जैनी से हुई थी वह अपने भाई को अपनी स्त्री से अपमानित तथा व्यापार-निमित्त आयोजित विराट् आयोजना में भीषण बाधा उपस्थित देख अपने इकलौते पुत्र

को बलि देने को तैयार हो गयी। बहन का नाम सत्यवती एवं लड़के का नाम जय था। जिस समय जय बलि-वेदी पर खड़ा हुआ उसी समय कुण्डोदर ने प्रत्यक्ष हो कर कहा कि मैं सन्तुष्ट हो गया हूं—अब बलि की ज़रूरत नहीं। श्री शङ्कराचार्य के "शङ्कर दिग्विजय" से भी पता चलता है कि ई० सन् ८ वीं शताब्दी तक भारत में नरबलि की प्रथा जारी थी।

बाद देवपाण्ड्य ने पर्याप्त रूप से वाणिज्य वस्तु लाद एवं अपने छोटे भाई नारायण पाण्ड्य को अध्यक्ष बना कर और और जहाजों के साथ अपने नवनिर्मित जहाज को भी व्यापार के निमित्त एजिप्ट को भेज दिया। ये जहाज लाल समुद्र को पार कर उसके उत्तर भाग में अवस्थित एजिप्ट के बर्निस बन्दरगाह पर पहुंच गये। उस जमाने में यह एक बड़ा प्रसिद्ध बन्दरगाह समझा जाता था। इसका व्यापार-सम्बन्ध रोम साम्राज्य से भी रहा। उस समय लाल समुद्र के उत्तर भाग में बड़ी बड़ी चट्टानें थीं एवं आज कल के समान समुद्र में तूफान का भी प्रबल वेग रहता था। जिस समय देव पाण्ड्य के जहाज इस बंदरगाह में लगे हुए थे इसी बीच में एक भीषण तूफान के कारण इनके तीन जहाज पूर्वोक्त चट्टानों के बीच में जाकर अँटक गये। परन्तु कुछ दिनों के बाद एक दूसरे तूफान के झोंके से वे जहाज वहाँ से रक्षा-पूर्वक निकल आये। बाद जहाजों के अध्यक्ष नारायण पाण्ड्य जहाजों पर की अपने यहाँ की लदी हुई चीजों को बेंच एवं बर्निस से नयी चीजें खरीद तथा भर कर अपने देश को लौट आये। साथ ही साथ वे उस समय नगर की वायव्य दिशा में अवस्थित पर्वत की खान से हरित मणियाँ और सुवर्ण बनाने का एकमात्र साधन सिद्ध रस भी लेते आये। एजिप्ट के प्राचीन इतिहास से भी यह बात सिद्ध होती है कि सु-प्राचीन काल में बर्निस एजिप्ट का एक प्रसिद्ध प्राचीन बन्दरगाह था, लाल समुद्र के उत्तर में चट्टानों की संख्या अधिक थी, नगर के वायव्य कोण में हरित मणि की खानें थीं एवं सिद्धि कहलानेवाले वहाँ के कुछ लोग सुवर्ण बनाने में सिद्ध-हस्त थे।

इधर बारकूरु में नारायण पाण्ड्य की अध्यक्षता में यहाँ से जहाज चले जाने पर अपने पुत्र की व्यन्तर देव को बलि देने में असहमत देव पाड्य की स्त्री अपने बच्चों के साथ मायके को चली गई और वहाँ से फिर लौट कर नहीं आई। इस बीच में बारकूरु के शासकों में कोई राज्य का उत्तराधिकारी नहीं होने से वहाँ की प्रजाओं ने पाण्ड्य-राजवंशी देव पाण्ड्य के भाँजे जय को ही योग्य समझ कर राजसिंहासनारूढ़ किया। कुण्डोदर नामक व्यन्तर (भूत) के अनन्य भक्त लोगों ने कुण्डोदर को आत्मसमर्पित करने तथा उससे वरदान-द्वारा रक्षित होनेवाले जय का राजपट्ट-नाम भूताल पाण्ड्य रक्खा। उन दिनों यह तौलव प्रान्त बनवासी कदम्बों के साम्राज्यान्तर्गत था। कदम्ब साम्राज्य का महामण्डलेश्वर गोकर्ण में रहता था और इसी के अधीनता में भूताल पाण्ड्य बारकूरु में राज्यशासन करता था। व्यापारार्थ बर्निस गये हुए

जहाज जब छः साल के बाद बारकूरु बन्दरगाह पर पहुंचे तो भूताल पाण्ड्य अधिक काल होने के कारण पहले-पहल उन्हें पहचान नहीं सके। जिस समय देव पाण्ड्य को अपने जहाजों को विदेश से रक्षापूर्वक लौट आने की खबर मिली उस समय अपनी कुल सम्पत्ति बहन के लड़के भूताल पाण्ड्य (जय) के हवाले कर दी। क्योंकि स्त्री तो इनसे रुष्ट हो बच्चों को लेकर सदा के लिये मायके को चली ही गयी थी। बल्कि देव पाण्ड्य ने राजा भूताल पाण्ड्य से समस्त तौलव प्रान्त में यह नियम घोषित करवा दी कि अब से सम्पत्ति के उत्तराधिकारी स्त्री-पुत्र नहीं होकर बहन और उसकी सन्तान ही हुआ करेगी। क्रोधोद्रेक से देव पाण्ड्य द्वारा संचालित धर्मशास्त्र एवं नीतिविरुद्ध इस काला नियम ने कुछ स्वार्थियों की कृपा से आज भी वहां पर अपनी सत्ता को नहीं खोया है।

हाँ, इधर इसमें कुछ परिवर्त्तन हुआ है अवश्य, पर इसी से सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। देव पाण्ड्य इस कानून को तौलव देश में ही जारी कर सन्तुष्ट नहीं हुए। बल्कि मलयाल (मालाबार) राज्य के शासक से अन्तरंग सौहार्द होने के कारण वहाँ भी मरिमक्कतायम् नाम से इस दायभाग सम्बन्धी कानून को प्रचलित करा दिया था। किन्तु हर्ष की बात है कि वहाँ से यह काला कानून सदा के लिये उठ गया। यदि बृटिश सरकार चाहे तो तौलव देश (द० क० जिला) से भी उठना कोई मुश्किल नहीं है। पर ज्ञात होता है गवर्नमेन्ट इस पर हस्तक्षेप करना ही नहीं चाहती। इसमें कोई शक नहीं कि भूताल पाण्ड्य एक बड़ा शक्तिशाली शासक था, अन्यथा समस्त प्रान्त तथा जाति को इस लोक एवं धर्मविरुद्ध कानून को मानने के लिये सहमत करना साधारण बात नहीं है। हाँ एकमात्र ब्राह्मण वर्ण ही इस कानून के विरुद्ध खड़े होकर इस से अब तक मुक्त हैं।

राजा भूताल पाण्ड्य ने ७४ वर्षों तक बारकूरु राजधानी में रह एवं प्रजाप्रिय बन कर धर्म-पूर्वक राज्य का शासन किया। इनके शासनकाल में बारकूरु बड़ी उन्नतावस्था को प्राप्त हो गया था*। इनके बाद क्रमशः ई० सन् १४८ में विद्युज्ज्ञ पाण्ड्य, ई० सन् २६२ तक वीरपाण्ड्य, ई० सन् २८१ तक चित्रवीर्य पाण्ड्य, ई० सन् २९० तक देववीर पाण्ड्य ई० सन् ३१६ तक बलवीर पाण्ड्य और ई० सन् ३४३ तक जयवीर पाण्ड्य शासक बने रहे†। इसके आगे इस पाण्ड्य वंश का कुछ पता नहीं चलता। अब रहा कार्कल में शासन करनेवाले पाण्ड्यवंश का परिचय।

जिस समय तौलव या वर्तमान दक्षिण कन्नड जिलान्तर्गत कार्कल, ऐदुरु आदि सात प्रान्तों का कापिट्टु हेग्गडे शासन कर रहा था उस समय प्रजायें इनके दुःशासन से ऊब गयी

* "वीर" वर्ष ४ अंक १२-१३ में प्रकाशित मेरा बारकूरु लेख देखें।

† देखें "दक्षिण कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास"

थीं। इन्हों ने एक बार प्रजाओं से यह कहा था कि अब से मैं तुम लोगों से कर पलंग पर पड़े पड़े लूंगा; किन्तु अपमान समझ कर प्रजाओं के घोर विरोध करने पर हेग्गडे ने अपने आदेश में यह परिवर्त्तन किया कि मैं पड़े पड़े कर लूंगा तो तुम लोग भी बैठे बैठे कर देना। इस आदेश से सहमत हो कर जब दूसरे दिन प्रजायें कर ले गयीं तो, उक्त अविवेकी शासक हेग्गड़े खास कर प्रजाओं को अपमानित करने की नियत से ही इनके बैठने में अनिवार्य असुविधा पहुंचाने के लिये अपने भवन के सामने मैदान में कीचड़ का दलदल तयार करा एवं बीच में पलंग लगा कर उस पर लेट गया। इस विकट परिस्थिति को देख एवं क्षुब्ध होकर बिना कर दिये ही प्रजायें लौट गयीं। इसी बीच में हुम्बुच्च के शासक जिनदत्त राय के वंशज* भैरव पाण्ड्य अपनी पवित्र तीर्थभूमि मूडबिद्री से लौटती बार कार्कल में उतरे हुए थे। वहां जाकर प्रजाओं ने उनसे हेग्गडे का यह कच्चा चिट्ठा कह सुना कर न्याय-भिक्षा माँगी। तदनुसार भैरव राय ने हेग्गडे को बुला कर समझाया और कहा कि प्रजाओं का दिल दुखाना राजा का धर्म नहीं है। किन्तु इनके समझाने का हेग्गडे के हृदय पर कुछ भी असर नहीं हुआ। अन्ततो गत्वा भैरव पाण्ड्य ने हुम्बुच्च से सेना बुला एवं युद्ध में हेग्गडे को हरा कर उसके अधीनस्थ प्रान्तों पर कब्जा कर लिया। यह तो हुम्बुच्च की राजधानी में ही रह कर प्रजाओं का शासन करते रहे। किन्तु इनके उत्तराधिकारी शासकों ने अपने शासन का केन्द्र कार्कल को ही बनाया। इस वंश से निम्न लिखित शासकों ने शासन किया है:--

(१) पांड्य देवरस या पाण्ड्य चक्रवर्त्ती (२) लोकनाथ देवरस (३) वीर पाण्ड्य देवरस (४) रामनाथ अरस (५) भैरव्स ओडेय (६) वीर पाण्ड्य भैरस ओडेय (७) अभिनव पाण्ड्य देव अथवा पांड्य चक्रवर्त्ती (८) हिरिय भैरव देव ओडेय (९) इम्मडि भैरव राय (१०) पाण्ड्यप्प ओडेय (११) इम्मडि भैरव राय (१२) रामनाथ (१३) वीर पाण्ड्य †।

बारकूरु तथा कार्कल में शासन करने वाले दोनों ही पाण्ड्य वंशों में वीर पाण्ड्य नाम के व्यक्ति मिलते हैं अवश्य। किन्तु आजतक के अन्वेषण से बारकूरु में शासन करने वाले पाण्ड्य-वंश में न कोई साहित्यिक शासक ही प्रमाणित हुआ है और न किसी साहित्यिक विद्वान ही की इस राजदरबार में चर्चा सिद्ध होती है। साथ ही साथ इस कृति को देख कर इसे ई० सन् ३य शताब्दी में रचित कहने को दिल कबूल भी नहीं करता।

अब रहा कार्कल का पाण्ड्य-वंश। यह पाण्ड्य-वंश विद्वानों को आश्रय देने में सुविख्यात है। बल्कि "भव्यानन्द शास्त्र" के प्रणेता पाण्ड्यक्ष्मापति जैसे साहित्यिक राजरत्न

* इस वंश का संक्षिप्त परिचय प्रशस्ति-संग्रह ३६ में देखें।

† देखें "दक्षिण कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास"।

शासक इसी वंश में प्रादुर्भूत हुए हैं *। देवचन्द्र, कल्याणकीर्त्ति, नागचन्द्र, देवेन्द्रकीर्त्ति वर्द्धमान और रत्नाकरसिद्ध आदि कई दिग्गज विद्वान एवं कवि इसी राजवंश के गौरव-स्वरूप आस्थान-पण्डित थे। इससे निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह कार्कल कुछ समय के लिये विद्वानों का केन्द्र सा बन गया था। इस वंश के राजगुरु ललितकीर्त्ति जी स्वयं एक बहुदर्शी प्रतिभाशाली विद्वान् थे †। उल्लिखित-वंश-तालिका से यह ज्ञात होती है कि इस वंश में तीन वीर पाण्ड्य हो गये हैं। अतः इस "क्रिया-निघण्टु" के रचयिता कौन से वीर पाण्ड्य हैं यह प्रश्न उठ खड़ा होने पर कोई भी प्रबल प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता कि जिससे सिद्ध हो कि अमुक वीर पाण्ड्य ही इसके कर्त्ता है। मेरे मन में यह बात आती है कि शायद लोक-विश्रुत स्थानीय बाहुबली प्रतिमा के प्रतिष्ठापक १५ वीं शताब्दी के वीर पाण्ड्य भैररस ओडेय ही इस निघण्टु के निर्माता हों। क्योंकि इन्हीं की शताब्दी में देवचन्द्र, कल्याणकीर्त्ति, नागचन्द्र, और ललितकीर्त्ति आदि संस्कृत के उद्भट विद्वान हो गये हैं। "भास्कर" भाग १ किरण ४ में प्रकाशित श्रीशुभचन्द्राचार्य की पट्टावली में वर्णित ज्ञान-भूषण, विजयकीर्त्ति, आचार्य शुभचन्द्र एवं वादिभूषण इनका भी तौलव देश से सम्बन्ध सिद्ध होता है। संभव है कि इन आचार्यों का सम्बन्ध कार्कल पाण्ड्य दरबार में ही रहा हो। विद्वानों के सम्पर्क से यह भी संभव है कि वीर पाण्ड्य संस्कृत सीख कर संस्कृत कविता करना जान गये हों और इसी का फल-स्वरूप यह क्रिया-निघण्टु हो।

अब विज्ञ पाठकों के समक्ष क्रिया-निघण्टु के कुछ उद्धरण दिये जाते है :—

प्रारम्भक-भाग—

धातु-प्रयोगपर्यायाः केचित्काव्योपयोगिनः।
वीरपाण्ड्यक्षितीशेन वक्ष्यन्ते शिक्षितुं शिशून् ॥१॥
विद्यतेऽस्ति भवत्यत्र स्यादस्तु स्याद्भवेदपि।
भूयाद्भवतु भवताद्विद्यतां श्रीजगत्त्रये ॥२॥
सम्पद्यते जायते च जनयत्युत्पद्यते जगत्।
सम्भवत्याविर्भवति प्रादुर्भाति सर्वदा ॥३॥
तिष्ठत्यास्ते वर्तते च वसत्यत्र गृहे रमा।
प्राणिति श्वसिति श्रेयान् परार्थाय च जीवति ॥४॥
रचयति करोति कुरुते विदधाति विवर्तमादधात्यार्यः।
सम्पादयति तथासावादत्ते सज्जते सौख्यम् ॥५॥

* देखें "प्रशस्ति-संग्रह" पृष्ठ ३४

† देखें "प्रशस्ति-संग्रह" पृष्ठ १६—१८

उत्पादयति च सृजते निर्वर्तयतीह साधयत्याशु ।
राध्नोति च साध्नोत्यथाराध्यति च सम्रते (?) प्रीतिः ॥६॥
प्रसूयति प्रसूते च सुवत्यथ सवत्यपि ।
प्रसवत्यमलं पुत्रं या सा पुण्यवती सती ॥७॥

× × × ×

मध्यभाग—

प्रतिषिध्यति वारयति प्रतिषेधति तन्निराकरोत्यल्पान् ।
प्रत्याविशति च दोषान् प्रत्याचष्टे निषेधति प्राज्ञः ॥४५॥
स्तभ्नाति स्तभ्नते चैव स्तुभ्नोति स्तोभते तथा ।
स्तुभ्नाति प्रतिबध्नाति स्तुभ्नोति स्तर्विति (?) तथा ॥४६॥
स्कुभ्नाति च विशत्येप् स्कुभ्नोति क्नुवते रिपून् ।
स्कभ्कोति स्कुभ्नुते स्कूते सभास्थलयर्थवाचकाः ॥४७॥
सहते मृष्यति मर्षति तितिक्षते मृष्यते तथा ।
मृषति मर्षयति क्षाम्यति क्षमते मृषयन्त्यसौ सहति ॥४८॥

× × × ×

अन्तिम भाग—

स्निह्यति तुष्यति तुषति हृष्यति हृष्टे च मोदते कान्ते ।
पठयति माद्यति कर्वति खर्वति सा क्षीवते च गर्वति ॥७९॥
विचिनोत्यवेक्षते सा वलिगष्यति मृगयते च गवेषयति ।
अन्विष्यते च मार्गं मार्गयति च चिनोति ह्यथ दोषान् ॥८०॥
आकात्याह्वयति चापि स्वमामन्त्रयते प्रियम् ।
अथ पर्यायनियुक्तेऽसावनुयुंक्ते स पृच्छति ॥८१॥

× × × ×

× • × × ×

परिवस्यति परिचरति च परियजते सेवते भजति ।
शुश्रूषते च भजते श्रयते चाराधयत्युपास्ते च ॥
प्रसादयति देवेशं तथोपचरति स्फुटम् ।
परियजति तीर्थं धीमान् प्रायेणैकार्थवाचकाः ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से पाठकों को यह बात विदित हो गयी होगी कि यह कृति विशेष

महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि समानार्थवाचिको क्रियाओं की योजना करने में कई जगह छन्दों में भी शिथिलता आ गयी है; पर हाँ यह एक संस्कृत साहित्य-प्रेमी राजा की रचना है; अतः इनका प्रयत्न स्तुत्य है। अब तक के अन्वेषण से जैन राजाओं में अमोघवर्ष, चावुण्ड राय, पाण्ड्यक्ष्मापति, * देवराज † ये ही संस्कृत के प्रणेता प्रमाणित हुए हैं। अब इस वीर पाण्ड्य राजा को पाँचवा संस्कृत साहित्यिक विद्वान मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी। टूटी फूटी ही सही—संस्कृत कविता बनाने के लिये संस्कृत भाषा का अन्तःपात होना परमावश्यक है। दूसरी बात यह है कि जब तक किसी अमुद्रित पुस्तक की दो चार प्रतियाँ नहीं उपलब्ध होंगी तब तक एकमात्र प्रति से विशुद्ध रूप का पता लगाना नितान्त असम्भव है। असंस्कृतज्ञ एवं अनुत्तरदायी लेखकों की कृपा से भी बड़े बड़े उद्भट विद्वानों की अनेक कृतियाँ आज अक्षम्य अशुद्धियों का शिकार बन रही हैं यह बात साहित्यिक विद्वानों में छिपी नहीं है।

* देखें "प्रशस्ति-संग्रह" पृष्ठ ३४

† देखें "भास्कर" भाग ३ किरण १, पृष्ठ २३

जैनशिलालेख-विवरण

(श्रीयुत प्रोफेसर गिरनॉट)

उपर्युक्त शीर्षक के गत भास्कर भाग ३ किरण १ के लेख में ३१ नं० तक शिलालेखों का उल्लेख किया जा चुका है। आगे इस प्रकार है :—

३२ भैरव द्वितीय का कार्कल लेख—सं० कृष्ण शास्त्री। भाषा संस्कृत-कन्नड, लिपि कन्नड। शक १५०८ कार्कल में संतार वंशी भैरव द्वि० द्वारा चतुर्मुखबस्ति बनने तथा देशीगण के ललितकीर्ति का उल्लेख है। (Ibid No. 10)

३३ कोडगु के लेख (Coorg Inscrips)—सं० लुईं राइस—इनमें कोडगु में प्राचीन काल में जैन धर्म का होना और होयसल राजाओं का जैनी होना प्रकट है। मडिकेरी (नं० १ सन ४६६) के लेख से प्रकट है गंगवंशी अविनीत ने जैन मंदिर के लिये बदणेगुप्पे नामक गांव देशीगण कुन्दकुन्दान्वय के भट्टारक वन्दनन्दि (?) को प्रदान किया। बिलिऊरु (नं० २ सन ८०७) के लेख में है कि गंगवंशी सत्यवाक्य परमानडी (?) ने शिवनन्द के शिष्य सर्वनन्दि को दान दिया। पेग्गूरु (नं० ४ सन ९७७) के लेख से ज्ञात होता है कि रक्कस गंग ने पेग्गूर के जैन मन्दिर को दान दिया था। अंजनगिरि (नं० १० सन १५४४) से एक मन्दिर का बनना प्रकट है। (Epigraphia Carnatica, Vol I. 1886)

३४ श्रवणबेलगोल के शिलालेख - सं० लुईं राइस। हिन्दी में यह सब प्रो० हीरालाल जी द्वारा माणिकचंद्र जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। (Epi, Car. vol II)

३५ मैसूर ज़िले के शिलालेख सं० लुईं राइस भा० १ रामेश्वर के मन्दिर में जैन ढङ्ग का भास्करकार्य है। (भूमिका पृ० ३५)। लेख निम्न प्रकार हैं :—

जिला	नं०	समय	उद्देश्य
मैसूरु	६	७५० ई०	गोवपय्य जैन का स्मारक है।
,,	२५	७५० ई०	किसी दान का उल्लेख है।
,,	४०	९८० ई०	स्मारक।
श्रीरिङ्गपट्टम्	१४४	१३८३ ई०	सकलचंद्र शिष्य वासुपूज्य दिगम्बर काणूर-गण तिन्तिणीगच्छ कंदकंदान्वय का उल्लेख है।

जिला	नं०	समय	उद्देश्य
श्रीरङ्गपट्टम	१४७	९०० (करीब)	श्रवण बेल्गोल के कलवप्पु (कटवप्र) पर्वत पर भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के ठहरने का उल्लेख करते हैं।
,,	१४८	९०४ (?)	
मण्ड्य	५०	११३०	श्रीमल्लिनाथ मन्दिर बनने तथा देशीगण पुस्तकगच्छ को दान देने का उल्लेख।
मलवल्ली	३०	९०९	दान।
,,	३१	१११७	काणूरगण तिन्तिणीगच्छ के आचार्य मेघचन्द्र को दान देने का उल्लेख है।
,,	४८	१६९९	आदिनाथ पंडित देव आदि का उल्लेख है।
तिरुमकुड्लुनरसीपुर	१०५	११८३	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय का मुख्य लेख है।
नन्जनगूडु	४३	१३७१	मेघचन्द्र व माणिक देव का उल्लेख है।
,,	६४	१३७२	पुस्तकगच्छ के श्रुत मुनि और उनके शिष्यों का उल्लेख है।
,,	१३३	११७०	अरुङ्गलान्वय के अजित सेनाचार्य का उल्लेख है।

३१ मैसूर जिला के शिला-लेख भा० २—पृष्ठ ४ पर "बृहत्कथाकोष" जो सन ९३१ ई० में हरिषेण-द्वारा रची गई थी, उसके आधार पर उल्लेख है कि भद्रबाहु संघसहित मैसूर प्रदेश के पुन्नाट प्रान्त में आकर ठहरे थे। पृष्ठ ७ पर है कि जैनाचार्य सिंहनन्दि ने मैसूर के गङ्गवंश की स्थापना की थी। पृष्ठ १६ पर है कि प्राचीन चङ्गाल्व अथवा चङ्गालुव वंश के राजा जैन धर्मानुयायी थे। पनसोगे के चार मन्दिर दिगम्बरीय पुस्तकगच्छ के हैं। पृष्ठ १९ पर है कि विष्णुवर्द्धन ने जैन मन्दिरों का उद्धार किया था। पृष्ठ २४ पर है कि मेलुकोटे प्राचीन जैनकेन्द्र है—उसे वर्द्धमान क्षेत्र कहते थे।

जैनों से सम्बन्धित शिलालेख निम्न प्रकार हैं :—

जिला	नं०	समय ई०	विषय
चामराजनगर	८३	१११७	मन्दिर बनने व उसको दान मिलने का उल्लेख है।
,,	१४६	१८१३ (?)	मलेयूरु देशीगण पुस्तकगच्छ के श्रीभट्टाकलङ्क की प्रशंसा है।

ज़िला	नं०	समय	उद्देश्य
चामराजनगर	१४८	१५१८ (?)	कालोग्रगण आदिदास के शिष्य मुनिचंद्र का स्मारक।
,,	१४९	१६७४	विजयपैय्य द्वारा लक्ष्मीसेन मुनीश्वर का स्मारक।
,,	१५०	१८१३	देशीगण के श्रीभट्टाकलङ्क का उल्लेख है।
,,	१५१	१४००	देशीगण पुस्तकगच्छीय शुभचंद्र के शिष्य चन्द्रकीर्ति-द्वारा श्रीचन्द्रप्रभ की प्रतिमा स्थापित हुई।
,,	१५३	१३५५	पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयी हेमचन्द्र-कीर्त्ति के आदिदेव-द्वारा विजयदेव की मूर्ति बनने का उल्लेख है।
,,	१५६	१६३० (?)	विविध-मूर्ति-निर्माण-उल्लेख।
,,	१५७	१३८० (?)	बाहुबलि पंडितदेव और नयकीर्तिव्रती का उल्लेख है।
,,	१६१	१५१८ (?)	नं० १४८ का विषय है।
गुण्डलुपेटे	१८	१८२८ (?)	राजकुमार कृष्णराज ने चन्द्रप्रभ स्वामी की एक प्रतिमा निर्माण की।
,,	२७	११९६	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय के दान का उल्लेख है।
,,	९६		अस्पष्ट।
एडतोरे	२१	१०२५ (?)	पुस्तकगच्छ देशीगण के मन्दिर का उल्लेख।
,,	२२	१०६० (?)	पुस्तकगच्छ के मन्दिर बनने का उल्लेख।
,,	२३	१०८० (?)	पनसोगे के मन्दिरों तथा देशीगण पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के दामनन्दि भट्टा० और दिवाकर नन्दिसिद्धान्त देव का उल्लेख है।
,,	२४	१०९९	कुन्दकुन्दान्वयी पूर्णचंद्र की पट्टावली।
,,	२६	११०० (?)	देशीगण के मन्दिर बनने व दान देने का उल्लेख।
,,	२७		नं० २३ के अनुरूप।
,,	२८	११०० (?)	पुस्तकगच्छ के श्रीधरदेव की पट्टावली।
,,	३६	१८७८	शिलाग्राम में एक जैन मन्दिर बनने व उसे दान दिये जाने का उल्लेख है।

ज़िला	नं०	समय	उद्देश्य
हेग्गडदेवनकोटे	१	१४२४	एक ग्राम का दान।
,,	५१	१८२९	दान का उल्लेख।
हुन्सूरु	१४	१३०३	होनियन हल्लि के मन्दिर तथा देशीगण पुस्तक-गच्छ कुन्दकुन्द० के बाहुबलि मलधारि देव और उनके शिष्य पद्मनन्दि का उल्लेख है।
,,	१२३	१३८४	श्रुतगण के आदिदेव मुनि ने अपने गुरु श्रुतकीर्ति देव का स्मारक बनवाया।
कृष्णराजपेटे	३	११२५	विष्णुवर्द्धन ने एक मन्दिर बनाकर पुस्तक गच्छ कुन्दकुन्दान्वय के शुभचंद्र को दान दिया।
नागमंगल	१९	१११८ (?)	सूरस्थगण की पट्टावली।
,,	२०	११६७	बिन्डिगनविले(?)के मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ।
,,	२१	११३० (?)	पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयी प्रभाचंद्र के शिष्यों का स्मारक।
,,	३२	११८४	मन्दिरों के बनने और देशीगण के देवकीर्ति के शिष्य देवचन्द्र को दान दिये जाने का उल्लेख है।
,,	४३	१६८०	लक्ष्मीसेन भट्टारक ने कुछ बनवाया।
,,	७०	११७८	होयसलवंशी वीर बल्लाल द्वितीय ने पार्श्वनाथ जिन का मन्दिर बनवाया। कुन्दकुन्दान्वयी गुणचंद्र व दामनन्दि त्रैविद्य का उल्लेख है।
,,	७६	११४५	कुन्दकुन्दान्वय के आचार्यों की नामावली है।
,,	९४	११४२	पार्श्व जिनका मन्दिर बना।
,,	१००	११४५	विविध जैनाचार्यों का उल्लेख।
,,	१०३	११२०	द्राविड़ संघ के आचार्यों की नामावली।

३७ **हासन ज़िले के शिला-लेख**—(Ep. Car., V) लुई राइस (मंगलूरु १९०२) भूमिका में (XLII) बस्तिहल्लि व हलेबीडु के पार्श्वनाथ मन्दिर (११३३) और शांतिनाथ मन्दिर (११९२) का उल्लेख है। जैन शिलालेख निम्नलिखित हैं :—

हासन	५७	११५५ ई०	कुन्दकुन्दान्वयी नयकीर्ति के शिष्य और नरसिंह

			प्रथम (होयसल) के सेनापति व मंत्री चाविमय्य के भूमिदान का उल्लेख है।
,,	११९	११७३	वीर बल्लाल द्वितीय के मंत्री बूचिमय्य के मन्दिर-निर्माण और द्रविल-संघ अरुङ्गलान्वयी श्रीपाद के शिष्य वासुपूज्य को ग्राम दान देनेका उल्लेख है।
,,	१३०	११४७ (?)	नरसिंह प्रथम का दान।
,,	१३१	११६७ (?)	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वयी वासुपूज्य के शिष्य पुष्पसेन का उल्लेख।
बेलूरु	९	११२० (?)	विष्णुवर्द्धन के सम्बन्ध में अधूरा लेख है।
,,	१७	११३६	द्रविल-संघ की पट्टावली।
,,	१२४	११३३	जैन-धर्म-प्रभावक दण्डनायक गङ्गराज की प्रशंसा पुत्र बोप्पने एक मंदिर स्मृति में बनवा कर नेमिचंद्र के शिष्य नयकीर्ति से प्रतिष्ठा कराई। (?)
,,	१२८	१६३६	विविध दान।
,,	१२९	११९२ (?)	शान्तिनाथ मन्दिर व देशीगण वक्रगच्छ के बालचन्द्र का उल्लेख।
,,	१३१	१२७४	बालचन्द्र की प्रशंसा।
,,	१३२	१२७४ (?)	,,
,,	१३३	१२७९	बालचंद्र के शिष्य अभयचन्द्र की प्रशंसा।
,,	१३४	१३००	बालचन्द्र के प्रशिष्य रामचंद्र मलधारी की प्रशंसा।
,,	१३९	१२५५ (?)	एक मन्दिर का उल्लेख।
,,	२३५	१०६० (?)	द्रविल-संघ को दान।
अरसिकेरे	१	११६९	श्रीपाल के शिष्य वासुपूज्य से नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय की पट्टावली और एक पार्श्वनाथ-मन्दिर बनने तथा वासुपूज्य शिष्य पुष्पसेन के दान का उल्लेख।
	३		कुन्दकुन्दान्वय के आचार्य का स्मारक।
,,	७७	१२२०	वीर बल्लाल द्वि० ने अरसिकेरे में मन्दिर बनवाया।
,,	१४१	११५९	मल्लिषेण मलधारी के शिष्य प्रसिद्ध न्यायवादी श्रीपाल की पट्टावली।

चन्नरायपट्टण	१४६	११७४	पार्श्वनाथ-मन्दिर के लिये वीर बल्लाल द्वि० ने कुंद-कुन्दान्वयी भानुकीर्त्ति के शिष्य नयकीर्त्ति को दान दिया।
,,	१४८	१०९४	होयसलराज एरेयङ्ग ने आचार्य गोपनन्दि को दान दिया।
,,	१४९	११२५	विष्णुवर्द्धन ने श्रीपाल को दान दिया।
,,	१५०	११८२	पार्श्वनाथ-मंदिर बनाने के लिए वीर बल्लाल द्वि० ने नयकीर्त्ति को दान दिया।
,,	१५१	१२००	विविध दान।
,,	१९८	११३०	,,
,,	२४८	११३४	बेल्गोल में गङ्गराज ने मंदिर बनाये।
होलेनरसीपुर	१६	१०८०	भूमिदान।
अरकलगूडु	१२	१२४८	होयसल सोमेश्वर के विभिन्न दान और शान्तिनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार
,,	९६	१०९५	अस्पष्ट लेख।
,,	९७	१०९५	मंदिर-निर्माण।
,,	९८	१०६० (?)	नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय के गुणसेन की प्रशंसा।
,,	९९	१०७९	एक मंदिर निर्माण व दान। प्रभाचंद्र का उल्लेख।
मन्जराबाद	६७	९७०	धातु की एक जिन-प्रतिमा के आसन का लेख जैन धर्म के प्राचीन इतिहास का द्योतक। प्रतिलिपि चित्र नं० ११।

३८ **कडूरु ज़िला के शिलालेख** (Ep car. VI) लुई राइस (बैङ्गलूरु १९०१)

भूमिका-पृष्ठ १० मैसोर के सांतर राजा जैनी थे।

,, ,, १९ कार्कल के राजा भी संभवतः जैनी थे।

,, ,, २१ बुचनन सा० तुलु देश के भैररस, उनका जैनधर्म तथा विजयनगर राजवंश के उत्तराधिकारी जैनी होने विषयक मत।

,, ,, २८ सोसेवूर--अङ्गडि के जैनमंदिरों के भास्कर-कार्य पर प्रशंसात्मक नोट।

जैन शिलालेख ये हैं :—

कडूरु	१	९७१ ई०	देशीगण कुन्द० के एक साधु का स्मारक।

कड्डूरु	३६	१२०३	वीर बल्लाल द्वि० ने शान्तिनाथ का मंदिर बनवाया।
,,	६९	११६०	मंदिर-निर्माण।
,,	१७४-१८१		जैन उपासकों का स्मारक।
चिक्कमंगलूरु	२	१२८०	पुस्तकगच्छ कुंद० के साधु का स्मारक।
,,	७५	१०६०	देवगण पाषाण अन्वय के एक शिष्य को दान तथा मंदिर-निर्माण का उल्लेख।
,,	१६०	११०३	विष्णुवर्द्धन के जैन मंत्री मरियाने व भरतेश्वर की प्रशंसा।
,,	१६१	११३७	उक्त मंत्रियों से सम्बधित लेख।
मूडगेरे	१०	११०० (?)	समाधि-लेख।
,,	१२	११७२	होन्नङ्गि के मंदिर को दान।
,,	१७	१०६२	समाधि-लेख।
,,	१८	१०४०	रविकीर्त्ति का समाधिलेख।
,,	२२	११२९	पुस्तकगच्छ कुंद० के साधु को दान व मंदिरनिर्माण।
,,	६७	१२७७	जैनों व शैवों के दान का संयुक्त लेख।
कोप्प	३	१०५० (?)	सांतरकुमार मार व अजितसेन का उल्लेख।
,,	४७	१५३०	कार्कल की एक राजकुमारी-द्वारा जैन मन्दिर को दान।
,,	५०	१५५८	कोप्प के जैनमन्दिर को दान।

(क्रमशः)

अनु०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन

नोट—अंग्रेजी से अनुवाद होने एवं दक्षिण के उन नामों से अपरिचित होने के कारण इस लेख के नामों में जहाँ तहाँ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। जो मूल लेख भवन में मौजूद हैं उन्हें तो मैंने यावच्छक्य ठीक कर दिया है परन्तु जिनका मूल लेख नहीं हैं उनमें मौलिकता की रक्षा के ख़याल से हस्तक्षेप करना मैंने उचित नहीं समझा।

के० बी० शास्त्री

जैन-गोत्र पर एक नजर

(ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

मैं बहुत दिनों से विचार कर रहा था कि भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त की हर एक जैन जाति के गोत्र, सूत्र, प्रवर एवं शाखा आदि का संग्रह एकत्रित हो जाना परमावश्यक है। इससे भी जैन जाति का एक प्रामाणिक विस्तृत इतिहास-प्रणयन करने में सहायता मिलेगी। बल्कि जाति को लेकर जैन समाज में आजकल जो आन्दोलन चल रहा है, इसका भी इस संग्रह से बहुत कुछ समाधान होने की आशा है। मैं अपने इस विचार को भिन्न भिन्न जैन जाति के कई विद्वानों के समक्ष उपस्थित भी कर चुका हूं। बल्कि कतिपय विद्वान् मित्रों ने अपने प्रान्त की जैन जाति के गोत्र, सूत्रादि का संग्रह कर भेजने का वचन भी दिया है। एक बन्धु ने तो अपनी जाति के गोत्र सूत्रादि संगृहीत कर भास्कर में प्रकाशनार्थ भेजा भी था। परन्तु कई त्रुटियाँ रहने की वजह से उसे प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया। आज से पन्द्रह-सोलह साल की बात है कि जिन दिनों मैसूरु में मैं अध्ययन कर रहा था एक बार मैसूरु राजकीय प्राच्य पुस्तकालय (Oriental Library) में "जैन-गोत्र-प्रवर-निर्णय" नामक एक लघु कलेवर हस्तलिखित पुस्तक देखने का मुझे सुअवसर मिला था। पर इसके कुछ पन्ने उलटने पर इसमें मुझे हिन्दुओं में प्रचलित विश्वामित्र, अत्रि, वसिष्ठ, पराशर, काश्यप, कौण्डिल्य, आङ्गीरस, शाण्डिल्य आदि गोत्र के नाम ही नजर आये। यह देखकर मेरे मन में शंका उठ खड़ी हो गयी। फलस्वरूप मैंने वहाँ के कुछ जैनियों से उनके गोत्र सूत्र पूछना आरम्भ कर दिया। इन लोगों ने जो अपने गोत्र सूत्र बतलाये वे उल्लिखित नामों के ही अन्तर्गत थे। जिन जैन वंशों में उल्लिखित हिन्दूवंश सूचक विश्वामित्र आदि गोत्र सूत्र ही आज भी प्रचलित हैं मानना पड़ेगा कि वे पहले हिन्दू थे, पीछे जैनी हुए। सम्भव है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के ससंघ दक्षिण-यात्रा के उपरान्त जब कुछ शताब्दियों में सम्पूर्ण दक्षिण प्रान्त में जैनियों की विजय-वैजयन्ती फहरा रही थी तब भिन्न भिन्न समय में दीर्घ-तपस्वी दिग्गज विद्वान् जैनाचार्यों के प्रभाव से प्रभावित होकर उच्च वंशीय हिन्दू जैनी बन गये होंगे। उन शताब्दियों में सामान्य हिन्दुओं को कौन कहे स्याद्वादवाचस्पति विद्यानन्द जैसे अनेक प्रगाढ़ हिन्दू विद्वान् भी अपने पूर्व वंश को तिलाञ्जलि देकर जैन-धर्म की पुनीत छत्र-छाया में आ गये थे।

कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का मत है कि भद्रबाहु की दक्षिण-यात्रा के पहले वहाँ जैनियों की सत्ता थी ही नहीं। पर मैं अब इस विचार से सहमत नहीं हूं। क्योंकि यदि दक्षिण में

जैनियों का नामो निशान नहीं रहता तो इतने बड़े जैन-संघ की उधर यात्रा करने की हिम्मत नहीं पड़ती। बौद्धों के "महावंश" नामक पाली ग्रन्थ से भी यह पता चलता है कि सुप्राचीन काल से ही दक्षिण प्रान्त में जैन-धर्म का अस्तित्व अवश्य था। खैर जिन में अद्यावधि उल्लिखित विश्वामित्र आदि गोत्र सूत्र ही प्रचलित हैं उन कतिपय जैन विद्वानों से इस संबन्ध में जब मैंने इधर अपना विचार उपस्थित किया तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि जैनियों मे भी विश्वामित्र वशिष्ठ आदि नाम वाले ऋषि हुए होंगे। यह उत्तर बिलकुल निराधार है। क्योंकि जैन ग्रन्थों में इन नामों का उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता। तब ऐसी दशा में इन्हें अपना पूर्वज कहना असंगत है। अतः मेरा विचार इस विषय मे वही है कि जिन जैनियों में उक्त विश्वामित्र आदि गोत्र सूत्र ही प्रचलित हैं वे पहले हिन्दू थे पीछे इन्होंने जैन धर्म का आश्रय लिया। हिन्दू गोत्र के सम्बन्ध में "हिन्दी विश्वकोष" भाग ६ पृष्ठ ५६१ में एक विस्तृत वक्तव्य प्रकाशित हुआ है। उसमें विज्ञ सम्पादक ने लिखा है कि "अति प्राचीन काल से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में गोत्र का नियम चला आ रहा है। प्राचीन आर्यशास्त्रों की पर्यालोचना करने से जाना जाता है कि पहले गोत्र का नियम नहीं था। क्रमशः मनुष्य संख्या-वृद्धि होते रहने से, आर्य ऋषियों ने गोत्र नियम बनाये और उसी समय से आर्यों में गोत्र नियम चला आ रहा है।"

"बौधायन, आपस्तम्ब, सत्योपाढ़, कुटिल, भारद्वाज, लौगाक्षि, कात्यायन और आश्वलायन आदि के रचे हुए श्रौत्र-सूत्र, मत्स्यपुराण, महाभारत आदि इतिहास और मनु आदि की रची हुई स्मृतियों में थोड़ा बहुत गोत्र का कथन मिलता है। इन में परस्पर कुछ विरुद्ध कथन भी है, जिनका वास्तविक अर्थ सर्वसाधारण की समझ में नहीं आ सकता है। इसलिये और शास्त्रों की आलोचना की शिथिलता देखकर पण्डितप्रवर पुरुषोत्तम ने "गोत्र-प्रवर-मंजरी" नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ लिखा था। इसके सिवा धनंजय कृत धर्मप्रदीप, बालभट्ट और महादेव दैवज्ञ-द्वारा रचित गोत्रप्रवर, विष्णुपण्डित कृत गोत्रप्रदीप, अनन्तदेव, आपदेव, केशव, जीवदेव, नारायण भट्ट, भट्टोजि, माधवाचार्य और विश्वनाथदेव रचित गोत्रप्रवरनिर्णय, लक्षण भट्ट कृत प्रवर-रत्न, और गोत्र-प्रवर-भास्कर तथा कमलाकरकृत गोत्रप्रवरदर्पण नामक कुछ ग्रन्थ भी मिलते हैं। इनमें से "गोत्र-प्रवर-मञ्जरी" ही सब से श्रेष्ठ है। इसमें समस्त पुरातन मतों की पर्यालोचना और मीमांसा की गयी है।"

इसके आगे प्रस्तुत वक्तव्य में विश्वकोष सम्पादक ने गोत्र के लक्षण के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख कर समालोचनात्मक दृष्टि से अपना विचार प्रकट किया है। साथ ही साथ इस विषय पर भी प्रकाश डाला है कि गोत्र कितने हैं, प्राचीन मुनि एवं ऋषियों में से किन किन के नाम से गोत्र प्रचलित हैं। बल्कि अन्यान्य ग्रन्थों का

आश्रय लेकर गोत्रों की कई तालिकायें भी दी गयी हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि विश्वामित्र आदि गोत्र प्रवर्तक ऋषियों के पहले हिन्दुओं में गोत्र की प्रथा ही नहीं थी। बल्कि जिनके नाम से गोत्र प्रचलित हुए हैं वे सब के सब ब्राह्मण ऋषि थे। ऐसी दशा में क्षत्रिय और वैश्यों में जो गोत्र हैं वे इनके पूर्वजों से न होकर इनके पुरोहितों के पूर्वजों के नाम से ही चल पड़े हैं। यह तो हुई हिन्दुओं के गोत्रों की बात। दि० जैन शास्त्रों में ऐसा पाया जाता है कि, प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने जाति आदि के नियम चलाये थे। (आदि-पुराण)❋ बल्कि मंत्री श्री ए० प० दि० जैन सरस्वती भवन मुम्बई-द्वारा संग्रहीत "चौबीस तीर्थंकरों की ज्ञातव्य बातों का नकशा" में ऋषभ देव एवं नेमिनाथ जी को छोड़ कर शेष सब का काश्यप गोत्र ही लिखा मिलता है। हां, इनका वंश इक्ष्वाकु, कुरु, सोम, हरि, उग्र तथा नाथ इनमें से अन्यतम बतलाया है। पर मल्लिनाथ जी का सोम, इक्ष्वाकु दोनों लिखा है। श्वेताम्बर जैनाचार्य विजयराजेन्द्र सूरि के द्वारा संपादित "अभिधानराजेन्द्र" नामक बृहत् प्राकृत कोष के पृष्ट ९५४ में दिये हुए उद्धरणों से भी ज्ञात होता है कि तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों में काश्यप, गौतम, वत्स कौशिक, वशिष्ठादि गोत्र ही प्रचलित थे। सुना है कि इधर हीरालाल हंसराज जी "जैनगोत्र संग्रह" नाम से श्वेताम्बर जैन गोत्रों का एक संग्रह एकत्रित किया है। किन्तु वह अभी तक मेरे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। उत्तर भारत के भी कई जैन जाति के बन्धुओं से मुझे उनके गोत्र पूछने का अवसर प्राप्त हुआ है किन्तु उनके गोत्रों के नाम और ही विलक्षण हैं।

अस्तु भास्कर की इसी किरण में अन्यत्र मित्रवर प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये एम. ए. का इसी गोत्र के सम्बन्ध में एक गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। सभी प्रान्त के जैनी भाइयों से मेरा भी अनुरोध है कि वे अपने प्रान्त के गोत्र सूत्र संगृहीत कर भास्कर में प्रकाशनार्थ अवश्य भेजें। इससे गोत्र-सम्बन्धिनी एक जटिल समस्या का सुलझना संभव है।

❋ देखें "विश्वकोष" भाग ६, पृष्ठ ५६१।

जैनपादपूर्त्ति-काव्य-साहित्य

(ले० श्रीयुत बाबू अगरचन्द नाहटा)

(क्रमागत)

४ *नेमिभक्तामर—*

पूर्णिमागच्छी भाव-प्रभसूरिजी ने ४४ श्लोकों में नेमिनाथ जी की स्तुति में इसे रचा है। स्वोपज्ञ टीका और गुजराती भाषान्तर-सहित काव्य-संग्रह भाग १ में प्रकाशित हो चुका है।

५ *दादापार्श्वभक्तामर—*

पद्मसागर के शिष्य राजसुंदर ने भक्तामर के प्रथम पाद को चतुर्थचरण के स्थान में योजित कर बडोदरा के दादा पार्श्वप्रभु की स्तुति में ४१ श्लोकों में रचा है। अद्यावधि अप्रकाशित है।

६ *पार्श्वभक्तामर—*

खरतरगच्छीय उ० विनय प्रमोद जी के शिष्य विनयलाभ जी* ने पार्श्वप्रभु की स्तुति-मय ४५ श्लोकों में इसे रचा है। यह भी गु० भाषान्तर-सहित काव्यसंग्रह भाग २ में प्रकाशित हो चुका है।

७ *वीरभक्तामर—*

खरतरगच्छीय महोपाध्याय धर्मवर्द्धन जी ने सं० १७३६ वेनातट में वीरप्रभु के चरित्र-वर्णनात्मक ४५ श्लोकों में यह काव्य रचा है, काव्य की दृष्टि से यह बड़ा ही मनोहर है। स्वपोज्ञ टीका और गु० भाषान्तर-सहित काव्यसंग्रह भाग १ में प्रकाशित है।

८ *जिनभक्तामर—*

एक अज्ञात कवि के द्वारा रचित भक्तामर के चतुर्थ-पादपूर्त्तिमय उपलब्ध है। अप्रकाशित है।†

---

* देखें युगप्रधान-जिनचन्द्र-सूरि पृष्ठ १८६।

† भक्तामर-पादपूर्त्ति-काव्य-संग्रह, भाग १-२ में इसका उल्लेख है और प्रकाशित काव्यों के कवियों का परिचय भी उपर्युक्त ग्रंथों में दिया गया है। विनयलाभ और धर्मसिंह का परिचय उनमें नहीं दिया गया है अतः मैं ने संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया है।

९ सरस्वतीभक्तामर—

मुनि खेमकर्ण शि० धर्मसिंह‡ ने सरस्वती देवी की स्तुति में अन्त्यपादपूर्त्तिमय ४४ श्लोकों में इसे रचा है। स्वोपज्ञ टीका और गु० भाषान्तर-सहित काव्य-संग्रह भाग २ में प्रकाशित है।

उपर्युक्त सभी काव्य प्राय. १७ के उत्तरार्द्ध और १८ वीं के पूर्वार्द्ध में रचे गये हैं और ८ जिनस्तुति, ९ वां सरस्वती की स्तुति में रचित है। पर २० वीं शताब्दी में भी भक्तामर के पादपूर्त्तिमय ५ काव्य रचे गये हैं जो सारे गुरु-स्तुति-रूप में है उनका संक्षिप्त परिचय यह है—

१० आत्मभक्तामर—

सुप्रसिद्ध तपागच्छाचार्य आत्मरामजी (विजयानन्दसूरि) की स्तुति में प्रख्यात पं० हीरालाल हंसराज (जामनगर वाले) ने रचा है और प्रकाशित हो चुका है।

११ श्रीसूरीन्द्रभक्ताम —

विद्वद्वर्य अमरविजय जी के शिष्य रत्नचतुरविजय जी ने ४५ श्लोकों में रचा है। जैनस्तोत्रसंदोह भाग २ में यह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

१२ श्रीवल्लभभक्तामर—

विद्यमान तपागच्छाचार्य श्रीविजयवल्लभसूरि के शिष्य विचक्षणविजय जी ने अपने गुरुवर्य की भक्ति या स्तुति में इसकी रचना की है। आदर्शजीवन नामक ग्रन्थ में यह प्रकाशित हो चुका है।

१३ कालूभक्तामर—

श्वेताम्बर तेरापंथ संप्रदाय के कानमल्ल स्वामी ने अपने गुरु (विद्यमान आचार्य) कालूराम जी के गुणानुवाद में भक्तामर स्तोत्र के द्वितीय चरण को चतुर्थ पाद का स्थान देकर ४७ श्लोकों में १९८५ आश्विनपूर्णिमा को छापर (बिकानेर राज्यान्तर्गत) ग्राम में रचा है। हिन्दी भाषानुवाद-सहित जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, कलकत्ता-द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

१४ कालुभक्तामर—

तेरापंथी सम्प्रदाय के सोहनलाल स्वामी ने इसे भी कालुराम जी की स्तुति में रचा है। यह भी उक्त सभा-द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

१५ जिनस्तुति—

भक्तामर के प्रथम श्लोक के चारों चरणों को ४ श्लोकों में प्रथम पादको प्रथम

‡ आपलों का गच्छ के थे। देखें ऐतिहासिक नोट (वा० मो० शाह-लिखित) में पंजाबकी पट्टावली।

श्लोक के प्रथम पाद में द्वितीय को द्वितीय श्लोक के द्वितीय पाद में इस प्रकार अनुक्रम से निर्नामक कवि ने रचा है। जैनस्तोत्र-संग्रह भाग २ (प्र० यशो० वि० प्र०) में प्रकाशित है।

१६ *ऋषभचैत्यवंदन*—(अप्राप्त)

ज्ञानविमलसूरि (१८वीं शताब्दी) के शत्रुंजय पर चैत्यवंदन रूप (भक्तामर-पाद-पूर्ति) बनाने का उल्लेख कनकविमलजी-लिखित "ज्ञान विमल सूरीश्वर नुं आदर्श जीवनचरित्र" नामक ग्रन्थ में है।

१७ *नवकल्लोलपार्श्वभक्तामर*—

इस नाम का भी भक्तामर पादपूर्तिकाव्य होने को कहा जाता है। देखें जैनधर्म पर स्तोत्र की प्रस्तावना में। भक्तामर के समस्यापूर्ति काव्यों की तरह कल्याण-मंदिर* के पादपूर्ति† काव्य परिमाण में प्रचुर उपलब्ध नहीं है; जो प्राप्त हैं उनका परिचय निम्नोक्त है:—

१ *जैनधर्मवरस्तोत्र*—

नेमिभक्तामर के कर्त्ता श्रीभावप्रभसूरि जी ने कल्याणमंदिर के चतुर्थचरण पादपूर्तिमय (श्लोक ४५) यह काव्य सं० १७८१ मार्गशीर्ष शुक्ला ८ को स्वोपज्ञ वृत्ति-सहित बनाया है। और देवचंद लाला भाई पुस्तकोद्धार फण्ड के ८४ वें ग्रन्थांक में प्रकाशित हो चुका है।

२ *पार्श्वनाथस्तोत्र*—

लींबडी भंडार सूचीपत्र के पृष्ठ ६४ में कल्याण-मंदिर-पादपूर्ति-रूप इस स्तोत्र का (क्रमांक १६१३) उल्लेख है।

३-४ *श्रीकान्तिविजयगणि-कृत*—

(श्रेष्ठि प्रेमचन्द रतन जी भांडार में होने का विजयधर्मसूरि-संकलित प्रशस्ति-संग्रह में उल्लेख है पर मिला नहीं) और प्रेमजी मुनिकृत (प्रवर्त्तक श्रीकान्ति

---

* इस स्तोत्र के कतिपय टीकाकारों के नाम इस प्रकार हैं:—

श्वे० १ कनककुशल (१६५२) २ माणिक्यचन्द्र मुनिचन्द्र ३ हर्षकीर्त्ति ४ भानुचन्द्र ५ रत्नचन्द्र ६ समयसुन्दर ७ हेमविजय ८ विनयसागर ९ जिनविजय १० देवतिलक (उपकेशगच्छीय) ११ गुणसागर १२ गुणसेन (रत्न !) १३ चरित्रवर्द्धन।

("दि० जैनग्रन्थकर्त्ता" ग्रन्थ में देवतिलक के नाम हैं पर ये श्वे० ही ज्ञात होते हैं)।

† जैन ग्रंथावली पृ० २७५ में "अभिनव कल्याणमंदिर" का उल्लेख है; संभवतः वह भी कल्याणमंदिर की पादपूर्ति हो।

विजय जी के संग्रह में) इन दोनों का उल्लेख हीरा लाल रसिक लाल कापडिये ने जैनधर्मवर-स्तोत्र की प्रस्तावना में किया है।

५ *श्रीविजयानन्दसूरीश्वरस्तवनम्*—

चतुरविजय जी-रचित, आत्मानन्द शताब्दी-स्मारक अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

६ *वीरस्तुति*—

कल्याणमंदिर के प्रथम श्लोक के ४ पादों को ४ श्लोकों में भक्तामर की भांति निर्नामक कवि ने रचा है।

७ *वीरजिनस्तुति*—

यह भी उपर्युक्त वीरस्तुति के सदृश ४ श्लोकों में है।

उवसग्गहर स्तोत्र की पादपूर्त्ति

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उवसग्गहर-स्तोत्र बड़ा प्रभाविक स्तोत्र माना जाता है और उसके रचयिता भद्रबाहु स्वामी कहे जाते हैं। उक्त स्तोत्र के सम्पूर्ण पादपूर्त्तिरूप पार्श्व-स्तोत्र श्रीदेवचन्द लाल भाई पु० फराड के ग्रन्थाङ्क ८० के पृष्ठ ४५-४८ में मुद्रित है।

स्तुतियाँ

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रतिक्रमणादि में ४ श्लोकों की स्तुतियाँ बोली जाती हैं, जिनके प्रथम श्लोक में किसी तीर्थंकर की, द्वितीय में सामान्यतः जिनों की, तृतीय श्लोक में श्रुतज्ञान और चतुर्थ में श्रुतदेवता, शासनदेवी की स्तुति की जाती है। ऐसी स्तुतियों की संख्या सैकड़ों की संख्या में है, उनमें से कई स्तुतियाँ जो विशेष प्रसिद्ध हैं उनकी निम्नोक्त पादपूर्त्तिमयी स्तुतियाँ प्रकाशित हैं:—

संसारदावा(?)स्तुति के पादपूर्तिस्तवन-स्तुतियाँ——

१ ऋषभस्तवन—उक्त स्तुति के ४ श्लोकों के १६ चरणों को पादपूर्त्तिमय यह स्तवन खरतरगच्छीय युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि जी के शिष्य सुमतिकल्लोल ने सं० १६७५ में १७ गाथाओं में रचा है।

२ (मंडपाचलमंडण) पार्श्वजिनस्तवन—उपर्युक्त स्तवन को भांति खर० सिद्धान्त-रुचि महोपाध्याय* ने समस्त पादों की पूर्तिमय यह स्तवन (गा० १७) बनाया है। प्रकाशित ग्रन्थ में एवं जिन्होंने इस स्तोत्र का उल्लेख किया है उन्होंने निनामक लिखा है पर मेरे संग्रह की प्रति में कर्त्ता का नाम स्पष्ट लिखा है।

* देखें विज्ञप्ति-त्रिवेणी पृ० ११।

मूलमात्र उपर्युक्त दोनों काव्य जैनस्तोत्र-संग्रह भाग १, (पृष्ठ ६५-६६) में छप चुके हैं।

३ देखें परिशिष्ट।

४ वीरजिनस्तुति :—संसार दावास्तुति के प्रथम गाथा के ४ चरणों की पूर्त्तिमय है। यह स्तुति जैन-स्तोत्र-संग्रह के द्वितीय भाग में मुद्रित है।

५ प्रत्येकपादपूर्त्ति रूप काव्य मांडवगढ़ का मन्त्री अथवा पेथड कुमार का परिचय नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

पादपूर्त्तिमय अन्य स्तुतियाँ—

१ "सकलकुशलवल्लि" के समस्तपादपूर्त्तिरूप शांतिजिन-स्तुति।

२ "श्रेयः श्रियां मङ्गलकेलिसद्म" के समग्रपादपूर्त्तिमय पार्श्वजिनस्तुति।

३ "स्नातस्यां" के सम्पूर्णतः पादपूर्त्तिरूप वीरजिनस्तुति।

४ "श्रीनेमिपश्चरूप" इत्यादि ज्ञानपंचम स्तोत्र के चौथे चरण की पादपूर्त्तिरूप ज्ञानपंचमी स्तुति।

ये चारों पादपूर्त्तिरूप स्तुतियाँ जैनस्तोत्र-संग्रह भाग में मुद्रित हैं।

५ कल्याणकंदं स्तुति के पादपूर्त्तिरूप काव्य (श्रीचतुरविजयजी-रचित) आत्म कांति प्रकाश ग्रन्थ के पृष्ठ ११०-११२ में देखना चाहिये।

जैनेतरकाव्यों की पादपूर्त्तियों की भाँति अन्य भी जैनेतर स्तोत्रादि के पादपूर्त्तिमय कई लघुस्तोत्र श्वेताम्बर साहित्य में उपलब्ध हैं वे ये हैं :—

१ ऋषभमहिम्न स्तोत्र—*

शिवमहिम्न† स्तोत्र के पादपूर्त्ति में रत्नशेखर सूरि ने इसकी रचना की है। "जैनस्तोत्र तथा स्तवन-संग्रह अर्थ-सहित" नामक ग्रन्थ में सन् १९०७ में सानुवाद प्रकाशित है।

२ कलापव्याकरण सन्धिगर्भित-स्तव—

"सिद्धोवर्णसमाम्नाय" आदि कलापव्याकरण के सन्धि की पादपूर्त्ति में २३ श्लोकों का यह स्तोत्र सावचूरि जैनस्तोत्रसंदोह भाग २ में छप चुका है।

---

* इसी के अनुकरण में रुघनाथ कवि ने सं० १८५७ श्रावण ३ में पार्श्वमहिम्नः स्तोत्र (गा० ४०) भी बनाया है पर वह पादपूर्त्ति रूप नहीं है।

† इसकी प्राचीनता मूलपाठ टीकाएँ आदि के लिये प्रो० रामेश्वर गौरीशंकर ओझा का "महिम्न-स्तोत्र की प्राचीनता और उसका मूल पाठ शीर्षक लेख 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० २४७'।

३ संखेश्वरपार्श्वस्तुति–

अमरकोष के प्रथम श्लोक को ४ श्लोकों में प्रथमचरण को प्रथम श्लोक के प्रथम पाद में, द्वितीय पाद को द्वि० श्लोक के द्वितीयपाद में इस प्रकार ४ पद योजित हैं। पाँचवा श्लोक प्रशस्ति का। कुल ५ श्लोकों में यह स्तवन जिन लाभ सूरि या क्षमाकल्याण उपाध्याय जो कि १९वीं शताब्दी में खरतरगच्छ में अच्छे विद्वान् हो गये हैं, का रचित है। यह स्तोत्र रत्नसागर के पृष्ठ २०९ में प्रकाशित है।

उपर्युक्त पादपूर्त्ति रूप काव्यों के अतिरिक्त अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका के पादपूर्त्ति-रूप होने का भी कहा जाता है, एवं और भी अनेक साहित्य मिलने की संभावना है। जैन विद्वानों ने ऐसी अनेक रचनाएं की हैं पर खोज-शोध के अभाव से वे भाण्डारों में ही नष्ट हो चुकीं और हो रही हैं।

जैनविद्वानों की रचित समस्यापूर्त्तियाँ विपुल प्रमाण में उपलब्ध हैं। अमरचन्द्र सूरि आदि कतिपय विद्वान् तो ऐसे हो गये हैं जिन्होंने सैकड़ों समस्याओं की (अतिशय मनोहारिणी) पूर्त्ति की है। समस्यापूर्त्तिमय अनेकों स्तोत्र भी जैनसाहित्य में विद्यमान हैं पर वे किसी प्रसिद्ध काव्य के श्लोकों की पूर्त्ति न होकर सुभाषित या फुटकर श्लोकों की एवं अप्रसिद्ध काव्यों को होने से उनका परिचय इस लेख में नहीं दिया गया है।

इस लेख में विस्तार के भय से पादपूर्त्ति काव्यों और उनके निर्म्माताओं का परिचय संक्षेप से ही दिया गया है, कई कवियों का परिचय तो नाममात्र ही देकर संतोष करना पड़ा है अन्यथा यही लेख इससे चौगुना अठगुना लिखा जा सकता है। काव्यों की उत्तमता, गुण-दोष-परीक्षण का कार्य भी काव्यमर्मज्ञों का है अतः अनुभवी विद्वानों से इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य बातों की आशा रखता हुआ इस लेख को समाप्त करता हूँ।

वर्तमान-हिन्दी

(लेखक—श्रीयुत पं० हीरालाल जैन शास्त्री)

जब हम वर्तमान भाषाओं के प्रारम्भिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं, और आज से चार हजार वर्ष के पूर्व से लेकर दो हजार वर्ष के पूर्व तक की भाषाओं का अन्वेषण करते हैं तो हमें उस समय सारे भारतवर्ष में प्रचलित केवल दो ही भाषायें मिलती हैं, एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। जैनों के प्रसिद्ध सूत्र में लिखा है कि "भासा दुविहा, सक्कया पाययाचेव"। अर्थात् भाषायें दो ही हैं संस्कृत और प्राकृत (इसी बात को अनुयोगद्वारा सूत्र में भी कहा है कि "सक्कता पागता चेव दुहा भणिताओ आहिया"। स्थानांग सूत्र ७ "संखया पायगाचेव, पसत्था इति भासिया।")

षड्भाषा-चन्द्रिका के बनानेवाले पं० लक्ष्मीधर ने भी कहा है कि "भाषा द्विधा संस्कृता च प्राकृती चेति भेदतः"। इन अवतरणों से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि उस समय के आर्य कहे जाने वाले इस देश में—भारतवर्ष में दो ही भाषायें थीं। उस समय का रचा हुआ सम्पूर्ण साहित्य इन दो ही भाषाओं में आज उपलब्ध है।

जब हम इन दोनों भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को देखते हैं, तो यह बात निर्विवाद स्पष्ट हो जाती है, कि ये दोनों भाषायें—एक ही भाषा के विभिन्न रूप हैं। जैसे एक ही साधारण मिट्टी के संस्कार किये—जाने पर ईंट, घड़ा आदि अनेक संस्कृत रूपों का दर्शन होता है।

मूल, पत्र आदि सर्व अवयव-युक्त किसी भी शाकवाली वनस्पति या छिलको, गुठली बीज आदि वाली किसी भी प्राकृतिक उत्पन्न होनेवाली वस्तु की ओर आप देखेंगे, तो अनुभव होगा, कि वास्तव में प्रत्येक वस्तु के दो ही रूप होते हैं; एक प्राकृतिक और दूसरा सांस्कारिक। दूर की जाने दीजिये अपने सिर के बालों को ही ले लोजिये, प्रारम्भिक रूप तो प्राकृतिक रूप हैं और काट-छांट कर चढ़ाव-उतार वाला रूप संस्कार किया हुआ रूप है। बस, इसी प्रकार भाषा की दशा का भी अनुभव कीजिए, जो सर्वसाधारण लोगों की बोलचाल की भाषा थी, वही प्राकृत भाषा कहलाती थी। किन्तु भिन्न रुचि के लोग तो सदा से ही चले आये हैं इसलिये जिन्हें बोलचाल की उस स्वाभाविक रूप में लिखना-पढ़ना आदि व्यवहार अधिक भाररूप प्रतीत हुआ, उन्होंने इस प्राकृतिक रूपवाली भाषा का संस्कार करना प्रारम्भ कर दिया। जैसे जिन लोगों को स्वाभाविक उत्पन्न हुए सिर के बाल, डाढ़ी-मूँछ आदि पसन्द नहीं पड़े,

उन्होंने उसकी काट-छाँट कर संस्कार प्रारम्भ कर दिया और वर्तमान के सुसज्जित संस्कृत वेष में हमें उनके दर्शन होने लगे।

इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि एक ही बोलचाल की भाषा के स्वाभाविक रूप का नाम प्राकृत और सांस्कारिक रूप का नाम संस्कृत प्रसिद्ध हुआ।

जैनों की इस स्वाभाविक और सत्यमानता का पोषण जैनेतर विद्वानों ने भी किया है। देखिये—आठवीं शताब्दी के विद्वान् वाक्पति राज ने अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में लिखा है कि—

"सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तोयणेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय, णेंति सायराओच्चिय जलाइं ॥९३॥

अर्थात् इसी प्राकृत भाषा में सर्व प्रकार के भाषारूप वचन प्रवेश करते हैं और इसी से निकलते हैं। जैसे, जल समुद्र में ही नदियों द्वारा प्रवेश करता है और बाष्परूप से बाहर निकलता है।

महाकवि के इस कथन से यह बात निर्बाध प्रमाणित होती है कि प्राकृत भाषा ही सब भाषाओं की जननी है।

नवीं शताब्दी के विद्वान् राजशेखर ने भी अपनी बालरामायण के एक पद्य में कहा है कि प्राकृत भाषा ही संस्कृत भाषा की योनि है। देखिये, वे कैसे सुन्दर शब्दों में लिखते हैं :—

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां, जिह्वासु यन्मोदते।
यत्र श्रोत्रयथावतारिणिकटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच—
स्तॉल्लायल्लँलिताङ्गि पश्य नुदता दृष्टेर्निमेषव्रतम् ॥

इस प्रकार एक ही भाषा के ये प्राकृत और संस्कृत दो रूप बने। जिनमें से संस्कृत का रूप तो आजतक ज्यों का त्यों सुरक्षित चला आ रहा है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति के समय से ही यह लिखने की भाषा रही है। कभी भी किसी देश में संस्कृत बोलचाल की भाषा रही हो, इसका कोई पुष्ट प्रमाण अभीतक नहीं मिला है और प्राकृत भाषा प्रारम्भ से ही बोली और लिखी जाती रही है इसलिये लिखे जानेवाले अंश का तो अधिक परिवर्त्तन नहीं हुआ, किन्तु बोले जाने वाले रूप में, समय-परिवर्तन के साथ ही भाषा-परिवर्तन होता गया। यही कारण है कि प्राकृत के क्रमशः देशकाल के भेद से मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, सौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि के रूप में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। आजकल प्राकृत का सब से बिगड़ा हुआ 'यथा नाम तथा गुणवाला' अपभ्रंशरूप माना जाता है, फिर भी सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन

करने पर यह बात असंदिग्ध अनुभव में आती है कि क्रमशः अपभ्रंश का ही और भी परिवर्त्तित होता हुआ रूप आज वर्तमान हिन्दी भाषा के रूप में हमें दृष्टिगोचर हो रहा है। विद्वानों के विचारार्थ यहाँ शब्द और धातु दोनों के कुछ उदाहरण देता हूं :—

हिन्दी	प्राकृत या अपभ्रंश	संस्कृत
पीहर	पिउहर	पितृगृह
मौसी (मासी)	माउसिया	मातृष्वसा
रीछ	रिच्छ	ऋक्ष
बानियाँ	बाणिआ	वणिज्
दुआर	दुआर	द्वार
दूना	दुउण, दूण	द्विगुण
अपना	अप्पणय	आत्मीय
इत्तो (इतना)	इअत्तो	इयत्ता, एतावत्
नेनू-लोनी	नवणीअं	नवनीत
चून	चुण्ण	चूर्ण
उसीसो(तकिया)	उस्सीसो	उच्छीर्ष
ततूरी (तावड़ा)	तत्तूरिआ	तत्तूरिका
और	अउर	अवर
ढोर (पशु)	डहर	(पशु मूर्ख आदि के अर्थ में प्रयुक्त हैं किन्तु इसका संस्कृत रूप नहीं उपलब्ध है)
बाप	वप्पा	वप्ता (बोनेवाला)

ऊपर दिये गये शब्दों के देखने से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान में प्रचलित बोलचाल की हिन्दी, प्राकृत या अपभ्रंश ही बिगड़ा हुआ रूप है न कि संस्कृत का। क्योंकि उन शब्दों की समानता प्राकृत के अधिक समीप है न कि संस्कृत के। और ढोर आदि जैसे शब्द तो संस्कृत भाषा में अभीतक किसी धातु से सिद्ध भी नहीं हुए हैं।

अब कुछ ऐसे शब्दों के उदाहरण दिये जाते हैं जिनके कि थोड़े बहुत विकार से उत्पन्न हुए शब्द संसार की विभिन्न भाषाओं में पाए जाते हैं। यहाँ का अर्थ तत्सम और व्यत्यय (इधर का अक्षर उधर हो जाना) रूप समझना चाहिये। जैसे :—

विभिन्न भाषाओं के शब्द—

गुफ़्तगू—यह फारसी का शब्द है जो कि प्राइवेट बातचीत के अर्थ में प्रयुक्त होता

रहा, बाद यौगिक अर्थ छूट गया और साधारण बातचीत के लिये रूढ़ हो गया। इसका प्राकृत रूप गुप्पगू और संस्कृत रूप गुमगू या गोप्यगू है जिसका कि अर्थ 'गुप्त रखने योग्य वचन' होता है।

आफ़त—यह संस्कृत आपद् शब्द का अपभ्रंशरूप है।

मौज़—यह संस्कृत प्राकृत मोद शब्द का विकृत-रूप है।

अफवाह—इसका संस्कृतरूप अपवाद और प्राकृतरूप अपवाश्र है जिसका कि अपभ्रंश होने पर अप्पवाश्र, अप्पवाह हो गया, साथ ही इसके आंशिक अर्थ में भी परिवर्तन हो गया।

जवांमर्द—इसका संस्कृत-रूप युवामर्त्य और प्राकृत-रूप जुवामत्त, या अपभ्रंश-रूप जुवामरित्त, जुवामद्द है।

सोल्जर—(Soldier) यह अंग्रेजी भाषा का शब्द है जिसका कि अर्थ विशेष बल या अधिकार रखनेवाला है; बाद सिपाही के अर्थ में रूढ़ हो गया। यह संस्कृत के शौण्डीर और प्राकृत के सोंडीर शब्द का अपभ्रंश रूप है यह बात उसके (Spelling) शब्दोच्चारण देखने से विदित हो जाती है। यदि शब्दोच्चारण के अनुसार यह शब्द बोला जाय तो सोलडीर या सोलडर बोला जायगा और "नस्यानुनासिकोलः" के सिद्धान्त को देखकर तो इसे शौण्डीर सौण्डीरा का अपभ्रंश माने बिना कोई रह ही नहीं सकता।

कानिष्टबल—(Constable) यह शब्द भी अंग्रेजी का है जो सोल्जर से कुछ कम अधिकार रखनेवाले सिपाही के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह शब्द भी 'कनिष्ठबल' संस्कृत या कनिट्ठबल प्राकृतिक का थोड़े से विकार से बना हुआ शब्द है, 'कनिष्ठबल' अर्थ होता है, अल्प बलवाला।

कंदील—यह लालटेन के अर्थ का वाचक शब्द है जो कि कंदीप्रल कंदिप्पल या कंदीअल का अपभ्रंश-रूप है। इस प्रकार कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अब जरा वर्तमान की सुधरी हुई हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) की क्रियाओं की ओर भी दृष्टिपात कीजिए जिससे आप को स्पष्ट विदित होगा कि खड़ी बोली के पहले प्रचलित हिन्दी की समस्त क्रियायें एक दम ही प्राकृत भाषा के अपभ्रंश रूप की प्रचलित थीं। उन रूपों के व्यवहार में आने से लोग प्राकृत अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों को बड़ी सुगमता से समझ लेते थे। किन्तु इस वर्तमान की सुधरी हुई हिन्दी ने तो हमें इतनी दूर लाकर पटक दिया है कि प्राकृत या अपभ्रंश भाषा हमसे हजारों कोश दूर हो गयी है; अब हमें इन प्रचलित क्रियाओं में प्राकृत

या अपभ्रंश भाषा के रूपों की अस्पष्ट झाँकी भी नहीं नज़र पड़ती है। ज़रा मुलाहिज़ा फरमाइयेगा—

पुरानी हिन्दी—तूं कहा जाइ या जावइ। जाइ या जावइ एक दम प्राकृत की क्रिया है।
नवीन हिन्दी—तू कहाँ जाता है। जब ऐसी क्रिया बोलचाल में आती थी तो प्राकृत के समझने में सहायता मिलती थी पर अबके जाता है के रूप से बतलाइये, आप किधर जाते हैं?

पुरानी हिन्दी—वो का करइ। यहाँ पर भी वही हाल है, पर अब बतलाइये।
नवीन हिन्दी—वह क्या करता है = आप क्या करते हैं?

पु० हि०—कपड़ो रंगइ। 'कपड़ा' यह शब्द प्राकृत 'कप्पड़' शब्द का स्पष्ट ही अपभ्रंश-
न० हि०—कपड़ा रंगता है रूप है जिसका संस्कृत-रूप 'कर्पट है। रंगइ का भी यही हाल है पर बताइये, किसकी बुद्धि रंगी गई'!

पु० हि०—रोटी खावइ = रोटी शब्द तो बिल्कुल देशी प्राकृत (रोट्टग) का अपभ्रंश-रूप है, इसका संस्कृत-रूप है ही नहीं!

न० हि०—रोटी खाता है = खावइ तो स्पष्ट ही प्राकृत क्रिया है। पर आश्चर्य है कि हमारी बुद्धि को दीमकों ने खा लिया अन्यथा 'खावइ' के के स्थान पर 'खाता है' रूप कहाँ से आ बैठता?

विशेष—बात यह कहनी है कि वर्तमान की हिन्दी क्रियाओं के साथ जाता है खाता है आदि के रूप में 'है' तो पता नहीं, किधर से आ बैठा? कृपया हिन्दी-भाषा के आचार्य इसका समाधान करें।

पुरानी हिन्दी की क्रियाओं की कितनी अधिक समानता प्राकृत क्रियाओं से है इसके कुछ उदाहरण लीजिये—

पुरानी हिन्दी-क्रिया	प्राकृत क्रिया	पुरानी हिन्दी क्रिया	प्राकृत क्रिया
पीवै (पीता है)	पिअइ।	चुपड़ै (चुपड़ता है)	चोप्पडइ।
पूछै (पूछता है)	पुच्छइ।	हसै (हँसता है)	हसइ।
छीवै (स्पर्श करता है)	छिवइ।	रमै (रमता है-खेलता है)	रमइ।
देखै (देखता है)	देक्खइ।	रूसै (रोष करता है)	रूसइ।
चूकै (चूकता है)	चुक्कइ।	पोंछै (पोंछता है, साफ करताहै)	पुञ्छइ।

वर्तमान में बोली जानेवाली गिनती—एक, दो, तीन ग्यारह, बारह, बीस, तीस आदि तो समस्त ही संख्या-वाचक शब्द प्राकृत के ही हैं। यह भी एक आश्चर्य की ही बात है कि

वर्तमान—गद्य-पद्य हिन्दी में तो एकदम संस्कृत-शब्दों की भरमार की जा रही है, पर गिनती—गणना के शब्दों में जरा भी परिवर्तन नहीं किया जा रहा है, इसी को कहते हैं—'आधी तीतर—आधी बटेर।' मैं तो चाहता हूं कि या तो वर्तमान हिन्दी संस्कृत का ही अनुसरण करे तो भी ठीक है जिससे कि वह संस्कृत भाषा के अति समीप पहुंच सके। अथवा फिर अपनी पुरानी सभ्यता के अनुसार अपनी जननी प्राकृत का ही अनुसरण करे, जिससे उसके समीप पहुंच सके। आज की हिन्दी की दशा देखते हुए सहसा मुँह से निकल पड़ता है कि—"धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का"। आज की हिन्दी की भी यही दशा है। न यह संस्कृत के ही पास पहुंच सकी, न प्रकृत के ही पास रह सकी। जिससे बहुभाग हिन्दी के विद्वान् उभयतः पार्श्ववर्ती दोनों ही भाषाओं से अपरिचित रह रहे हैं। जो दोनों भाषाओं से परिचित भी हैं तो यह वर्तमान हिन्दी के प्रताप से नहीं किन्तु स्वतंत्र ही उन भाषाओं के अध्ययन से।

जैनधर्म के प्रवर्तक सदा से ही प्रकृति के अति समीप रहे हैं। यहां तक कि उन्होंने अपना उच्च आदर्श तक प्रकृति-प्रदत्त 'यथा जातरूपता' को ही माना। यही कारण है कि उन्होंने उसी भाषा को प्रारम्भ से अपनाया, जो प्रकृति-प्रदत्त थी, जिसमें बाहरी कोंट-छोंट या नोंक-झोंक को स्थान न था। यह भाषा ही सर्वसाधरण की बोलचाल की भाषा थी, जिससे जैनियों ने इसी भाषा में उपदेश देना, ग्रन्थ रचना करना आदि के रूप मे सर्वसाधारण का अनन्त उपकार किया है, जैसा कि कहा है—

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
तेषां सुखावबोधाय सिद्धान्ताः प्राकृते कृताः॥

अर्थात्—"बालक, स्त्री, अल्पबुद्धि, मूर्ख और चारित्र के धारण करने के इच्छुक लोगों को सरलता-पूर्वक वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये महर्षियों ने आगम-सिद्धान्तों को प्राकृत भाषा में बनाया।"

उपसंहार

आज जिस भाषा के बोलने वाले भारतवर्ष में सब से अधिक हैं, जिस की सुख-बोधता को देखकर नेतागण इसे राष्ट्र-भाषा बनाने का उपक्रम कर रहे हैं, उस हिन्दी भाषा का उद्गम-स्थान प्राकृत-अपभ्रंश भाषा ही है। और यह तो निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि यह जैनियों की ही भाषा थी, उन्होंने ही इसे प्रारम्भ से आजतक अपनाया और खूब बढ़ाया है। यदि कहीं किसी अजैन ग्रन्थकार ने इसे अपने ग्रन्थ में अपनाया तो केवल पात्रों की हीनता दिखाने के लिये अपनाया है अतः वे इसके पोषकों में नहीं माने जा सकते। इस प्रकार इस भाषा के आदि प्रवर्तक होने के नाते जैनों के अगणित उपकारों से भारतीय उपकृत हैं।

जैन एवं बौद्ध-वाङ्मय में कुछ पारिभाषिक शब्दों का साम्य

१ अर्हन् या अर्हन्त
२ अकिञ्चन
३ अचेलक
४ अतिथि
५ अनागार
६ आवरण
७ आस्रव
८ आहार
९ आगम
१० ईर्य्यापथ
११ उपपादयोनि
१२ उपवास
१३ उपाश्रय
१४ औदारिक
१५ कषाय
१६ कल्प
१७ केवली
१८ गति
१९ गन्धकुटी
२० चक्ररत्न
२१ चैत्य
२२ जरायुजयोनि
२३ जिन
२४ तीर्थंकर
२५ दश धर्म
२६ द्वादशाङ्ग
२७ ध्यान
२८ नय
२९ निर्वाण
३० न्यग्रोधपरिमण्डल
३१ परमाणु
३२ पर्याय
३३ परिनिर्वृति
३४ पुद्गल
३५ पृथ्वीकाय
३६ प्रत्येकबुद्ध
३७ प्रमाद
३८ प्रवचन
३९ बन्ध
४० बोधि
४१ भव
४२ भावना
४३ महावीर
४४ मिथ्यादृष्टि
४५ मुनि
४६ मोक्ष
४७ मोह
४८ योग
४९ राग
५० विदेह-क्षेत्र
५१ विपाक
५२ विमान
५३ विमुक्ति
५४ विमोक्ष

५५ वीतराग	६६ संघ
५६ वैतरणी	६७ समाधि
५७ व्यसन	६८ सम्यग्ज्ञान
५८ शासन	६९ सम्यग्दृष्टि
५९ शीलव्रत	७० सल्लेख
६० शैक्ष्य	७१ सुदर्शन
६१ श्रमण	७२ संवर
६२ श्रावक	७३ संबुद्ध
६३ श्राविका	७४ स्कन्ध
६४ श्रुत	७५ हिमवान् (पर्वत)
६५ षडायतन	

उल्लिखित पारिभाषिक शब्द बौद्धों के मान्यग्रन्थ "मज्झिमनिकाय" "विनयपिटक" "अभिधम्म कोश" एवं "बुद्धचर्या" से संगृहीत हुए हैं। इनके अन्यान्य ग्रन्थों के अवलोकन से और भी ऐसे पारिभाषिक शब्द मिल सकते हैं। अब जैनी ही नहीं जैनेतर प्रख्यात ऐतिहासिक विद्वान भी बौद्ध धर्म से जैन धर्म को निर्विवाद रूप से प्राचीन मानने लगे हैं। ऐसी दशा में बहुत कुछ सम्भव है कि उल्लिखित इन पारिभाषिक शब्दों में से 'जिन' 'श्रमण' आदि बहुत से शब्दों को जैन-वाङ्मय से ही बौद्धों ने लिया हो। आशा है कि तुलनात्मक-दृष्टि से अध्ययन करने वाले दर्शन-शास्त्र के जिज्ञासुओं को इस लघु-शब्द-तालिका से यत्किञ्चित अवश्य सहायता मिलेगी।

के० बी० शास्त्री

जैनों के विश्वास

(ले०---श्रीमती स्टैन हार्डिंग)

दारिद्रय, रोग, जरा, मरण और हिंसा के विरुद्ध मनुष्य में जितनी प्रतिक्रियायें हुई हैं, उनमें जैनधर्म्म सब से अधिक प्रभावोत्पादक है। किसी समय यह सारे भारत का धर्म्म बनने की आशा बँधाता था। यद्यपि इसे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ तोभी इसका प्रभाव अब भी काफ़ी है। आज भी जैनधर्म्म के मानने वालों में अच्छे अच्छे धनाढ्य हैं।

पिछले कुछ वर्षों से जैनधर्म्म का प्रभाव अधिक स्पष्ट हो गया है। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि महात्मा गाँधी की 'अहिंसा' की जड़ में गुजरात-व्यापी जैनधर्म्म का प्रभाव छिपा हुआ है।

यह एक विचित्र बात है कि स्वेच्छापूर्वक अनशन करना जैनियों में सब से बड़ा पुण्य है। हाल ही में एक जैन साधु मध्य भारत से कराची आए और उन्होंने नब्बे दिनों का उपवास ज़ारी किया। स्थानीय जैन लोगों ने भी उनके सम्मान के लिए एक दिन उपवास किया। स्वेच्छापूर्वक अनशन कर जैन तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया था, आवागमन से मुक्ति प्राप्त कर ली थी।

कीड़ों के प्रति दया

जैनधर्म्म और बौद्ध धर्म्म में काफ़ी साम्य है। जैनों की तरह बौद्धों ने भी सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का व्रत लिया है। इनका भी उद्देश अहिंसा-पूर्वक जीवन व्यतीत करना है। किन्तु जैनधर्म्म में क्षुद्रातिक्षुद्र कीड़ों और सभी प्राणियों के प्रति पूर्ण अहिंसा का महत्त्व बहुत अधिक है।

जैन न तो देवताओं से डरते हैं और न पिस्सुओं से घृणा करते हैं। दुःखदायी जूँ और दिखाई न पड़ने वाला सूक्ष्म कीड़ा भी उसकी दया के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। अणुवीक्षण यन्त्र में जितनी ही उन्नति होती जा रही है, जैनों का जीवन भी उतना ही कठिन होता जा रहा है। जैन लोग छोटे छोटे कीड़ों-मकोड़ों की रक्षा के लिए किस तरह प्रयत्नशील रहते हैं, यह पढ़ कर अन्यधर्म्मावलम्बी विना हँसे न रहेंगे।

यह भविष्यद्वाणी करना आसान है कि यदि कोई पाश्चात्य जाति भौतिक-वाद वाली सभ्यता से दुःखित होकर और आधुनिक युद्धों से पीड़ित होकर पूर्व की ओर कोई दूसरा धर्म्म प्राप्त करने के लिए दृष्टि दौड़ावेगी तो जैनधर्म्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म्म को ही वह पसन्द करेगी। तोभी जैनधर्म्म, भारत में एक जीवित शक्ति है। किन्तु बौद्ध धर्म्म की जड़ अपनी

जन्मभूमि से ही उखड़ गयी है। अब चीन, जापान या लङ्का के बौद्ध यात्री ही बौद्ध धर्म्म के चिह्न-स्वरूप यहाँ मिल सकते हैं।

मोक्ष

प्राय: प्रत्येक पूर्वदेशीय व्यक्ति जीवन के अस्थायित्व को समझता है। जैन सूत्रों से बारम्बार यही ध्वनि निकलती है कि जीवन अज्ञानमय और नश्वर है। हिन्दू और बौद्ध ग्रन्थों की तरह उनका भी विश्वास है कि आवागमन से छुटकारा पा जाना ही मोक्ष है।

यदि कोई जैन शास्त्रों में साधुओं की जीवनचर्य्या के नियमों को पढ़े तो उसे मालूम होगा कि तपस्या की कठोरता की पराकाष्ठा यहीं आकर हुई है।

जीवन के संघर्ष की क्रूरताओं के प्रति जैन सूत्रों के उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जीवन की कठिनाइयों के प्रति वे लोगों को सावधान करते हैं। मुझे धीमे स्वर में यह सुनाई पड़ रहा है 'छः घुड़सवार भी एक नंगे मनुष्य को नंगा नहीं कर सकते'। लेकिन पाश्चात्य देशों के लोगों के कानों तक यह ध्वनि पहुंचती ही नहीं।

तीर्थंकर

जैन लोग ईश्वर की पूजा नहीं करते*। वे केवल उन जिनों की पूजा करते हैं जिन्होंने अहिंसा-मार्ग के द्वारा निर्वाण-पद को प्राप्त किया है। इनकी प्रस्तर-निर्मित मूर्त्तियाँ दृढ़भाव से मोक्ष की प्रतीक्षा में खड़ी हैं। वे इतने दिनों से और इस प्रकार शान्तभाव से खड़ी हैं कि वे लताओं से परिवेष्टित हो गई हैं और सर्पों ने अपने रहने के लिए उनमें बिल बना लिया है†। वे मूर्त्तियाँ नंगी रहती हैं, और यह बतलाती हैं कि आत्मा ने सांसारिक जीवन के अन्तिम वर्ष पूरे कर लिये हैं और अब शरीर निर्वाण-पद को प्राप्त हो गया है। जिस प्रकार निर्वाण मिलने पर आत्मा को वस्त्र अर्थात् शरीर की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार शरीर को भी बाह्य आवरण की आवश्यकता नहीं रहती है।

जिनों को चिकने जराहीन शरीर-धारियों के रूप में दिखलाया गया है। उनका मुख अत्यन्त गंभीर होता है और उनका भाव शान्ति और दृढ़ता का जीता जागता चित्र होता है। पहले के लोगों ने कहा था "कुछ मत करो, और सब कुछ स्वयं हो जायगा!" ये मूर्त्ति के रूप में खड़े जिन इसी उक्ति को ज़ोर से दुहरा रहे हैं।

मैसूर के इन्द्रगिरि पहाड़ पर एक विशाल मूर्त्ति है। उसका नाम गोम्मटेश्वर है और वह बहुत दूर तक दिखाई पड़ती है। मूर्त्ति का सिर सुन्दर है, उसका शरीर भी सुन्दर है; किन्तु आश्चर्य्य की बात है कि उसके पैर छोटे हैं।

---

* जैनी मुक्तात्माओं को ही ईश्वर मानते हैं। इनका आम्नाय किसी खास ईश्वर का संकेत नहीं करता। (सम्पादक)

† तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ आपके इन लक्षणों से लक्षित नहीं होतीं। ज्ञात होता है कि आपने श्रीबाहुबली स्वामी की प्रतिमा को देखकर ही यह भाव प्रकट किया है। (सम्पा०)

यद्यपि यह मूर्त्ति दो हज़ार वर्ष की पुरानी है, तो भी यह जान पड़ता है कि यह अभी बनाई गई है। प्रति बारहवें वर्ष भक्तगण मूर्त्ति को तेल* से स्नान कराते हैं।

पहाड़ के नीचे एक वृद्ध जैन साधु रहता है। वह भी दिगम्बर है। और इस कारण बृटिश भारत में अपने आचरण को निबाहना उसके लिए कठिन हो सकता है।

यात्रियों का मार्ग

उत्तर से हज़ारों यात्री इन्द्रगिरि जाते हैं। मैं वहाँ डाक-बँगले में ठहरी हुई थी और यात्रियों के आगमन को देखती थी। कभी कभी यात्रियों का भारी दल आता था। ऐसे भारी दल विशेष कर गुजरात से आते थे।

मुझे तीस व्यक्तियों के एक विशेष दल की बात याद है। उसमें मर्द, औरत और बच्चे भी थे। वे आधी रात के बाद पहुंचे, लेकिन सबेरा होने के पहले ही वे जग गए और स्नान आदि क्रिया से निवृत्त होने लगे।

वह जनवरी का महीना था और सबेरे बहुत ठंढ गिर रही थी। लेकिन मर्दों और औरतों ने अपने वस्त्रों को साफ करने के बाद, गीले वस्त्र पहने ही पहाड़ पर चढ़ना शुरू किया और कई सौ सीढ़ियाँ तयकर वे मूर्त्ति के पास पहुंचे। वे दोपहर से पहले ही लौट आए। तब कहीं उन्होंने भोजन बनाया, खाया और दूसरी जगह चले गए।

इन गृहस्थ यात्रियों के दलों के अलावा अनेक जैन साधु और साध्वी दक्षिणी मन्दिरों की यात्रा करती हैं। उनका मार्ग सीधा किन्तु तङ्ग है।

उन्हें चाहे कितनी भी प्यास लगी रहे वे रास्ते के कूएँ या तालाब से पानी नहीं पी सकते हैं। वे खौलाया हुआ पानी दूसरों के लिए लेचलते हैं पर स्वयँ उसे नहीं पी सकते। क्योंकि वे अपनी प्यास बुझाने में जीव-हिंसा करनी ही नहीं चाहते। राह में चाहे कितने भी फल के पेड़ क्यों न हों, वे तोड़ कर फल नहीं खा सकते। वे तो केवल वे ही फल खा सकते हैं जो स्वयं गिरे हों। वे घास पर इसलिए नहीं चलते कि कहीं हिंसा न हो जाय। जीव-हिंसा से बचने के लिए वे घास पर न चल कर धूल में चलते हैं†।

दक्षिण कन्नड में भी एक पहाड़ की चोटी पर एक विशाल जिन हैं। वे भी दिगम्बर हैं। पत्थर की बनी हुई लताएँ उनके शरीर में लिपटी हैं और विशालकाय सर्प उनके पैरों में लिपटे हैं।‡

['इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया' ७ जून ३६से]

'चाँद' और 'भविष्य' के भूतपूर्व सम्पादक श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद जी बी० ए० ने इसका अनुवाद करने की कृपा की है। (सम्पा०)

---

* अभिषेक के लिये काल का नियम नहीं है और स्नान तेल से नहीं पञ्चामृत से। (सम्पा०)

† सर्वसाधारण जैनी इस उच्च आदर्शभूत चारित्र का अनुसरण नहीं कर सकते। (सम्पा०)

‡ कार्कल की गोम्मटेश्वर-मूर्त्ति का यह वर्णन है। (सम्पा०)

समालोचना

क्रिया-कलाप—सम्पादक, संशोधक एवं प्रकाशक पं० पन्नालाल सोनी शास्त्री, पृष्ठ-संख्या ३४०, आठ पेजी फर्मा-साइज डिमाई। प्राप्तिस्थान—श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन—झालरापाटन, बंबई तथा ब्यावर—मूल्य १।)

यह मुनि एवं श्रावकों का नित्यनैमित्तकक्रियाप्रतिपादक आचार-ग्रन्थ है। इसके सम्पदक 'जैनसिद्धांत' पत्र के संपादक एवं ऐ० प० दि० जैनसरस्वती भवन झालरापाटनके अध्यक्ष समाजमान्य पं० पन्नालाल जी सोनी हैं। सोनी जी अध्ययनशील एक व्युत्पन्न विद्वान् हैं। आपने इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर समाज की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्त्ति की है यह बड़े हर्ष की बात है। इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। (१) वन्दनाध्याय (२) प्रतिक्रमणाध्याय (३) भक्त्यध्याय (४) नैमित्तिक-क्रियाध्याय। प्रथमाध्याय के प्रारम्भीक देववन्दना या सामायिक विधि (कृतिकर्म, देववन्दना-प्रयोग-विधि, देववन्दना-प्रायोगानुपूर्वी) का हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। चारों आध्यायों में कुल ३९ पाठ हैं। भक्तियों के मूलकर्त्ता एवं टीकाकार के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इसके सम्पादन और संशोधन के विषय में सोनी जी अपनी ११ पृष्ठ की भूमिका के अन्त में स्वयं लिख रहे हैं "अन्त में नम्र निवेदन यह कि इस ग्रन्थ के सम्पादन, संशोधन और संकलन में कई त्रुटियाँ रह गयी हैं तथा अज्ञान व प्रमादवश और यथेष्ट साधनाभाव के कारण कई अशुद्धियाँ भी रह गयी हैं। कहीं कहीं मात्रा आदि जो संशोधन के समय ठीक थीं परन्तु छपते समय उड़ गयी हैं, अतः प्रेस की वजह से भी कितनी ही अशुद्धियां हो गयी हैं।" द्वितीय संस्करण मे इन त्रुटियों को दूर करने के लिये विज्ञ संपादक स्वयं ही प्रयत्नशील होंगे, इसी लिये इस विषय में विशेष पिष्ट-पेषण करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। हाँ, सम्पादक महोदय से मेरा यह अनुरोध अवश्य है कि इसके द्वितीय संस्करण में प्राकृत पाठों के संशोधन में विशेष ध्यान दिया जाय।

अस्तु ग्रन्थ की छपाई और सफाई आदि प्रशंसनीय है। इसका मूल्य भी अधिक नहीं है, अतः प्रत्येक जैनी को सोनी जी के इस सामयिक प्रयत्न का समुचित समादर करना चाहिये। सोनी जी ने इसके सम्पादन एवं संशोधन में काफी परिश्रम किया है तथा यह ग्रन्थ भी अच्छा प्रकाशित हुआ है।

के० भुजबली शास्त्री

ग्रन्थमाला-विभाग

प्रशस्ति-संग्रह

(सम्पादक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

(क्रमागत)

नाम का एक ग्रंथ है और इसके कर्त्ता सिंहनन्दी कहे जाते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में कहीं भी कर्त्ता का उल्लेख नहीं है। इसलिये पता नहीं कि उक्त कल्प ही यह है या इससे भिन्न। इसका निर्णय दोनों ग्रन्थों के मिलाने से ही हो सकेगा। 'कल्प' भवन में नहीं रहने से इसके रचयिता के विषय में इस समय अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में शान्ति, पौष्टिक, उच्चाटन, वशीकरण, स्तंभन एवं मोहनादि मंत्र-शास्त्र-सम्बन्धो भिन्न भिन्न अनेक विषयों को प्रतिपादित करने की ग्रन्थकर्त्ता ने प्रतिज्ञा की है। पाँचवें पृष्ठ के पूर्व-पृष्ठ में पूर्वाह्न को वसन्त, मध्याह्न को ग्रीष्म, अपराह्न को प्रावृट्, प्रदोष को शिशिर, अर्धरात्रि को शरद्, प्रत्यूष को हेमन्त लिख कर शरद् में शान्ति, हेमंत में पौष्टिक, वसंत में वश्य, फिर हेमंत और शरद् में आकर्षण, ग्रीष्म में विद्वेषण, प्रावृट् में उच्चाटन एवं शिशिर में मारण-विधान का संकेत किया गया है।

नवम पृष्ठ के पूर्व पृष्ठ में कौन से ग्रह शरीर के किस अङ्गोपाङ्ग में कौन सी बाधा पहुँचाते हैं—इसका यों खुलासा किया है :—

सूर्य शिरोवेदना, चंद्र मुखपीड़ा, शुक्र पृष्ठ-बाधा, भौम उदर-शूल, बुध हृदय-व्यथा, बृहस्पति कटिपीड़ा, शनि दोनों बगलों में दर्द, राहु जङ्घावेदना तथा केतु पैरों में पीड़ा पहुंचाते हैं। इसी पृष्ठ में यह दिग्दर्शन कराया गया है कि सायंकाल में राहु और शनि की शांति के लिये नेमिनाथ की. सूर्य और मङ्गल के शांत्यर्थ वासुपूज्य की, केतु की शांति के निमित्त पार्श्वनाथ की, शुक्र तथा चन्द्रमा की शांति के हेतु चंद्रप्रभ की एवं गुरु की शांति के हेतु शांतिनाथ तीर्थङ्कर की पूजा करनी चाहिये।

फिर पृष्ठ दस में ग्रहों के दुष्परिणाम यों लिखे गये हैं :—

चंद्र और शुक्र से शिरःपीड़ा, बुध और बृहस्पति से हृदयशूल, शनि और राहु से उदरवेदना, सूर्य और मंगल से हृदय-कम्पन, पुनः चन्द्र और शुक्र से जल से समुत्पन्न मौक्तिक आदि रत्न एवं सुन्दर धान्य आदि द्रव्यों का क्षय, बुध और बृहस्पति से सुवर्ण, रेशम, रत्न और चावल आदि पदार्थों की क्षति, शनि और राहु से नीलादि रत्न, तिल,

मूंग, उड़द, चना एवं कोदों आदि अन्न का नाश तथा सूर्य और मंगल से सूर्यकांत, लालमणि, मूंगा वगैरह द्रव्यों का क्षय होता है।

अन्यान्य कतिपय मंत्र-शास्त्रों की तरह प्रस्तुत ग्रंथ में भी कपाल, कफन, कई पशुओं की हड्डियों, रोओं, नररक्त, श्मशान की आग आदि अपवित्र वस्तुओं का भी प्रयोग लिखा मिलता है। हाँ इसमें विशेषता सिर्फ यही है कि मारण आदि क्रूर कर्म का विधान नहीं पाया जाता है। यंत्र-मंत्र-रचना-विधि मंत्र-साधन विधि, प्रत्येक तीर्थङ्कर के यक्ष-यक्षियों की मंत्र-सिद्धि भी संक्षेप में इसमें प्रतिपादित की गयी है।

अन्त में यह स्पष्ट लिखा है कि इस ग्रंथ-गत मंत्र-शास्त्र का मर्म सम्यग्दृष्टि को ही देना चाहिये न कि नास्तिक, धर्मद्वेषी, मिथ्यादृष्टि और अपने धर्म में अविश्वास करनेवालों को।

---

(१७) ग्रन्थ नं० २२४/ख

कल्याणकारक

कर्त्ता—उग्रादित्याचार्य

विषय वैद्यक

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१३। इञ्च चौड़ाई—८। इञ्च पत्रसंख्या १५५

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमत्सुरासुरनरेन्द्रकिरीटकोटि-माणिक्यरश्मिनिकराचितपादपीठः ।
तीर्थाधिपूजितवपुर्वृषभो बभूव साक्षादकारणजगत्त्रितयैकबन्धुः ॥ १ ॥
तं तीर्थनाथमधिगम्य विनम्य मूर्ध्ना सत्प्रातिहार्यविभवादिपरीतमूर्त्तिम् ।
सप्रश्रयातिकरुणोरुकृतप्रणामाः पप्रच्छुरित्थमखिलं भरतेश्वराद्याः ॥ २ ॥
प्राग्भोगभूमिषु जना जनितातिरागाः कल्पद्रुमार्पितसमस्तमहोपभोगाः ।
दिव्यं सुखं समनुभूय मनुष्यभावे स्वर्गं ययुः पुनरपीष्टसुखं सुपुण्याः ॥ ३ ॥
अत्रोपपादचरमोत्तमदेहवर्गाः पुण्याधिकास्त्वनपवर्त्य महायुषस्ते ।
अन्ये परार्थपरमायुष एव लोके तेषां महद्भयमभूदिह दोषकोपात् ॥ ४ ॥

देव ! त्वमेव शरणं शरणागतानामस्माकमाकुलधियामिह कर्मभूमौ ।
शीतातिवातहिमवृष्टिनिपीडितानां कालक्रमात्कदशनाशनतत्पराणाम् ॥ ५ ॥
नानाविधामयभयाद्दतिदु खितानामाहारभेषजनिरुक्तिमजानतां नः ।
तत्संस्थरक्षणविधानमिहातुराणां का वा क्रिया कथयतामथ लोकनाथ ॥ ६ ॥
विज्ञाप्यदेवमिति विश्वजगद्धितार्थं तूष्णीं स्थिता गणधरप्रमुखप्रधानाः ।
तस्मिन्महासदसि दिव्यनिनादयुक्ता वाणी ससार सरसा वरदेवदेवी ॥ ७ ॥
तत्रोदितः पुरुषलक्षणमामयानामप्यौषधान्यखिलकालविशेषणाश्च ।
संक्षेपतः सकलवस्तुचतुष्टयं सा सर्वज्ञसूचकमिदं कथयाञ्चकार ॥ ८ ॥
दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम् ।
पश्चाद् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपञ्चमिष्टार्थनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मुः ॥ ९ ॥
एवं जनान्तरनिबन्धनसिद्धमार्गादायातमायनमनाकुलमर्थगाढम् ।
स्वायम्भुवं सकलमेव सनातनं तत्साक्षात् श्रुतं श्रुतधरैः श्रुतकेवलिभ्यः ॥ १० ॥
प्रोद्यज्जिनप्रवचनामृतसागरान्तः प्रोद्यत्तरङ्गनिसृताल्पसुशी।.रं वा ।
वक्ष्यामहे सकललोकहितैकधाम कल्याणकारकमिति प्रथितार्थयुक्तम् ॥ ११ ॥
नैवातिवाक्पटुतया न च काव्यदर्पाद्वैवान्यशास्त्रमदभंजनहेतुना वा ।
किन्तु स्वकीयतप इत्यवधार्य वर्दमाचार्यमार्गमधिगम्य विधास्यते तत् ॥ १२ ॥
स्वाध्यायमाहुरपरे तपसां हि मूलमन्ये च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम् ।
तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयात्नादारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक् ॥१३॥
अत्रापि सन्ति बहवः कुटिलस्वभावा दुष्टाष्टयो द्विरसनाः कुमतिप्रयुक्ताः ।
छिद्राभिलाषनिरताः परबाधकाश्च घोरोरगैरुपमिताः पुरुषाधमास्ते ॥१४॥
केचित्पुनः स्वगृहमान्यगुणाः परेषां दुष्यन्त्यशेषविदुषां न हि तत्र दोषः ।
पापात्मनां प्रकृतिरेव परेष्वसूयापैशून्यवाक्परुषलक्षणलक्षितान्ता ॥१५॥
केचिद्विचाररहिताः प्रथितप्रतापाः साक्षात्पिशाचसदृशाः प्रचरन्ति लोके ।
तैः किं यथा प्रकृतमेव मया प्रयोज्यं मात्सर्यमार्यगुणवर्ज्यमितिप्रसिद्धम् ॥१६॥
एवं विचार्य शिथिलीकृतमत्सरोऽहं शास्त्रं यथाधिकृतमेवमुदाहरिष्ये ।
सर्वज्ञवक्त्रनिसृतं गणदेवलब्धं पश्चात्प्रजापतिपरं परयावतीर्णम् ॥१७॥
विद्येति सत्प्रकटकेवललोचनाख्या तस्यां यदेतदुपपन्नमुदारशास्त्रम् ।
वैद्यं वदन्ति पदशास्त्रविशेषणाज्ञा एतद्विदन्त्यथ पठन्ति च तेऽपि वैद्याः ॥१८॥
वेदोऽयमित्यपि च चोदविचारलाभस्तत्रार्थसूचकवचः खलु धातुभेदात् ।
आयुश्च तेन सह पूर्वनिबद्धमुद्यच्छास्त्राभिधानमपरं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥१९॥

एवं विषस्य भुवनैकहिताधिकोग्रहेद्यस्य भाजनतया प्रविकल्पिता ये ।
तानत्र साधुगुणलक्षणसाम्यरूपान् वक्ष्यामहे जिनपतिप्रतिपन्नमार्गान् ॥२०॥

× × × × ×

मध्यभाग (प॰पृष्ठ ५६ पंक्ति १६ श्लोक १ से)

जिनमनघमनन्तज्ञाननेत्राभिरामं त्रिभुवनसुखसम्पन्मूर्त्तिमत्यादरेण ।
प्रतिदिनमतिभक्त्यानम्य वक्ष्याम्युदारश्वजगतमुपदंशख्यातशूकाभिधानम् ॥१॥
वृषणविधिविवृद्धिप्रोक्तदोषक्रमेण प्रकटतरचिकित्सामेहनोत्पन्नशोफी ।
वितरतु विधियुक्तां चोपदंशाभिधाने निखिलविषमशोफेष्वेवमेव प्रयोगः ॥२॥
स भवति खलु शोफो द्विप्रकारो नराणामवयवनियतोऽन्यः सर्वदेहोद्भवश्च ।
सकलतनुगतो वा मध्यदेहादूर्ध्वदेहे श्वयथुरतिसुकृष्टक्लिष्टशुष्केतराङ्गः ॥३॥
श्वयथुरतिविशालो विद्रधिः कुम्भरूपो मुखरहिततया तु ग्रन्थयः सम्प्रदिष्टाः ।
मुखयुतपिटकाख्यां शोफकालानुरूपैरुपहननविशेषैस्साधनैस्साधयेत्तम् ॥४॥
ज्वरयुतपरिदाहश्वासतृष्णातिसारप्रकटबलविहीनारोचकोद्गारयुक्तः ।
यमसदनमवाप्नोत्याशु शून्याङ्ग्यष्टिर्यमनुशकृदनूनं दृष्टकामो मनुष्यः ॥५॥

× × × +

अन्तिम भाग :—

श्रीविष्णुराजपरमेश्वरमौलिमाला-संलालितांघ्रियुगलः सकलागमज्ञः ।
आलापनीयगुणमुन्नतसन्मुनीन्द्रः श्रीनन्दिनन्दितगुरुर्गुरुरूर्जितोऽहम् ॥५१॥
तस्याज्ञया विविधभेषजदानसिद्ध्यै सद्वैद्यवत्सलतपःपरिपूरणार्थम् ।
शास्त्रं कृतं जिनमतोद्धृतमेतदुद्यत् कल्याणकारकमिति प्रथितं धरायाम् ॥५२॥
इत्येतदुत्तरमनुत्तरमुत्तमज्ञैर्विस्तीर्णमस्तु युतमस्तसमस्तदोषाः ।
प्राग्भाषितं जिनवरैरधुना मुनीन्द्रोग्रादित्यपण्डितमहागुरुभिः प्रणीतः ॥५३॥
सर्वार्थाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्ज्वलत्
प्राणापायमहागमाद्यवितथं संगृह्य संक्षेपतः ।
उग्रादित्यगुरुर्गुरुर्गुणगणैरुद्भासि सौख्यास्पदम्
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवान् इत्येष भेदस्तयोः ॥५४॥
सालंकारं सशब्दं श्रवणसुखमथप्रार्थितं स्वार्थविद्भिः
प्राणायुः सत्ववीर्यं प्रकटबलकरं प्राणिनां स्वास्थ्यहेतु ।
विभ्युद्भूतं विचारक्षममिति कुशलाः शास्त्रमेतद्यथावत्
कल्याणाख्यं जिनेन्द्रैर्विरचितमधिगम्याशु सौख्यं लभन्ते ॥५५॥

अल्पाढ्यं द्विसहस्रकैरपि तथा शीतोतरैर्वृत्तैः (?)
संचरितैरिहाधिकमहावृत्तैर्जिनेन्द्रोदितैः
प्रोक्तं शास्त्रमिदं प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार्यार्थवत् ।
स्थेयाच्छ्रीरविचन्द्रतारकमलं सौख्यास्पदं प्राणिनाम् ॥५६॥
इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहाम्बुनिधेः सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ।
उभयभवार्थसाधनतटद्वयभासुरतो निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥५७॥

इत्युग्रादित्याचार्यकृतकल्याणकोत्तरे नानाविधकल्पककल्पनासिद्धये कल्पाधिकारः पञ्चमो-ऽध्यायोऽप्यादितः पञ्चविंशपरिच्छेदः ।

× × × × × ×

शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतन्त्रं च पात्र-
स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः ।
काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनाम्
वैद्यं वृष्यञ्च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ॥
अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात् ।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ।
वेङ्गीशत्रिकलिङ्गदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः
प्रोद्यद्वृक्षलतावितानविरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः ।
सर्वैर्मान्दरकन्दरोपमगुहाचैत्यालयालङ्कृते
रम्ये रामगिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥*

इस वैद्यक ग्रन्थ कल्याणकारक के रचयिता आचार्य उग्रादित्य जी हैं। इस के प्रशस्तिगत ५१ वें श्लोक में इन्हों ने अपने गुरु को श्रीनन्दि नाम से याद किया है। पता नहीं चलता कि यह श्रीनन्दि जी कौन हैं। हाँ श्रवणबेल्गोलस्थ शिलालेख नं० ४९३ (शक १०४७) में एक श्रीनन्दि का उल्लेख मिलता है अवश्य, मगर इनके शिष्य उग्रादित्य न होकर सिंहनन्दि हैं। बल्कि इनकी शिष्यपरम्परा में उग्रादित्य का नाम कहीं उपलब्ध नहीं होता।

प्रायश्चित्तचूलिका एवं योगसार के कर्त्ता गुरुदास के गुरु का नाम भी श्रीनन्दि है। किन्तु यहाँ भी मालूम नहीं होता कि उग्रादित्य के गुरु यही हैं या दूसरे। भास्कर भाग १ किरण ४ पृष्ठ ७८ में प्रकाशित नन्दिसंघ की पट्टावली में भी एक श्रीनन्दि का नाम

* ये अन्तिम तीन श्लोक 'भवन' की प्रति में नहीं हैं।

आया है। इसमें इनका समय वि० सं० ७४६ अर्थात् ८ वीं शताब्दी बतलाया गया है। वहाँ इन्हें उज्जैनी के पट्टाधीश लिखा है। इसी प्रकार श्रीचन्द्र के (वि० सं० १०७०) गुरु भी श्रीनन्दि कहे गये हैं। आचार्य वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में एक श्रीनन्दि का उल्लेख किया है जो इनके प्रगुरु थे। अनुमानतः इनका समय १३ वीं शताब्दी होता है। क्योंकि इनके प्रशिष्य वसुनन्दि १२ वीं शताब्दी के हैं। आचार्य उग्रादित्यजी अपने गुरु श्रीनन्दि के नामोल्लेख के साथ साथ इनके गण गच्छादि की भी चर्चा कर गये होते तो आपके बारे में बहुत कुछ ऊहापोह करने की गुंजायश होती पर ऐसा नहीं होने से हमारे उग्रादित्य जी के श्रीनन्दि यों ही सन्देहास्पद बने रहते हैं। इन्हीं साधनों के अभाव से उग्रादित्य जी के विषय में भी कुछ नहीं लिखा जा सकता।

उल्लिखित ५१ वें श्लोक से यह भी विदित होता है कि उग्रादित्य के गुरु श्रीनन्दि जी को राजा विष्णुराज परमेश्वर बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। पर ज्ञात नहीं कि यह विष्णुराज कौन हैं।

उग्रादित्य जी ने "वेङ्गीशत्रिकलिङ्गदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः" इत्यादि श्लोक में यह दरसाया है कि त्रिकलिङ्ग-देश में राम-गिरि पर्वत के ऊपर जिनमन्दिर में समस्त प्राणियों के हितार्थ यह ग्रन्थ रचा गया। 'हिन्दीविश्वकोष' के विज्ञ सम्पादक के मत में "त्रिकलिङ्ग-जनपद (देश) मंद्राज के उत्तर पलिकट नामक स्थान से लेकर उत्तर गंजाम और पश्चिम में त्रिपति, बेल्लारि, करनूल, विदर तथा चन्दा तक विस्तृत है"। परन्तु श्रीयुत नन्दूलाल दे, एम० ए० बी० एल० अपनी "The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India" नामक कोष में मध्य-भारत को त्रिकलिंग मानते हैं। मुझे दे महोदय का मत ही युक्ति-युक्त जँचता है। इसका कारण यह कि विश्वकोष के सम्पादक श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु और उक्त भौगोलिक कोष के सम्पादक श्रीयुत नन्दूलाल दे दोनों महाशयों ने मध्य प्रान्तीय नागपुर से २४ मील उत्तर विद्यमान रामटेक को ही प्रसिद्ध प्राचीन रामगिरि माना है। हाँ हिन्दी-विश्वकोष में मैसूर राज्यस्थ बेङ्गलूरु जिला में भी एक रामगिरि लिखा मिलता है अवश्य, मगर यह रामगिरि हिन्दी-विश्वकोष के मान्य सम्पादक के द्वारा प्रतिपादित त्रिकलिङ्ग देश के अन्तर्गत नहीं आता। इस लिये इन उल्लिखित प्रमाणों के आधार पर यह निस्सङ्कोच कहा जा सकता है कि कल्याण-कारक के कर्त्ता उग्रादित्याचार्य के द्वारा निर्दिष्ट त्रिकलिङ्ग वर्तमान मध्य-प्रान्त एवं तदन्तर्गत रामगिरि, नागपुर से २४ मील उत्तर अवस्थित रामटेक ही है। आज भी यहाँ पर पहाड़ी के नीचे कुछ प्राचीन दिगम्बर जैनमन्दिर मौजूद हैं। दिगम्बर जैन प्राचीन काल से ही इस स्थान को एक पवित्र क्षेत्र मानते आ रहे हैं। बहुत कुछ संभव है कि उग्रादित्य जी

ने इसी सुसिद्ध प्राचीन क्षेत्र को अपने ग्रन्थ-प्रणयन का एक प्रशान्त एवं पुनीत निवासोपयुक्त स्थान समझा हो।

कभी कभी यह बात भी ध्यान में आ जाती है कि उग्रादित्यजी के गुरु श्रीनन्दि के परम भक्त उपर्युक्त विष्णुराज परमेश्वर शायद कलचूरि राजवंश के हों। क्योंकि यह कलचूरि राजवंश मध्यप्रान्त का सबसे बड़ा राजवंश था और इसका प्राबल्य ८वीं ९मी शताब्दी में बहुत बढ़ा चढ़ा था। एक समय यह साम्राज्य बंगाल से गुजरात एवं बनारस से कर्नाटक तक फैल गया था। किन्तु बहुत दिनों तक इसका अस्तित्व नहीं रह सका। कलचूरि नरेशों में बहुतेरे नरेश जैनधर्म के प्रधान पृष्ठपोषक थे। साथ ही साथ कितने ही कलचूरि शासकों ने अपने को त्रिकलिङ्गाधिपति कहा है। कलचूरि नरेशों का जैन धर्मावलम्बी होना एवं अपने को त्रिकलिङ्गाधिपति कहना ये दोनों उग्रादित्याचार्य के द्वारा कल्याणकारक में वर्णित विष्णुराज परमेश्वर को कलचूरि राजवंशीय सिद्ध करने में अवश्य सहायक हैं। हाँ, इस समय मेरे सामने मध्यप्रान्त में शासन करनेवाले भिन्न भिन्न राजाओं की वंश-तालिका नहीं रहने के कारण विष्णुराज परमेश्वर को निश्चित रूप से कलचूरि राजवंशीय लिखने से विरत होना पड़ता है।

उग्रादित्य जी ने अपने इस कल्याणकारक में निम्नलिखित आचार्यों के नाम लिये हैं:—

(१) पूज्यपाद (२) पात्रस्वामी (संभवतः पात्रकेशरी) (३) सिद्धसेन (४) दशरथ गुरु* (५) मेघनाद (६) सिंहनाद (७) समन्तभद्र। इनके अतिरिक्त आपने इस ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रयोगों में यत्र-तत्र निम्नलिखित आचार्यों के दृष्टान्तरूप से वैद्यक-सम्बन्धी मत दरसाया है:—

(१) श्रुतकीर्त्ति (२) कुमारसेन (३) वीरसेन (४) जटाचार्य। इन में पूज्यपाद, सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रुतकीर्त्ति, कुमारसेन, वीरसेन, जटाचार्य ये प्रसिद्ध आचार्यों में हैं। पात्रस्वामी प्रायः प्रख्यात पात्रकेशरी हों। अब रहे उल्लिखित मेघनाद एवं सिंहनाद। ये नाम तो मेरे लिये अपरिचित से ज्ञात होते हैं।

जैनवैद्यक शास्त्र बारहवें प्राणावायपूर्व से प्रादुर्भूत माना जाता है। अन्तिम पद्य से यह भी ज्ञात होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ अन्यान्य वैद्यशास्त्र के मर्मज्ञ पूर्व जैनाचार्यों के वैद्यक-ग्रन्थों का आश्रय लेकर ही प्रणीत हुआ है। वैदिक मतावलम्बी विद्वानों ने वैद्यशब्द की निष्पत्ति वेद से की है, पर उग्रादित्य जी केवलज्ञानरूपी विद्या से मानते हैं यह एक

* सेनगण के आचार्य वीरसेन के शिष्य एक दशरथ हुए हैं। (भास्कर भाग १, किरण १, पृष्ठ ४४)

विशेषता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम जो कल्याणकारक रक्खा है वह वैद्यक शास्त्र के लोककल्याणसम्पादक इस अनुत्तम ध्येय का विवेचन करके ही रक्खा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आप जैनवैद्यक शास्त्र की प्राचीनता, वैद्यकशास्त्र की व्युत्पत्ति, इसका उद्देश, चिकित्सा का प्रयोजन आदि विषयों पर भी प्रकाश डालने से विरत नहीं हुए हैं। प्रशस्तिगत श्लोक से ज्ञात होता है कि आचार्य पूज्यपाद जी ने शालाक्य, शिरोभेदन आदि, पात्रस्वामी आचार्य ने शल्यतन्त्र, आचार्य सिद्धसेन जी ने विष एवं ग्रह-शान्ति-विधान, आचार्य दशरथ गुरुजी और मेघनाद जी ने शारीरिक चिकित्सा, सिंहनाद जी ने महारोग-शान्ति-विधान एवं आचार्य समन्तभद्र जी ने अष्टाङ्ग आयुर्वेद का प्रणयन किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त औषधकल्प, सिद्धान्त रसायनकल्प, भिषक्प्रकाश, जगत्सुन्दरी, कनक दीपक, रससार, सिद्धनागार्जुनकल्प, रसतन्त्र तथा मेरुतन्त्र आदि कई संस्कृत वैद्यक ग्रन्थों का उल्लेख एवं कुछ ग्रन्थों का अंश यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। किन्तु खेद की बात है इन समुज्वल जैनसाहित्य रत्नों की खोज एवं प्रकाशन की ओर अभीतक जैनसमाज का ध्यान नहीं गया है। कन्नड साहित्य में भी सोमनाथ के कल्याणकारक, पार्श्वदेव की सुकरयोगरत्नावलि, चालुक्यवंशीय कीर्त्तिवर्मा के गोवैद्य, मंगराज के खगेन्द्रमणिदर्पण, अभिनवचन्द्र के हयशास्त्र, देवेन्द्र मुनि की बालग्रह-चिकित्सा, अमृतनन्दि मुनि का अकारादि वैद्यनिघण्टु एवं श्रीधरदेव के वैद्यामृत के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। बड़े हर्ष से यह कहने का सौभाग्य प्राप्त होता है कि उक्त इन ग्रन्थों में से आचार्य उग्रादित्य कृत यह कल्याणकारक सोलापुर के जिनवाणी के अनन्यभक्त सेठ रावजी सखाराम दोशी जी के सदुद्योग से एवं खगेन्द्रमणिदर्पण मद्रास के विश्वविद्यालय के ग्रन्थप्रकाशन विभाग से प्रकाशित हो रहे हैं।

साधनाभाव से उग्रादित्य के समय का पता लगाना असम्भव सा हो रहा है। इनके गुरु श्रीनन्दि और विष्णुराज परमेश्वर के विषय में कुछ पता लगने से इनके समय-निर्णय करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। हाँ, श्रुतकीर्त्ति और कुमार सेन का नाम जो आपने प्रशस्ति में लिया है सो उनका भी कुछ पता नहीं है—कहीं इनके गण-गच्छ एवं गुरुपरम्परा की बातें जरा भी ज्ञात हो जातीं तो भी उग्रादित्य जी के समय-सम्बन्धी प्रश्न को थोड़ा बहुत हल हो जाने की सम्भावना थी। क्योंकि एक नाम के अनेक जैनाचार्य हो गये हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये अमुक श्रुतकीर्त्ति आदि ही हैं। श्रवणबेल्गोल के निम्न लिखित शिलालेखों में श्रुतकीर्त्ति के नाम कई जगह आते हैं। जैसे ४०, १०५ और १०८ में। इनका समय क्रमशः शकसम्वत् १०८५, १३२० और १३५५ है। इसी प्रकार कुमारसेन का नाम ५४ एवं ४९१ के शिलालेखों में आता है और इनका

तिलोयपण्णत्ती

TILOYA-PAṆṆATTĪ OF JADIVASAHA

PREFACE

It is for the first time that the work Tiloya-paṇṇatti Sk. Triloka prajñaptiḥ is being edited here, in parts, in the pages of the Jaina Antiquary. Samantabhadra (c. 2nd century A. D.), in his Ratna-karaṇḍaka-śrāvakācāra (ii, 1-4), divides Jaina literature, according to the subject matter, under four heads. Prathamānuyoga, that deals with mythology, tradition and history; Karaṇānuyoga, that deals with calculatory sciences including local and transcendental geography; Caraṇānuyoga, that deals with ethics comprising rules of conduct for householders and monks; and lastly Dravyānuyoga, that deals with philosophy, metaphysics, ontology and other kindred topics. Tiloya-paṇṇatti belongs to the second group which, by the very nature of its subject, is not very popular, and is poorly represented in the galaxy of Jaina works. Sūrapaṇṇatti and Jambuddīvapaṇṇatti of the Jaina canon belong to this group, as well as Tiloya-sāra of Nemicandra and the Sk. Loka-vibhāga of Siṁhasūri.

The author of Tiloya-paṇṇatti is Jadi-vasaha Sk. Yativṛṣabha of venerable antiquity. The date of the author, his place in Jaina hierarchy, the stratum of the Jaina literature to which this work belongs, the problem raised by the common verses in this work and other works of authors like Vaṭṭakera, Kundakunda, Jinabhadra, Nemicandra and others, the nature of the Prākṛta dialect used here and the various other akin discussions will be taken up in the Introduction after the text is completely edited.

The author has an admirable command over the Prākṛta language; his Prākṛta style is not hackneyed and Sanskrit-ridden as in the case of later Sk. dramatists. It appears that the Prākṛta was a living language of the day as indicated by such instances that the author uses, within a distance of half a dozen verses, three different forms of one and the same Sk. word; *ucchcha*, *udiseha* and *usseha* for the Sk. *utsedha* (verses 107-10 below). Utmost care has been taken in constructing the text, and nowhere the agreement of the Mss. is set aside in the light of modern standards of later Pk. grammarians. It is no wonder then that forms like *totta* Sk. *stotra* (verse, 31) and *pāsa* Sk. *sparśa* (verse, 97), which have not been recognised by Pk. grammarians like Hemacandra, are seen here and there.

I have used three Mss.: *A*. a transcript from the Arrah Ms. (and after verse 120 it stands for Arrah Ms. itself), *B*. a Ms. from Bombay from Ailaka Pannālāl Sarasvatī Bhavana, and *S*. a Ms. from Sholapur—in preparing the present edition of Tiloya-paṇṇatti; their description in detail will be given later on. Only select and important readings have been given in foot-notes. Scribal errors, not uncommon in Jaina Mss., like the interchange of *jjh* and *bbh*, *cch* and *tth* and the promiscuous substitution of *y*, *c*, *p* and *m* have been ignored. Unlike the Mss. of the Jaina canon in Ardhamāgadhī, these Mss. are uniform in preferring cerebral nasal to dental one, irrespective of the position of the letter in a word, whether single or conjunct. As to important dialectal features like the present-tense third person singular termination, I have retained *i* when all the Mss. agree, and in case they differ I have preferred *di* which is a normal feature in majority of cases in this work. With respect to *ya-śruti* the agreement of the Mss. is accepted even against the convention—of course not without an exception – formulated by Hemacandra (VIII, i, 180.) For typographical convenience no distinction is made between an *anusvāra* and an *anunāsika*, and this can be easily detected by a little familiarity with the flow of the gāthā verse. In cases of euphonic *anusvāra* (Hema. VIII, i, 26,) and an euphonic conjunct following a letter, two words have been written together, though *tti* is separately shown.

Faithful and intelligent record of the text-tradition as preserved in different Mss. has been my guiding principle throughout. The task of collation and of settling the text is always difficult in Prākṛta works, and more so, when the subject matter of the work is obscure, the Ms. material meagre and defective, and the nature of the dialect uncertain. In a few cases I have emended the text according to my humble discretion, but always I have given below the readings preserved in the Mss. Sometimes such emendations are suggested, with a question mark, in foot-notes whenever a particular reading was accepted by all the Mss. and was ordinarily plausible but yet in need of a slight change in view of the accepted Pk. phonetic laws and grammatic necessity.

In the absence of any Sk. commentary, a shade, marginal gloss or more accurate Mss. many knotty passages have remained without being confidently and correctly understood by me; and nobody can be more conscious than this humble editor about the tentative character of the text presented here.

A. N. UPADHYE.

ॐ

जदिवसहाइरिय-विरइदा

तिलोयपण्णत्ती

अट्ठविहकम्मवियला णिट्ठियकज्जा पणट्ठ[1]संसारा ।
दिट्ठसयलट्ठसारा[2] सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥१॥
घणघाइकम्ममहणा तिहुवणवरभव्वकमलमत्तंडा ।
अरिहा अणंतणाणा[3] अणुवमसोक्खा जयंतु जए ॥२॥
पंचमहव्वयतुंगा तक्कालियसपरसमयसुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीदंतु ॥३॥
अण्णाणघोरतिमिर[4]दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा उवज्झया[5] वरमदिं देंतु[6] ॥४॥
थिरधरिय[7]-सीलमाला ववगयराया जसोहपडहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥५॥
एवं वरपंचगुरू तियरणसुद्धेण णमंसिऊण हं[8] ।
भव्वजणाण पदीवं वोच्छामि तिलोयपण्णत्तिं ॥६॥
मंगलकारणहेदू सत्थं सपमाणणामकत्तारा ।
पढमं चिय[9] कहिदव्वा एसा आइरियपरिभासा ॥७॥
पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा ।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥
गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥९॥
दोण्णि वियप्पा होंति हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहिं ।
दव्वमलं दुविहप्पं बाहिरमब्भंतरं[10] चेय ॥१०॥
सेदमलरेणुकद्दमपहुदी बाहिरमलस्समुद्दिट्ठं ।
पुणु दिढजीवपदेसे णिबंधरूवाइ पयडिठिदिआई[11] ॥११॥

---

1 S म पणट्ठ; 2 BS सयलत्थ; 3 BS णाणे; 4 S तिमिरं; 5 A उवज्झाया; 6 AB दिंतु; 7 S सिला, AB सोभा; 8 AB णमंसिऊणाहं; 9 S चि य; 10 AS मज्झंतरं; 11 AB आइं।

अणुभागपदेसाइं[1] चउहिं पत्तेक्कभेज्जमाणं[2] तु ।
णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं ॥१२॥
अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि[3] हेदो ।
भावमलं णादव्वं अण्णाणदंसणादिपरिणामो ॥१३॥
अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादिदव्वभावमलभेदा ।
ताइं गालेदि[4] पुढं जदो तदो मंगलं भणिदं ॥१४॥
अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा ।
एदेण कज्जसिद्धिं मंगलगत्थेदि गंथकत्तारो ॥१५॥
पुव्वं आइरिएहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं ।
तं लादि हु आदत्ते[5] जदो तदो मंगलप्पवरं ॥१६॥
पावं मलं ति भण्णदि उवचारसरूवएण जीवाणं ।
तं गालेदि विणासं णेदि त्ति भणंति मंगलं केई ॥१७॥
णामणिट्ठावणा दो दव्वखेत्ताणि कालभावा य ।
इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणणं ॥१८॥
अरहाणं सिद्धाणं आइरियउवज्झायाइसाहूणं ।
णामाइं णाममंगलमुद्दिट्ठं वीयराएहिं ॥१९॥
ठावणमंगलमेदं अकट्टिमाकट्टिमाणि जिणबिंबा ।
सूरिउवज्झयसाहूदेहाणि[6] हु दव्वमंगलयं ॥२०॥
गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स ।
उप्पत्ती इयपहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं ॥२१॥
एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतचंपादी ।
आउट्ठहत्थपहुदी पणुवीसब्भहियपणसयधणूणि ॥२२॥
देहअवट्ठिदकेवलणाणावट्ठद्धगयणदेसो वा ।
सेढीघणमेत्त[7] अप्पपदेसगदं[8] लोयपूरणं पुण्णं[9] ॥२३॥
विण्णासं लोयाणं होंदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ।
जस्सि काले केवलणाणादिमंगलं परिणमदि[10] ॥२४॥
परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिपवेसादी ।
पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं ॥२५॥

---

1 S भाव; 2 BS भेदमाणां; 3 BS णिबद्ध; 4 AB गालेइ; 5 B आदुत्ते; 6 A उवज्झाय; 7 AB मित्त; 8 B गदं, S जदं; 9 S लोयपूरणा पुण्णा; 10 ABS परिणमति।

एवं अणेयमेयं हवेदि तक्कालमंगलं पवरं ।
जिणमहिमासंबंधं णंदीसरदीवपहुदीओ ॥२६॥
मंगलपज्जाएहिं उवलक्खियजीवदव्वमेत्तं च ।
भावं मंगलमेदं [1]पढियसत्थादिमज्झयंतेसु[2] (?) ॥२७॥
पुव्विल्लाइरियेहिं उत्तो संठाणमंगलं घोसो ।
आइम्मि[3] मज्झअवसाणे य सुणियमेण कायव्वो ॥२८॥
पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति ।
मज्झिम्मे णिव्विग्घं[4] विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥२९॥
णासदि विग्घं भेददि यंहो दुट्ठासुरा[5] लंघंति ।
इट्ठो ऽलद्धो लब्भइ जिणणामग्गहणमेत्तेण ॥३०॥
सत्थादिमज्झअवसाणएसु[6] जिणतोत्तमंगलुच्चारो ।
णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं ॥३१॥

इदि मंगलगदं

विविहवियप्पं लोगं बहुभेयपमाणदो भव्वा ।
जाणंति त्ति णिमित्तं कहिदं गंथावतारस्स ॥३२॥
केवलणाणदिवायरकिरणकलावादु एत्थ अवहारे ।
गणधरदेवे[7] गंथुप्पत्ती हु सोहंति संजादो[8] (?) ॥३३॥
छद्दव्वणवपयत्थे सुदणाणंदुमणिकिरणसत्तीए ।
देक्खंतु भव्वजीवा अण्णाणतमेण संच्छण्णा ॥३४॥

णिमित्तं गदं

दुविहो हवेदि हेदू तिलोयपण्णत्तिगंथयज्झयणे ।
जिणवरवयणुद्दिट्ठो पच्चक्खपरोक्खमेएहिं ॥३५॥
सक्खापच्चक्खपरंपच्चक्खा दोण्णि[9] होंति पच्चक्खा ।
अण्णाणस्स[10] विणासं णाणदिवायरस्स उप्पत्ती ॥३६॥
देवमणुस्सादीहि संततमब्भच्चणप्पयाराणी ।
पडिसमयमसंखेज्ज य गुणसेढिकम्मणिज्जरणं ॥३७॥
इय सक्खापच्चक्खं पच्चक्खपरं परं च णादव्वं ।
सिस्सपडिसिस्सपहुदीहिं सददमब्भच्चणपयारं ॥३८॥

---

1 पढिय(ठि)मउ; 2 S पच्छादि for सत्थादि 3 ABS अइंमि; 4 BS णीविग्घं; 5 S तायालं; 6 AB सुजिणुत्तोत्त; 7 S देहे; 8 AB सो जादो; 9 ABS दोन्न; 10 AS अणाणस्स।

दोभेदं च परोक्खं अब्भुदय[1] सोक्खाइं मोक्खसोक्खाइं ।
सादादिविविह[2]सुपसत्थकम्मतिव्वाणुभागउदएहिं ॥३९॥

इंदपडिंददिगिंदयतेत्तीससामरपमाणपहुदिसुहं[3] ।
राजाहिराजमहाराजद्ध[4]मंडलिमंडलयाणं ॥४०॥

महमंडलियाणं अद्धचक्किचक्कहरि[5]तित्थयरसोक्खं ।
अट्ठारसमेत्ताणं सामीसेणाण भत्तिजुत्ताणं[6] ॥४१॥

वररयणमउडधारी सेवयमाणा णवंति वह[7]अट्ठं ।
देता हवेदि राजा जितसत्तू समरसंघट्टे ॥४२॥

करितुरयरहाहिवई सेणवइ[8]पदंतिसेट्ठिदंडवई ।
सुद्दक्खत्तियवइसा हवंति तह महयरा पवरा ॥४३॥

गणरायमंतितलवरपुरोहिया मंतया महामंता ।
बहुविहपइण्णया य अट्ठारसा होंति सेणो(णा ?)ओ ॥४४॥

पंचसयरायसामो अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो ।
रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महराजो ॥४५॥

दुसहस्समउड[9]बद्धभुववसहो तच्चअद्धमंडलिओ ।
चउराजसहस्साणं अहिणाउ[10] होइ मंडलियं ॥४६॥

महमंडलिओ णामो अट्ठसहस्साण अहिवई ताणं ।
रायाणं अद्धचक्की सामी सोलससहस्समेत्ताणं ॥४७॥

छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ ।
होदि हु सयलंचक्की तित्थयरो सयलभुवणवई ॥४८॥

अब्भुदयसोक्खं गदं

सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं ।
अतिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं पवरं ॥४९॥

मोक्खसोक्खं गदं

सुदणाणभावणाए णाणं[11] मत्तंडकिरणउज्जोओ[12] ।
आदं चंदुज्जलं चरित्तं चित्तं हवेदि भव्वाणं ॥५०॥

1 S अणुदय ; 2 AS सुपरमत्थ ; 3 S तेत्तीसामरसमाण ; 4 A मंडलिक ; 5 ABS तित्थरय; 6 AS भंति ; 7 S अद्धं ; 8 S य मति, why not पदंत्ति ; 9 S बद्धासेवसहो ; 10 अहिणाम (?) ; 11 A णाणमत्तंड ; 12 AS उज्जोउ ।

कणयधराधरधीरं मूढत्तयविरहिदं हयट्ठमलं ।
जायदि पवयणपढणे सम्मद्दंसणमणुवमं णं[1] ॥५१॥
सुरखेयरमणुवाणं लब्भंति सुहाइं आरिसंभासा[2] ।
तत्तो णिव्वाणसुहं णिण्णासिदघादु[3]णट्ठमलं ॥५२॥

हेदु गदं

विविहत्थेहि अणंतं संखेज्जं अक्खराण गणणाए ।
एदं पमाणमुदिदं सिस्साणं मइविकासयरं ॥५३॥

पमाणं गदं

भव्वाण जेण एसा तेलोक्कपयासणे परमदीवा ।
तेण गुणणाममुदिदं तिलोयपण्णत्तिणामेणं[4] ॥५४॥

णाम गदं

कत्तारो दुवियप्पो णादव्वो अत्थगंथभेदेहिं ।
दव्वादिचउपयारेहिं भासिमो[5] अत्थकत्तारो ॥५५॥
सेदरजाइमलेणं रत्तच्छिकडक्खबाणमोक्खेहिं[6] ।
इयपहुदिदेहदोसेहिं संततमदूसिदसरीरो ॥५६॥
आदिमसंहणणजुदो समचउरस्संगचारुसंठाणो ।
दिव्ववरगंधधारी पमाणठिदरो(?)[7] मणुवरूवो ॥५७॥
णिब्भूसणायुधंबरभीदी[8] सोम्माणणादिदिव्वतणू[9] ।
अट्ठब्भहियसहस्सप्पमाणवरलक्खणोपेदो ॥५८॥
चउविहउवसग्गेहिं णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो ।
छुहपहुदिपरिसहेहिं परिचत्तो रायदोसेहिं ॥५९॥
जोयणपमाणसंठिदतिरियामरमणुवनिवहपडिबोहो ।
मिदुमधुरगभीरतरा [10]विसदविसयसयलभासाहिं ॥६०॥
अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा ।
अक्खरअणक्खरप्पयसण्णी जीवाण सयलभासाओ ॥६१॥

1 B णुवमाणं; 2 A पारसंभासा; 3 णिघद (?); 4 S omits this gāthā; 5 S भासेमो; 6 S रत्तच्छिक; 7 AB ठिदोर; 8 ABS युधांबर; 9 BS तिव्वतणू; 10 A विसदयसंग, B विसद-वसय, S विसदविजय ।

एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं ।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकरभासो ॥६२॥
भावणवेंतरजोइसियकप्पवासेहिं केसवबलेहिं ।
विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं ॥६३॥
एदेहिं अण्णेहिं विरचिदचरणारविंदजुगपूजो ।
दिट्ठसयलट्ठसारो महवीरो अत्थकत्तारो ॥६४॥
सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि ।
विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥६५॥
चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वेभारो ।
णइरिदिदिसाए विउलो दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥६६॥
चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु ।
ईसाणाए पंडुवण्णाद्दो[2] सव्वे कुसग्गपरियरणा ॥६७॥
एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि ।
तेत्तीसवासअडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ॥६८॥
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए ।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६९॥
सावणबहुले पाडिव[3]रुद्दमुहुत्ते सुहोदए[4] रविणो ।
अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ॥७०॥
णाणावरणप्पहुदिअणिच्छयववहारपायअतिसयए (?) ।
संजादेण अणंतणाणेणं[5] दंसणसुहेहिं ॥७१॥
विरिएण तहा खाइयसम्मत्तेणं पि दाणलाहेहिं ।
भोगोपभोगणिच्छयववहारेहिं च परिपुण्णो[6] ॥७२॥
दंसणमोहे णट्ठे घादित्तिदए चरित्तमोहम्मि ।
सम्मत्तणाणदंसणवीरियचरियाइ होंति खइयाइं ॥७३॥
जादे अणंतणाणे णट्ठे [7]चदुमट्ठिदिम्मि णाणम्मि ।
णवविहपदत्थसारा दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थं ॥७४॥
अण्णेहिं अणंतेहिं गुणेहिं जुत्तो विसुद्धचारित्तो ।
भवभयभंजणदक्खो महवीरो अत्थकत्तारो ॥७५॥

---

1 A सरिस्सो; 2 AB पंडुवण्णा; 3 S रुद्द; 4 AB सुहोदिए; 5 S अणते; 7 परिपुण्णो(?);
8 छदुमट्ठिदिम्मि(?);

श्री-पूज्यपाद-कृत—

वैद्य-सार

(अनुवादक—पण्डित सत्यन्धर जैन, आयुर्वेदाचार्य्य, काव्यतीर्थ)

(क्रमागत)

७३——स्फोटादौ त्रिलोक-चूडामणिरसः

पारदं टंकणं तुत्थं विषं लांगुलिकं तथा।
पुत्रजीवस्य मज्जानि गंधकं कर्षमात्रया ॥१॥
देवदाल्या रसैर्मर्द्यः त्रिशूलीरसमर्दित।
भाव्योऽन्यान्यदिने एव वटबीजप्रमाणकः।
जंबीररसतो ग्राह्यः पानलेपननस्यके ॥३॥
अञ्जने सर्वकार्ये वा कालस्फोटमहाविषं।
कक्षग्रंथि गलग्रंथि कटिग्रंथि-महारसं ॥४॥
स्फोटानां तु शतं रोगज्वरज्वालाशताकुलं।
ब्रह्मराक्षस-भूतादि-शाकिनी-डाकिनी-गण ॥५॥
कालब्रजमहादेवीमदमातंगकेशरि—
वृषभादिजिनं स्थाप्य ?) श्रीदेवीश्वरसूरिणं ॥६॥
कथितोऽयं त्रिलोकस्य चूडामणिमहारसः।
पूज्यपादेन कृतिना सर्वमृत्युविनाशनः ॥७॥
पार्श्वनाथस्य स्तोत्रेण स्तंभं कृत्वा तु तत्क्षणात्।

टीका—शुद्ध पारा, सुहागे का फूला, तुत्थ भस्म, शुद्ध विषनाग, शुद्ध लांगली (कलिहारी विष), पुत्रजीवक की मज्जा तथा शुद्ध गन्धक ये सब एक एक तोला लेकर सब को एकत्रित कर देवदाली (?) के रस से तथा त्रिशूली (शिवलिंगी) के रस, विष्णुकांता के रस, नागदन्ती के रस तथा धतूरे के रस से और नागकेशर के काढ़े से अलग अलग एक एक दिन भावना देवे और बट के बीज के समान गोली बांधे तथा जंबीरी नींबू के रस से पान करने में, नस्य लेने में तथा लेप करने और अञ्जन एवं और भी अनेक कर्मों में प्रयोग करना चाहिए। महा विषैला कालस्फोट तथा कांख की ग्रन्थि, गले की ग्रन्थि, कमर की

ग्रन्थि और अनेक प्रकार के व्रणों पर लेप करने से लाभ होता है। इस रस को योग्य अनुपान के द्वारा खाने से महा भयानक ज्वर में भी लाभ होता है। इस रस का सेवन ब्रह्मराक्षस, भूत, डाकिनी, शाकिनी वगैरह के स्वामी श्रीजिनेन्द्र का स्थापन कर पूजन करके तथा श्रीपार्श्वनाथ स्वामी का स्मरण कर इस रस के सेवन करने से उसी समय सम्पूर्ण रोग शांत हो जाते हैं। यह पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

७४—रक्तपित्तादौ चन्द्रकलाधररस:

रसकं गंधकं ताम्रं काशीसं शीसमेव च।
वंगंशिलाजतुयष्टिचैलालामज्जकं समं ॥१॥
नालिकेरं च कूष्माडं रंभाजेक्षुरसेन च।
पंचवल्कलक्वाथेन द्वात्रिंशत्भावनां ददेत् ॥२॥
नालिकेररसेनैव दद्याद्वल्लं सशर्करं।
पथ्यं च लाजसंसिद्धं शमयेत्तृड्गदान् ज्वरान ॥३॥
रक्तपित्ताम्लपित्तं च सोमं पाण्डुं च कामलां।
पूज्यपादेन कथितः रस-श्चन्द्र कलाधरः ॥४॥

टीका—शुद्ध खपरिया, शुद्ध गंधक, तामे की भस्म, काशीस की भस्म, शीसे की भस्म, वंग की भस्म, शुद्ध शिलाजीत, मुलहटी, छोटी इलायची, लजनू के बीज, ये सब औषधियां बराबर बराबर लेवे और इन सब को एकत्रित करके नारियल, कूष्मांड (पेठे), केले के तथा गन्ने के जल से पञ्च वल्कल वृक्ष (बड़, ऊमर, पीपल, पाकर और कठऊमर) के काढ़े से सब मिला कर ३२ भावना देवे और सुखा कर रख लेवे। यह रस नारियल के पानी के साथ ३ रत्ती चीनी मिला कर देने से पिपासा आदि ज्वर बीमारियों को, रक्तपित्त, अम्लपित्त, सोमरोग, और पीलिया आदि गरमी के रोगों को शान्त करता है यहां पर धान की खील का पथ्य देना चाहिये।

७५—विषमज्वरे चन्द्रकांतरस:

कर्षं शुद्धरसत्वस्य द्विमासे चाम्लविद्रुते।
निक्षिपेन्मर्दयेत्खल्वे षण्णिष्कं शुद्धगंधकं ॥१॥
तुत्थांकोलकुणीबीजं शिलातालं चतुश्चतुः।
तत्समं मृतलौहस्य निष्कौ द्वौ टंकणस्य च ॥२॥

तत्समं कुटकोर्नालं वराटांजनविंशति।
निष्कत्रयं सितं योज्यं सर्वं चोक्तमनुक्रमात् ॥३॥
शुभलग्ने शुभदिने खल्वमध्ये विमर्दयेत्।
चांगेरीभिश्च यामांस्त्रीन् जंबीराम्लैः दिनद्वयम् ॥४॥
पुटं हस्तप्रमाणं तु वसुसंज्ञे तुषाग्निना।
जंबीरैश्च द्रवैरेव पिष्ट्वा-पिष्ट्वा पचेत्पुटे ॥५॥
ततो वनोत्पलैरेव देयं गजपुटं महत्।
आदाय श्लक्ष्णचूर्णं तु चूर्णांशं शुद्धगंधकं ॥६॥
तदर्धमरिचं ग्राह्यं तदर्धा पिप्पली मता।
तदर्धं नागरो ग्राह्यः एकीकृत्य त्रिमासकं ॥७॥
लेहयेन्माक्षिकैः सार्धं नागवल्लीदलस्थितं।
पथ्योऽस्ति याममात्रं तु चाभुक्ति विषमज्वरे ॥८॥
चन्द्रकांतरसो नाम रसश्चन्द्रप्रभाकरः।
क्षयव्याधिविनाशश्च सर्वज्वरकुठांतकः ॥९॥
एकमासप्रयोगेण देहचन्द्रप्रभाकरः।
कथितः व्याधिविध्वंसः पूज्यपादेन निर्मितः ॥१०॥

टीका—१ तोला शुद्ध पारा, दो मास तक खटाई में मर्दन करके निकाल लेवे, फिर खल में डाल कर १॥ तोला शुद्ध गन्धक तथा तूतिया की भस्म, अकोले के बीज, कुणी के बीज, शिलाजीत, कांतलोह की भस्म ये सब एक एक तोला लेकर ६ मासे सुहागे का फूला तथा कुटकी, और शुद्ध विषनाग लेवे, और कौड़ी की भस्म, कृष्णांजन शुद्ध दोनों मिला कर २० तोला लेवे तथा तीन तोला मिसरी लेवे, इस प्रकार ऊपर कहे हुये परिमाण से सब औषधियों को लेकर शुभ मुहूर्त में, शुद्ध नक्षत्र में खल में डाल कर चांगेरी के रस से ३ पहर जंबीरी नीबू के रस से २ दिन मर्दन करे और ८ हाथ प्रमाण गहरे गड्ढे में तुषा की अग्नि से आंच देवे। इसी प्रकार जंबीरी नीबू के रस में घोंट कर आठ पुट देवे तथा एक महागज पुट देवे। इस प्रकार जब भस्म हो जाय तब वह भस्म तथा उसके बराबर शुद्ध गन्धक लेवे, एवं गंधक से आधी काली मिर्च का चूर्ण और काली मिर्च के चूर्ण से आधा पीपल का चूर्ण तथा पीपल से आधा सोंठ का चूर्ण लेकर सब को एकत्रित करके तीन तीन मासा पान का रस तथा शहद के साथ सेवन करे। विषमज्वर में भोजन नहीं करना यही पथ्य है। यह चन्द्रकांत नाम का रस चन्द्रमा के समान कांति को देनेवाला तथा क्षय रूप व्याधि को नाश करनेवाला तथा

सम्पूर्ण ज्वरों को नाश करनेवाला एक माह तक सेवन करने से शरीर को कांति को कर्पूर के समान करनेवाला और अनेक व्याधि को नाश करनेवाला है। यह चन्द्रकांतरस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

७६—मूत्रकृच्छ्रादौ बंगेश्वररसः

रसवंगं सममादाय (?) द्वयोः कृत्वा च मेलनं।
कुमारीरससंयुक्तं दिनमेकं च मर्दयेत् ॥ १ ॥
त्रिफलाकषाय-संयुक्तं त्रिदिनं मर्दयेत्तथा।
बालुकायंत्रयोगेन क्रमवृद्धेन वह्निना ॥ २ ॥
मृदुमध्यदीप्तज्वालेन पर्पटी-यंत्रपाचिता।
अश्वगंधामृताविश्वमोचारसशतावरी ॥ ३ ॥
गोक्षुरककर्कटाख्यो च वाराही कंदमागधी।
त्रिफला कर्कटीचैव यष्टीचमधुका समा ॥ ४ ॥
समांशं सितया मिश्रं भुंजीत निष्कमात्रकम्।
रसो बंगेश्वरो नाम तवक्षीरेण सह लिहेत् ॥ ५ ॥
प्रातःकाले च पीयूषलवणाम्ले च वर्जयेत्।
मूत्रकृच्छ्रं च बहुमूत्रं रक्तशुक्रप्रमेहकं ॥ ६ ॥
मधुप्रमेह-दौर्बल्ये नष्टलिंगं तथैव च।
सर्वप्रमेहशांत्यर्थं बंगेश्वररसः स्मृतः ॥ ७ ॥
अन्नं तु पंचरात्रेण दशरात्रेण दुग्धकम्।
दधि विंशतिरात्रेण घृतं मासेन जीर्यति ॥ ८ ॥
एतद्वंगेश्वरो नाम सर्वयोगेषु चोत्तमः।
सर्व-रोगनिकृत्यर्थं पूज्यपादेन भाषितः ॥ ९ ॥

टीका—शुद्ध पारा तथा वंग दोनों को बराबर मिला कर घीकुवार के रस में बराबर एक दिन तथा त्रिफला के काढ़े में ३ दिन तक मर्दन करे तब सुखा और शीशी में भर कर बालुकायंत्र से क्रमपूर्वक मृदु, मध्यम, तीव्र आंच देवे। जब बालुका यंत्र की शीशी में पर्पटी के समान बन जाय तब निकाल कर असगंध शतावर, गुर्च, सोंठ सेमल का कंद गोखुरू, बांझ-ककोड़ा, बाराही कंद, पीपल, त्रिफला, कौंच के बीज तथा मुलहठी इन सब का चूर्ण बना कर इसके समान मिश्री मिलाकर तवाखीर के साथ सेवन करे तो इससे नीचे लिखे रोग शांत होवें। इसे प्रातः काल खाना चाहिए। किन्तु

नमक और आम न खाये। इसके सेवन से मूत्रकृच्छ्र, तथा बहुमूत्र, रक्त प्रमेह, शुक्रप्रमेह, मधुप्रमेह, दुर्बलता एवं इन्द्रिय की कमजोरी शांत हो जाती है। सब प्रकार के प्रमेहों को शांत करने के लिये यह वंगेश्वर रस उत्तम है। इसके सेवन करने से पांच दिन में अन्न, दश दिन में दूध, बीस दिन में दही, तथा एक माह में घी हजम होने लगता है। यह बङ्गेश्वर नाम का रस सब योगों में उत्तम योग है। यह पूज्यपाद स्वामी ने सब रोगों को दूर करने के लिये कहा है। इसकी मात्रा एक निष्क प्रमाण है।

७७—विबन्धे वज्रभेदीरसः

चित्रकं त्रिवृता ग्राह्या, त्रिफला च कटुत्रयम्।
प्रत्येकं सूक्ष्मंचूर्णं तु द्विगुणं च स्नुहीपयः॥ १॥
पंचगुंजमिदं खादेद्वज्रभेदिरसोह्ययं।
विबंधं नाशयत्याशु पूज्यपादेन भाषितः॥ २॥

टीका—चित्रक, निशोथ, त्रिफला, सोंठ, मिर्च और पीपल यह प्रत्येक चीज समान भाग लेकर कूट कपड़छन कर के एकत्रित करे फिर इसमें दूना थूहर का दूध मिलाकर घोंटे, और सुखा कर तैयार कर रख ले। इसकी पांच रत्ती की मात्रा है। अवस्था के अनुसार सेवन करे तो बराबर दस्त होवे। कब्ज को दूर करनेवाला यह रस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

७८—विबंधे इच्छाभेदिरसः

सूतं गंधं तथा व्योषं टंकणं नागराभये।
जयपालबीजसंयुक्तं इच्छाभेदी रसः स्मृतः॥ १॥
चतुर्गुंजाप्रमाणेन विरेकः कथ्यते बुधैः।
शीघ्रं विरेचयत्याशु पूज्यपादेन भाषितः॥ २॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, सोंठ, मिर्च, पीपल, भुना हुआ चौकियासुहागा, सोंठ, बड़ी हर्र का छिलका, तथा जमालगोटा के शुद्धबीज इन सब को समभाग एकत्रित करके चार चार रत्ती के प्रमाण से सेवन करे तो बराबर शीघ्र ही दस्त हो। ऐसा पूज्यपाद ने कहा है।

७९—ज्वरादौ ज्वर-कपाटकरस:

पारदं टंकणं चैव सैंधवं त्रिफला युतं।
त्रिकटु च समं सर्वं जयपालं सर्वतुल्यकं (?)॥ १ ॥
चतुर्गुंजमिदं खादेत् रसोऽयं ज्वरकंटकः।
सर्वज्वरविनाशोऽयं पूज्यपादेन भाषितः॥ २ ॥

टीका—शुद्ध पारा, सुहागे का फूला, सेंधा नमक तथा त्रिफला त्रिकटु ये सब समान भाग लेकर कूट कपड़छन करे तथा सब के बराबर जमालगोटा लेकर पीस कर रख लेवे। इसको चार चार रत्ती के प्रमाण से अनुपान-विशेष के द्वारा सेवन करने से सब प्रकार का ज्वर शाँत होता है, यह पूज्यपाद स्वामी की उक्ति है।

८०—शीतज्वरे शीत-कपाटकरस:

पारदं टंकणं तालक्रमाद्द्विगुणसंयुतं।
कारवेल्ल्याः द्रवैर्मर्द्य ताम्रपात्रे विलेपयेत्॥ १ ॥
दिनैकं बालुकायंत्रे पाचयेत्स्वांगशीतलं।
चतुर्गुंजमिदं खादेत् पर्णखंडेन योजयेत्॥ २ ॥
दध्योदनमिदं पथ्यं रसोऽयं शीत-कंटकः।
शीघ्रं शीतज्वरं हंति पूज्यपादेन भाषितः॥ ३ ॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग सुहागा २ भाग, एवं शुद्ध हरताल ४ भाग (इस क्रम से एक से दूसरा दूना २ लेकर) सब को एकत्रित कर करेले के फल के रस में मर्दन कर के शुद्ध तामे के पत्र पर लेपन करे तथा उसको ताम्रपत्र सहित बालुका-यन्त्र में पकावे। जब स्वांग शीतल हो जाय तब उस को निकाल और घोंट कर रख लेवे तथा चार रत्ती के प्रमाण से पान के रस के साथ सेवन करे तो शीतज्वर दूर होवे। इसके ऊपर दही-भातका पथ्य है। पूज्यपाद स्वामी ने इसे शीतज्वर को नाश करनेवाला बतलाया है।

८१—शीतज्वरे शीतकुठाररस:

पारदं रसकं तालं समं निर्गुंडिकाद्रवैः।
मर्दयेत्ताम्रपत्रेण लेपयेद्वैद्यपुंगवः॥ १ ॥
बालुकायंत्रमध्यस्थं दिनैकं पाचयेत्तथा।
तद्भस्म च समं योज्यं यत्नाद्भस्म च टंकणं॥ २ ॥

कारवेल्याः द्रवैस्सर्वं वटी गुंजाप्रमाणिका।
नागवल्याः द्रवैर्देया रसः शीतकुठारकः ॥ ३ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध खपरिया हरताल, तबकिया ये तीनों भाग बराबर लेकर नेगड़ की पत्ती के रस में मर्दन करके तथा शुद्ध ताम्र पत्र पर लेप करे और उसको बालुकायंत्र में १ दिन भर पकावे तथा जब पक जाय तब उसको ठंढा होने पर निकाल लेवे। उसके बराबर चौकिया सुहागे का फूला लेकर दोनों को करेले के रस के साथ मर्दन कर के एक एक रत्ती प्रमाण गोली बना लेवे और पान के रस के साथ देवें तो शीतज्वर शांत होता है।

८२—प्रदरादौ पंचबाणरसः

मृतसूताभ्रहेमं च विधाय पर्पटी तथा।
अरण्यकदलीकंदमश्वगंधाशतावरी ॥१॥
त्रिकंटकामृता विश्ववानरीबीजयष्टिका।
धात्री च शाल्मली मोरश्च सु सोरण मर्दयेत ॥२॥
वटी गुंजाप्रमाणेन सितात्तीरं पिबेदनु।
पथ्यं च मधुराहारं पंचबाणरसोऽह्वयं ॥३॥
योगोऽयं सर्वरोगघ्नो विशेषं प्रदरं तथा।
प्रमेहं सेतुवज्ज्ञेयो पूज्यपादेन भाषितः ॥४॥

टीका—पारे की भस्म, अभ्रक भस्म एवं सोने की भस्म इन तीनों को बराबर लेकर एकत्रित कर घोंट कर पपड़ी बनावे फिर जंगली केले के कन्द के रस में, तथा असगंध, शतावरी, गोखरू गुर्च, सोंठ, कौंच के बीज, मुलहठी, आंवला, सेमल तथा गन्ना, इन सब के रस में एक एक दिन अलग अलग मर्दन करे एवं एक एक रत्ती के बराबर गोलियां बनावे। रोग की अवस्था को देख कर सर्व रोगों में प्रयोग करे और ऊपर से दूध, मिश्री पिलावे तो इससे सर्व प्रकार के धातु-सम्बन्धी रोग अच्छे होते हैं। तथा खास कर प्रदर प्रमेह शांत होते हैं। पथ्य मीठा भोजन करे—ऐसा स्वामी जी ने कहा है।

८३—मन्दाग्नौ कालाग्निरसः

शुद्धं सूतं विषं गंधमजमोदं पलत्रयम्।
सज्जीक्षारयवक्षारौ वह्निसैंधवजीरकम् ॥ १ ॥

सौवर्चलं विडंगानि टंकणं च कटुत्रयम।
विषमुष्टिं सर्वतुल्यं जंबीररसमर्दितम् ॥ २ ॥
मरिचप्रमाणवटिकां चाग्नि मान्द्यप्रशांतये।
अशीतिवातजान् रोगान् गुल्मं च ग्रहणीं जयेत् ॥ ३ ॥
रसः कालाग्निरुद्रोऽयं पूज्यपादेन निर्मितः।

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग, शुद्ध आंवलासार गंधक ये एक एक पल तथा अजमोदा ३ पल, सज्जीखार १ पल, जवाखार १ पल, चित्रक १ पल, सेंधा नमक १ पल, सफेद जीरा १ पल, काला नमक १ पल, बायविडङ्ग १ पल, भुना चौकिया सुहागा १ पल, सोंठ मिर्च, पीपल ये तीनों १-१ पल तथा शुद्ध कुचला सब के बराबर ले, कूट एवं कपड़छन कर जम्बीरी नीबू के रस में मर्दन कर के काली मिर्च के बराबर गोली बनावे। यह गोली अनुपान-विशेष से अग्निमांद्य की शान्ति के लिये लाभदायक है। यह अस्सी प्रकार के वायु के रोग सर्व प्रकार के गुल्म रोग तथाग्रहणी रोग इन सब रोगों के नाश करने के लिये हितकारी है। यह कालाग्नि रुद्ररस श्री पूज्यपाद स्वामीजी ने कहा है।

भावार्थ—आचार्य जी ने इस रसका अनुपान तथा मात्रा नहीं बतलाई है। इस लिये वैद्य लोग रोगी का तथा रोग का बलाबल विचार कर मात्रा तथा अनुपान की कल्पना स्वयं करें।

८४—अजीर्णे अजीर्णकंटकरसः

शुद्धं सूतं विषं गंधं समं सर्वं विचूर्णयेत्।
मरिचं सर्वसाम्यांशं कंटकारीफलद्रवैः ॥ १ ॥
मर्दयेत् भावयेत्सर्वं चैकविंशतिवारकं।
वटी गुंजात्रयं खादेत् सर्वाजीर्णं च नाशयेत् ॥ २ ॥
अजीर्ण-कंटकाख्योऽयं रसो हंति विषूचिकाः।
अग्निमांद्यविषघ्नोऽयं पूज्यपादेन भाषितः ॥ ३ ॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग, शुद्ध गंधक ये तीनों बराबर बराबर लेकर सब के बराबर काली मिर्च सब को कूट और कपड़छन करके छोटी कटहली के फलों के रस की इक्कीस भावना देवे तथा तीन रत्ती की प्रमाण गोलियां बांधे इन गोलियों को अनुपान-विशेष से सेवन करावे तो सब प्रकार का अजीर्ण तथा सब प्रकार की विषूचिका शांत होती है तथा यह अजीर्णकण्टक रस अग्निमांद्य-रूपी विष को नाश करनेवाला श्री-पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. II.] December, 1936. [No. III.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah**.

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH. BIHAR. INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4, **Foreign Rs. 4-8,** **Single Copy Rs. 1-4**

Om.

THE

JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. II. No. III	ARRAH (INDIA)	Decr., 1936.

VENUR & ITS GOMMATA COLOSSUS.

(By M. Govind Pai.)

Continued from page 60.

INSCRIPTIONS ON THE COLOSSUS.

(A) On the proper right side.

There are two inscriptions engraved on the slab set up behind the colossus, one on each side of it. That on the proper right of the colossus is in Saṁskṛit verse, having been composed in the *Anuṣṭubha* metre so common in Saṁskṛit poetry. It contains six verses, which are engraved in Kanarese characters. This inscription is badly disfigured by a crack running across it, which has injured one or more letters in almost every line of it. As it stands there, it is in sixteen unequal lines, which however may be set down as follows in the right versicular form :—

"श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥१॥

शाकवर्षेष्वतीतेषु विषयाक्षिशरेन्दुषु ।
वर्त्तमाने शोभकृति वत्सरेफाल्गुनाख्यके ॥२॥
मासेऽथ शुक्लपक्षेतु दशम्यां गुरुपुष्यके ।
सुलग्ने मिथुने देशीगणाम्बरदिनेशितुः ॥३॥
बेल्गुलाख्य पुरीपट्ट क्षीराम्बुधिनिशापतेः ।
चारुकीर्त्तिमुनेर्दिव्य-वाक्यादेनूरपत्तने ॥४॥
श्रीरायकुवरस्याथ जामाता तत्सहोदरी ।
पाण्ड्यक्कारव्य-महादेव्याः सुपुत्रः पाण्ड्यभूपतेः ॥५॥
अनुजस्तिम्मराजाख्यश्चामुण्डान्वय भूषकः ।
अस्थापयत् प्रतिष्ठाप्य भुजबल्याख्यकं जिनम् ॥६॥
॥ शुभमस्तु ॥

TRANSLATION.

May it be victorious—the holy doctrine of Jina, the lord of the three worlds, the unerring feature of which is the extremely profound *Syādvāda*.[1] (i.e, the assertion of possibilities). After the Śaka years (measured by) the sense-objects (=5), the eyes (=2), the arrows (of Cupid =5), and the moon (=1), had elapsed,[2] while the Cyclic year (called) *Śōbhakṛt* was current, in the (lunar) month of *Phālguna*, on the brilliant lunar day of *Daśamī* (*i.e.*, the 10th lunar day) of the bright fortnight, (when the moon was in) the constellation of *Pushyā* (which occured on) Thursday and while the auspicious sign of *Mithuna* (*i e.*, the Gemini) was in the acsendant, at the godlike behest of the sage *Chārukīrti*, who was like the sun on the firmanent of the *Deśī-gaṇa* and like the moon to the milky ocean of the pontificate of the town named *Belgula* (i e. *Śravaṇabelgoḷa*).

1. The word '*Syādvāda*' has been quite incorrectly translated as 'Scepticism' by Dr Hultzsch (Epigraphia Indica, VII p 113) I have rejected it and have adopted instead this rendering given in Mr. P C. Nahar's "Epitome of Jainism" (p. 17).

2. The numerals forming the number 1525 are here expressed by means of representative objects (such as sense-objects, eyes etc.) This is called भूतसंज्ञा गणन in which the numerals so expressed are to be set down in the reverse order before obtaining the correct number indicated thereby.

King Timmarāja (who was) the ornament of the family of Chāmuṇḍa, (and was) the son-in-law of the glorious (king) Rāyakuvara, (and was) the son of his (Rāyakuvara's) sister, the great queen named Pāṇḍyaka, (and was) the younger brother of prince Pāṇḍya, consecreted and set up (this statue of) Jina called Bhujabali in the town of Ēṇūr (*i.e.* Vēṇūr).

Be it auspicious (unto all) !

NOTES.

(1) The opening verse of this inscription is very common in Jain epigraphs and is usually placed at their commencement. But this verse is not found in the inscription on the colossus at Kārkala.

(2) **गुरुपुष्यके.**—The moon's occupation of the eighth asterism called Pushyā, when it occurs on a Thursday, is termed an **अमृतसिद्धियोग** and is considered very auspicious.

(3) *Dēsi-gaṇa*—One of the sub-divisions of the *Nandi-Saṁgha* of the Digambara Jainas. (*Vide* 'Jaina Antiquary' I pp 63—66).

(4) **बेलुगुलाख्य** etc.—There is a pontificate of the Digambara Jaina *gurus* belonging to the *Dēsī gaṇa* of the *Nandi Saṁgha* at Śravaṇa-belgola, and *Chārukīrti* is the common title by which almost all the occupants of that seat are known.

(5) **एनूर-पट्टने.**—From this it is obvious that the original name of what is now called Veṇuru (**वेणूरु**), was, 'Eṇūru' (**एनूरु**)[1]. We have already seen that this name also occurs as 'Yeṇūru, (**एनूरु**) in Maduraka's inscription beside the *Tīrthakara Basadi.*

(6) **सटसहोदरी......सुपुत्र**—From this it is quite evident that prince Timmarāja was not only the son-in law (**जामाता**) of his predecessor Rāvakuvara (*alias* Rāyakumāra), but was also the son of his sister Pāṇḍyaka Devī. Here it must be said that in the South Kanara district all the Jaina laymen follow what is called *Aḷiya Santāna* law, *i.e.*, matriarchal succession (or nepotic succession) according

1. Eṇūra (**एनूर**) is the genitive singular (Kanarese) of the name Eṇūru (**एहनूरु**) and 'Eṇūra pattane' (**एनूर पट्टने**) means 'in the town of Eṇūr.'

to which the inheritance runs through nephews and nieces (*i.e.*, the offspring of one's sister), and this is the local law, which governs the succession among all the Tuḷu non-Brahmins in the district. Among the Jains it is only their priests, who are called Indras (इन्द्र), and among the non-Jainas it is only the Brahmins that are not subject to this law, which by the way is peculiar only to this district and Malabar on the West Coast. It is therefore as Rāyakuvara's sister's son that Timmarāja succeeded him on the throne of Vēṇūr.

(7) चामुण्डराजान्वयभूषक :—This will be explained later on.

(8) भुजबल्याख्यकं जिनम् :—Bhujabali or Bāhubali was the son of the first Tīrthaṁkara Riśabhanāṭha by his second wife Sunandā Devī It is this Bhujabali as he stood in प्रतिमायोग that is represented in these stone colossi, which are termed *Gommaṭa* or *Gummaṭa*.[1]

(B) On the proper left side.

The other inscription on the proper left side of the colossus consists of two verses in Kanarese language and is engraved in the same script. Each of these verses is a *Samavritta*, *i e*, a verse having an equal number of syllables in each of its four feet. The first which has 20 syllables in each foot, is called an "*Utpalamālā*" which, though it belongs to the Saṁskṛit metrical system, is scarcely found in Saṁskṛit poetry, whereas it is of common occurence in Kanarese poetry. The second, however, is quite rare even in Kanarese poetry: in fact so far as I have seen it occurs nowhere else. It has 23 syllables in each of its four feet, and as such it belongs to the 23rd "छन्दस्" of Saṁskṛit prosody, called Vikṛiti (विकृति) ; and but for a single additional भ-गण (*i.e.*, dactyl) in each foot, it is quite similar in structure and scansion to the *Utpalamālā*. Its name is not known, and I very much doubt, if this *Vritta* has been mentioned at all in any work on Saṁskṛit or Kanarese prosody.

This inscription is incised in 13 unequal lines as it stands *in situ*, which however may be thus set down in their proper

1. As to why the Bāhubali colossi are called Gommaṭa or Gummaṭa, vide my article on that subject in the "Indian Historical Quarterly" (IV 2, P. 270 ff.)

verse forms :—

श्री शकवर्षमं गणिसे सासिरदिं मिगुवय्दु लेक्कमु—
ळ्ळा शतदिंप्पत्तारनेय शोभकृद्वत्सर फाल्गुनाख्य मा — ।
सासित शुक्लपक्ष दशमी गुरुपुष्यद युग्मलग्नदोळ्
देशिगणाग्रगण्य गुरु पण्डितदेवन दिव्य वाक्यदिं ॥१॥
रायकुमारनोप्पुवळियं सति पाण्ड्यकदेविय पुत्रनत्त सो —
मायतवंशधुर्य्यनुरुसाहसि पाण्ड्यनृपानुजनुद्ध दान रा— ।
धेयनुदार पुञ्जळिके पट्टणनाळ्व नृपाग्रणि तिम्म भूभुजं
श्रीयुतनं प्रतिष्ठिसिदनादिजिनात्मजनं जिन गुम्मटेशनं ॥२॥

TRANSLATION.

(1) In the (cyclic) year (called) *Sōbhakrit* (which was) the glorious Śaka year, counted by 26 (years) after a hundred (years) numbered five (times) exceeding one thousand (years), [1] on the 10th lunar day (*i.e.*, *Daśamī*) of the bright fortnight occuring in the month of *Phālguna*, (when the moon was) in (the constellation of) *Pushyā* (that occured) on Thursday, and when the sign of the '*Couple*' (*i.e.* *Mithuna* or the *Gemini*) was in the ascendant, at the godlike direction of (his) preceptor (called) Panḍitadēva, who was the foremost of the Dēśī-gaṇa,

(2) King Timma, the worthy nephew of (king) Rāyakumāra, (and) the son of the virtuous Pāndyaka Devī, (and) the chief of the extensive Lunar race, (and) the brave brother of King Pāndya, (and who was) a very *Rādheyā* (*i.e.* Karṇa of the Mahābhārata) in making great gifts, (and) the foremost among kings, (and) who was ruling over the excellent kingdom of *Puñjaḷika*, consecrated here (this image of) the blessed Jina (called) *Gummaṭeśa* (who was) the son of the first Jina (*i.e.* Ṛiśabhanātha).

---

1. *i.e.*, $26+100\times5+1000=1526$th year of the Śaka era. Thus whereas according to the former inscription, the number of years expired in the Śaka era before the date of the installation was 1525, this inscription says that the said installation took place in the (current) 1526th year of the Śaka era, wherefore both mean the same thing and express the same year.

NOTES.

(1) **गुरु पण्डितदेव.**—This is perhaps the proper name of the prelate who was then in charge of the Śravaṇabelgola seat, and who in the inscription has been called as "*Chārukīrti*,"[1] which seems to be the common title applicable to all the occupants of that pontificate. An inscription (No 250) at Śravaṇabelgola dated Saturday the 28th of July 1634 A. C. mentions a Chārukīrti Paṇḍitadēva, and perhaps this was the preceptor of Timma Rāja.

(2) **सोमान्वयवंश** —Wherefore it appears that the Ajilas of Vēṇūr claimed to have belonged to the Lunar race.

THE DATE OF THE INSTALLATION.

As so clearly stated in these inscriptions this colossus was installed when 1525 years of the Śaka era had expired and the 1526th year was current; i e., in 1603-1604 A. C., in the cyclic year called *Śōbhakrit* on Thursday the 10th lunar day of the bright half of the month of *Phālguna*, on which the moon was in conjunction with the asterism of *Pushyā*. This exactly corresponds to Thursday 1st of March 1604 A. C.; and as the consecration is said to have been performed when *Mithuna lagna* was current (i e, the zodiac sign of *Mithuna* was in the ascendant), the auspicious time of the installation would be between 12-15 to 1 P.M., of that mid-day.

---

1 Though in olden days the Jaina Prelates of Śravaṇbelgola were known by their different names, of which "Chārukīrti," was one, later on they seem to have adopted this name 'Chārukīrti' as a common title so much so that the monastery at Śravaṇabelgola is known as "Chārukīrti Matha." The Jaina Maṭha at Mūḍabidrī (in South Kanara district) is also known by the same name, as the Jaina *guru* there has the same title.

The planetary positions at that moment are indicated in the following diagram :—

A SHORT HISTORY OF THE AJILA DYNASTY.

The name of the family that ruled at Vēṇūr is *Ajila*, and their original home seems to have been somewhere on the Ghāṭs in the province called the '*Ganga Nāḍu*' or the Ganga country, now included in the Mysore State. Nothing is known of the family before the time of Timmaṇṇa Ajila I, who seems to have ruled from about 1154 to 1180 A. C. Though a Jaina in creed he appears to have been a devoted worshipper of God Śiva, with whose grace he claims to have recovered a large portion of his ancestral kingdom, which had been conquered by the Hoysāla king Vishṇuvardhana (1111—1141 A.C.) His royal seal bore the legend " श्री महालिंगेश्वर : प्रसन्नः " At the time of his death there were only two nieces (i.e, daughters of his sister) in the family, of whom the elder Channamma was a childless widow and younger Madurakka, who had been married to a certain Chāmuṇḍa Rāya of the said *Ganga-Nāḍu*, was the mother of a minor son. When their right to the throne was disputed on the score that no woman should ascend the throne of Vēṇūr, nor even rule as a regent on behalf of her minor son, they went straight way to Banavāsī and laid their complaint before king Kāmadeva, ruling over the Hānungal country as a feudatory of the Chālukya king of Kalyāṇa.

As soon as those sisters left Vēṇūr, the local nobles elected a certain member of the prominent *Puñja* family of the *Baṇṭas*[1] and made him their king. He seems to have ruled from 1180 to 1186 and it is on that account that the principality is said to have been known as the kingdom of *Puñjolike.* The Kadamba king Kāmadeva came to their rescue, and when on their behalf he invaded Vēṇūr, the Puñja king fled away and committed suicide, whereupon, Kāmadeva made over the kingdom to the younger sister Madurakka Dēvi. Her son Rāyakumāra I, who had by that time attained majority, ascended the throne, and he seems to have ruled from 1186 to 1204 A. C.

Several kings as well as queens ruled after him, all of whom however followed the succession through their sisters' sons or daughters and when in 1550 A. C. his namesake Rāyakumāra II died, he was succeeded by his nephew and son-in-law Timma Rāja or Timmaṇṇa Ajila, who was the installer of the Gommaṭa colossus He seems to have been crowned in Śaka year 1472, Sādhāraṇa Saṁvatsara on Vaiśākha Śukla 5 (वैशाख शुक्ल पञ्चमी) *i e.*, 21st April 1550 A. C., and ruled from 1550 to 1610 A. C. Anxious to instal a Gommaṭa colossus in his capital at Vēṇūr just like that at Kārkaḷa, which was the capital of the Bhairarasa[2] kings of the Sāntāra dynasty, this king had it carved at a place called Kalyāṇī, some three miles from Vēṇūr, but when the image was ready for consecration, and was about to be conveyed to Vēṇūr, his contemporary of Kārkala kingdom called Dāvaṇi Immaḍi Bhairavarāya, in whose capital at Kārkaḷa, there was already a similar colossus installed by one of his ancestors Vīra Pāṇḍya in 1432 A. C., would not suffer a rival colossus to be installed at Vēṇur, which is but some twenty miles from Kārkaḷa, lest by the performance of a like great deed Timmaṇṇa Ajila should become an equal of Vīra Pāṇḍya

1. *Baṇṭa* (बण्ट) is the name by which a high class community of the Non-Brahmin Hindus of South Kanara district is called. Most of the landowners of the district belong to this community.

2. 'Bhairarasa' means Bhaira king (Arasa=king), and Bhaira is perhaps a variant of Beyara or Beyra, already noticed above,

and lest also the unique sanctity which Kārkala had acquired as a place of Jaina pilgrimage in virtue of the presence of that colossus, be eclipsed when another would be set up so close by. He thus declared war and marched against Vēṇūr with a view to stop the ceremony and destroy the image which had been then all but installed. The Vēṇūr king rightly apprehending danger to his image first took care to keep it safely buried beneath the sands of the Phalguni river, and then met the foe in battle. The battle brought victory to the Vēṇūr king, who routed the enemy beyond the bounds of his kingdom, and soon thereafter that king Timmaṇṇa Ajila consecrated that colossus in 1604 A. C.

He was succeeded by his niece Maduraka Dēvi, who seems to have ruled from 1610 to 1647 A. C. An inscription of hers has been already referred to. She appears to have performed the ceremony of circumfusion (मस्तकाभिषेक) to the colossus albeit the contemporary king of Kārkala threatened to invade her country in case she would not stop the ceremony, and even actually invaded Vēṇūr though without any effect.

After her a few kings as well as a queen called Padmala Dēvi seems to have ruled at Vēṇūr. The last prince who sat on that throne with any semblance of power was another Timmaṇṇa Ajila, in whose reign the principality passed under the yoke of Haider Ali of Mysore. (17[illegible]4 A. C.)

In the inscription on the proper right side of the colossus, we have seen that the installer king Timma Rāja calls himself "an ornament of the family of Chāmunda," and in that on the proper left side, he says he is "chief of the extensive Lunar race," whence, it is evident that the Ajila family originated from a Chāmundarāya who belonged to the lunar race. It is quite possible that this Chāmuṇḍarāya might be easily identified with his name-sake the great Chāmuṇḍarāyā, who was the general as well as minister of three Ganga kings of Talakāḍ and who installed the Śravaṇabelgoḷa Gommaṭa colossus in 981 A. C But that cannot be right, for Chāmuṇḍarāya of the Śravanbelgoḷa fame belonged, as he himself says in one of his inscriptions (Śravanabelgoḷa No. 281 inscr), to what is called ri " rahma-Kshatra-kula," wherefore his ancestors must have been goBinally Brahmins, who had eventually taken to the Kshatriya

profession of arms, as *e.g*, Drōṇa Āchārya, Kṛipā Āchārya, etc, did in pre-historic times; and consequently he could not claim descent from the Solar or Lunar race, for the simple reason that both of these races were *ab initio* of Kshatriya origin. The ancestor of Timma Rāja, therefore, must be some other Chāmuṇḍarāya who was of the Lunar race. Now one of the several *birudas* which the Ajila kings of Veṇūr had, was "Kadamba-vaṁśāmbudhi-chandra" *i.e.*, "the moon sprung from the sea of the Kadamba family," which indicates that the Ajilas belonged to the Kadamba dynasty, and therefore their progenitor Chāmuṇḍarāya must be sought for in that line of rulers. This is corroborated by the fact that after the death of Timmaṇṇa Ajila I in 1180 A. C, his helpless nieces Channamma and Madurakka[1] repaired directly to the court of the Kādamba king Kāmadēva at Banavāsī, and they must have gone thither with the assurance of a claim they had on his sympathy in that he was of the same family as theirs, and was thus a close cousin of their own, and we have seen that he readily responded to their need. Now among the later kings of Banavāsi, there was one called Chāmuṇḍarāya, who was *perhaps* a Kadamba king. A couple of his inscriptions are found in the Shikārpur Tāluk of Mysore State, one of which[2] is dated the 24th of December 1061 A. C., i.e., about a hundred years before the time of Timmaṇṇa Ajila I (1154–1180 A. C.), who by the way is the first Ajila king known to history. Might this Chāmuṇḍarāya be a near ancestor of Timmaṇṇa Ajila I?

It is also believed that, as the Ajilas are said to have migrated into the South Kanara district from the province called Ganga-Nāḍu above the Ghāṭs, they were descended from the Ganga kings of Talakāḍ, but it cannot be right for the simple reason that the Gangas, who claimed to belong to the Ikṣvāku family and were therefore of the Solar race, could never be the ancestors of the Ajilas, who claimed to have sprung from the Lunar race[3].

M. GOVIND PAI.

---

1. The Chāmuṇḍarāya of Ganga-Nāḍu to whom, as we have seen, this Madurakka was married could not be the progenitor of the Ajila family, because he was the husband of the niece of Timmanna Ajila I, and therefore could not be the ancestor of the latter. The progenitor of the family must be some near or remote ancestor of Timmaṇṇa Ajila I, who appears to be its earliest king known to history.

2. Epigraphia Carnatica VII : Shikaripur 11.

3. For the History of the Ajilas see the Kanarese work दक्षिण कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास by Mr. M. Ganpati Rao Aigal (Mangalore, 1923).

Studies in Jaina Gotras

BY

Professor A. N. Upadhye

At the end of this article we are appending a list of Gotras with their Pravaras, Sūtras and Śākhās. This Devanāgarī list is prepared from the list published in the *Jaina Gazette* vol. xxiii, 8, with the supplement (*Ibid.*, 9, p. 259) and a Ms. from my own Collection (for my remarks thereon see *Jaina Gazette* vol. xxv 4-6). I had pointed out in my remarks that there are apparent errors in both the texts, and they could be corrected in the light of the literary sources which were discussed in my above article. The printed list in the *Jaina Gazette* and my Ms. are not in complete agreement. Only seventy-one Gotras with their Pravaras etc. are common to both; the last three of the printed list are wanting in the Ms. and the last thirteen from the Ms. are not found in the printed list.

As to the sources of some of the Gotra-names, they are found in the lists of names of Yakṣas, of fathers of Tīrthaṅkaras, of Kuladharas, of Cakravartins, of Baladevas of Vāsudevas and of Rudras. All the names of Pravaras are drawn from Jinasena's Sahasranāma, a part of his Mahāpurāṇa, from the First, Second and Sthaviṣṭha Śatas. The list of Sūtras is made up by the names of Gaṇadharas of Vṛṣabha, Gaṇadhara-mukhyas of twenty-four Tīrthaṅkaras, the names of Gaṇadharas of Mahāvīra, Daśapūrva-dhārins and Ācārāṅgadhārins. At times only necessary names are selected. The names of Śākhās are drawn from the varieties of Śrutajñāna, the names of Aṅgas, Prakīrṇakas and Sūtras. Some of the Śākhā-names of additional Gotras are drawn from Leśyādhikāra of Gōmmaṭasāra (see my article in *Jaina Gazette*). From these remarks it is somewhat clear how our Gotra-list is compiled.

Gotras, according to above remarks, refer to names of personages from mythological lists. But the word Gotra has sufficiently

technical sense according to Jaina tradition. It has its place in the famons Karma Theory, and its occurs in the scriptures as one of the Eight Karmas. According to Gōmmaṭasāra (Karma-kāṇḍa 13) Gotra signifies the conduct of the soul coming down from generation to generation. There are distinctions of high and low gotras according as the standard of conduct is high or low. It is this Karma that determines the high or low family for the birth of soul. We are at a loss to know how to compromise the technical and the current sense. Or they are not mutually connected at all?

The word Gotra, according to Brahmanic tradition, has a very interesting history behind it. In Vedic times it had its literal meaning, *viz.*, an enclosure for cows. For their safety from wild animals and thieves the cows were put in an enclosure in the evening and again released in the morning. The cows owned by one family were penned in a particular Gotra which, therefore, gradually came to mean a family. A particular saint of the family came to be known as Gotra Ṛṣi In early days the number of Gotras was comparatively small in view of the Āryan migration into India in a few groups. Originally there were four Gotras, namely, Bhrgu, Aṅgirasa, Kāśyapa and Vāsiṣṭha, according to one tradition preserved in a verse of Mahābhārata, indicating thereby that only four stocks of Āryan families came to India, and these Ṛṣis are also the composers of Vedic hymns. But the number has increased, since then, like anything. In later literature Gotra is often treated as a surname. In classical Sanskrit and with the commentators, Gotra means a a male line of descendents as against Kula which represents the female line The Brahmanic tradition about Pravaras is not very popular. According to Śrauta-sūtras Pravara consists of those Ṛṣis who are the composers of hymns in Ṛgveda. The Pravaras are common to Brāhmaṇas and Kṣatriyas all over India, and they contain the names of many Rājarṣis who have composed Vedic hymns (see *Proceedings and Transactions* of the First Oriental *Conference* p. 15). The Śākhā is the school or the traditional *recension* in which a Veda is preserved or the traditional text

followed by a particular school as in Śākala-śākhā, Āśvalāyana and Bāṣkala-śākhā. Some people adhere to one or the other recension and accordingly they get the Śākhā-denomination. Further the Sūtra of a Śākhā consists of the aphorisms that deal with the several details relating to the domestic life (Gṛhya-sūtra) or the sacrifices (Śrauta-sūtra) performed by the followers of a particular school. For instance, Āśvalāyana Gṛhya and Śrauta Sūtras belong to Āśvalāyana Śākhā of the Ṛgveda.

The discrepancies of readings between the printed list and the Ms. decidedly suggest one fact that the list of Gotras, etc, has travelled over different provinces of different dialects, as it can be inferred from the various phonetic changes. This shows that the list might have been popular in different parts of South India. Moreover the learned Editor of *Jaina Gazette* notes that some of the Jaina families in the Tāmila country have these gotras But as to the universal currency and the antiquity of this gotra-list there is scope for grave doubts. If these gotras were attached with individual names, we expect to find these gotras along with the names of poets and other personages of South India in literary and epigraphic records. But from the available references we find that these gotras are not found with any of the names of early period, and moreover the gotras, etc., that are recorded there are altogether different.

Turning to the literary references we find that Ādi-Pampa (A.D. 941), the foremost poet of the Kannaḍa literature, who was a Jaina, says that he belonged to Vatsa-gotra; Pōnna (A.D. 950) the author of Śāntipurāṇa notes his gotra as Kauṇḍiṇya; similarly Nāgavarma (A.D. 990) also belonged to Kauṇḍinya-gotra; Bhāskara (A.D.1424) records his gotra as Viśvāmitra. In the case of these above authors we can make a concession as some of them were recent converts to Jainism from the Brahmanic fold; so it is imaginable that they might have retained their old gotras as a family heirloom. Now we shall note some other cases where the authors are definitely Jainas, and still they give their gotras as below. Most of these authors were house-holders, and

as such they are expected to give their gotras etc. Ācaṇṇa (A.D. 1195), the author of Vardhamāna-purāṇa was a Jaina, and he had Bhāradvāja as his gotra; Janna (A.D. 1209) the author of Ananta-purāna and other works belonged to Kāśyapa-gotra : he was a disciple of Rāmacandradeva, the pupil of Mādhavacandra; Mahābalakavi (A D. 1254), the pupil of Meghacandra, was of Bhāradvājagotra. So also Madhura (A. D. 1385), the author of Dharmanāthapurāṇa, belongs to Bhāradvājagotra. Dōḍḍaya (A. D. 1550), the pupil of Paṇḍita Muni, was of Ātreya-gotra Thus from these literary references we find that many Jaina authors from Karṇātaka from the 10th to the 16th century give their gotras such as Vatsa, Kauṇḍiṇya Kāśyapa, Bhāradvāja, Viśvāmitra and Ātreya; and none has given the gotras from our list (See Karṇāṭaka-Kavicarite Vols. I & II).

Turning to epigraphical records the same tale is repeated. Śravaṇa Belgoḷa Inscription (S.B.I.) No. 98 (19th Century A.D.) records the death of Devarāja, a descendent of Cāmuṇḍarāja; he has Kāṣyapa-gotra, Ahaṇīya-sūtra, Vṛṣabhapravara and Prathamānu-yoga śākhā. The tone of the inscription shows that he was a Jaina. Similarly inscription No 45 speaks of a devoted Jaina belonging to Kauṇḍiṇya-gotra. Besides these, there are references in some of the Inscriptions to Kauṇḍiṇya, Goila and Yavare Gotras (See S B.I., Manikachanda Digambara Jaina Granthamālā Edition, Nos. 40, 43, 45, 59, 90, 360; 347; 340, 344; and 118). Thus the epigraphic references too are not completely in favour of the genuineness and the antiquity of our list. Only once we have got a Vṛṣabha Pravara, but there the gotra is Kāśyapa and not Amitateja as in our list. But this reference comes from a very late period, *viz*, 19th century.

In the light of my above remarks one can conveniently question the antiquity of the present list. I earnestly request the Jaina scholars in the North and South to publish similar lists of gotras that might be current in their parts and also note how far these gotras affect the marriage relations.

	गोत्र	प्रवर	सूत्र	शाखा
1	अमिततेज	वृषभ	कुम्भ	पर्याय
2	सुकेतु (मीनकेतु V.L.)	शम्भव	दृढ़रथ	,,
3	हरिकेतु	शम्भू	शतधनु	पर्याय समास
4	सूर्यमित्र	आत्मभू	देवशर्म	,,
5	श्रीधर	स्वयंप्रभ	धनदेव	अक्षर
6	अबब (ध V.L.) मं.	प्रभु	नन्दन	,,
7	देवकीर्ति	विश्वभू	सोमदत्त	अक्षरसमास
8	मेघ (ख. V.L.) प्रभ	अपुनर्भव	सुरदत्त	,,
9	लोकपाल	विश्वात्मा	वायुशर्म	पद
10	पृथ्वीपाल	विश्वलोकेश	यशोबाहु	,,
11	प्रजा (ज्ञा V. L) पाल	विश्वतश्चक्षु	देव	पदसमास
12	यशपाल	अक्षर	मार्गदेव	,,
13	मेघरथ (ध. V. L.)	विश्वविद्	अग्नि	संघात
14	वायुरथ (ध. V. L)	अनश्वर	अग्निदेव	,,
15	घनरथ (ध V L.)	विश्वदृश्वा	अग्निगुप्त	संघातसमास
16	चक्रायुध	विभुर्धाता	चित्राग्नि	,,
17	रत्नायुध	विश्वेश	हलधर	प्रतिपत्तिक
18	श्रीषेण	विश्वलोचन	महीधर	,,
19	विजय or श्रीविजय	विश्वव्यापी	माहेन्द्र	प्रतिपत्तिक समास
20	प्रिय (विजय V. L.) मित्र	विश्वतोमुख	वासुदेव	,,
21	मणिमाली	जगज्जेष्ठ	वसुंधर	अनुयोग
22	अनन्त	विश्वमूर्त्ति	अचल	,,
23	भूवल्लभ	विश्वदृक्	मेरुधर	अनुयोगसमास
24	वज्रदंत (ड. V L)	विश्वभूतेश	मरुभूति	,,
25	पुण्डरीक	विश्वज्योति	सर्वयश	प्राभृतप्राभृत
26	अनंतवीर्य	अनीश्वर	सर्वयज्ञ	,,
27	अनंतविजय	अमेयात्मा	सर्वगुप्त	प्राभृतप्राभृत समास
28	भाग्नीवाहन	अनंतजित्	सर्वप्रिय	,,
29	शत्रुंजय	अचिंत्यात्मा	सर्वदेव	प्राभृत
30	अपराजित	भव्यबन्धु	सर्वविजय	,,
31	विमलवाहन	अबन्धन	वृषभसेन	प्राभृतसमास
32	मेघवाहन	परतर	सिंहसेन	,,
33	दशरथ	सुषम	चारुषेण	वस्तु
34	अवधा (था) म	सनातन	वज्रनाभि	,,

35	अरिदम	परमेष्ठी	चमर	वस्तुसमास
36	विद्युत्प्रभ	स्वयंज्योति	वज्रचमर	,,
37	ज्योतिःप्रभ	अजर	बलदत्त	पूर्व
38	भानुराज	ब्रह्मयोनि	विदर्भ	,,
39	अभयकुमार	अयोनिज	अनगार	पूर्वसमास
40	सुप्रतिष्ठ	धर्मचक्र	कुन्थु	"
41	हृरथ (ध्वजेतु V. L.)	दयाध्वज	धर्म	आचारांग
42	सूर्य (विध्वरेतु V.L)	प्रशांतारी	मंदर	,,
43	विंध्यशक्ति (V.L केश)	अनन्तात्मा	मेरु	सूत्रकृतांग
44	शत्रुघ्न	शुद्ध	अरिष्टसेन	,,
45	जितशत्रु	प्रबुद्ध	चक्रायुध	स्थानांग
46	हेमांगद	ब्रह्मवित्	जय	,,
47	विमलप्रभ	प्रबुद्धात्मा	कुम्भ	समवायांग
48	मघवा	सिद्धात्मा	विशाख	,,
49	वज्रायुध	सिद्धशासन	मल्लि	व्याख्याप्रज्ञप्ति
50	हरिचन्द्र	सिद्धान्तवित्	स्वयंप्रभ	,,
51	शुभचंद्र	सिद्धसाध्य	स्वयंभू	ज्ञातृकथांग
52	वैजयंत	सिद्ध	गौतम	,,
53	सहस्रबाहु	जगद्धित	भगिमज्ञ	उपासकाध्ययन
54	(सु) बाहु (गोत्र)	सहिष्णु	नन्दी	,,
55	महाबाहु	अनन्त	अपराजित	अन्तकृद्दशांग
56	स्वर्णबाहु	अच्युत	नंदिमित्र	,,
57	सुदर्शन	प्रभविष्णु	गोवर्धन	अनुत्तरौपपातिकदशांग
58	वायुवेग	अजर	इन्द्रभूति	,,
59	जयंधर	अजर्या	वायुभूति	प्रश्नव्याकरणांग
60	युगन्धर	भ्राजिष्णु	अग्निभूति	,,
61	विभीषण	अव्यय	सुधर्म	विपाकसूत्रांग
62	सत्यकीर्ति	विभावसु	मौर्य	,,
63	श्रुतकीर्ति	असंभूष्णु	मौंडि	दृष्टिवादांग
64	धनपति	स्वयंभूष्णु	पुत्र	,,
65	ललितांग	पुरातनः	मैत्रेय	प्रक्रमोपांग
66				,,
67	हरिवाहन	परमात्मा	अकंपन	सूत्रोपांग
68	चित्रांगद	परंज्योति	अचेलक or अनिल	,,
69	सिंहरथ	परमेश्वर	प्रभास	सूर्यप्रज्ञप्ति

70	अभिचंद्र	श्रीपति	विशाख	सूर्यप्रज्ञप्ति
71	ज्वलनज(ब)ति	अरज	प्रौष्ठिल	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति
72	पुरुषसिंह	विरज	क्षत्रिय	,,
73	भक्तिप्रभ	शुचि	जय	द्वीपसागर
74	वीतशोक	ईशान	नागार्य	,,

In the Ms. the last three Gotras, etc., are not found, but besides the above the Ms. gives thirteen more Gotras with their Pravaras etc., which are given below.

गोत्र	प्रवर	सूत्र	शाखा
सुषेण	गरिष्ठगी	यशोभद्र	संक्रम
भानुदत्त	विश्वभृत्	यशोबाहु	,,
धनपति	विश्वसृट्	लोहाचार्य	कर्मलेश्या
सुरेन्द्रदत्त	विश्वेट्	जयभद्र	,,
सुरकीर्ति	विश्वभुक्	जिनचन्धर	द्रव्यलेश्या
सर्वदेव	विश्वनायक	धर्मदत्त	,,
पद्मास्य	विश्वाशी	,,	परिणामलेश्या
विनुतकीर्ति	विश्वजित्	अर्हद्दत्त	,,
क्षेमंकर	विजितांतक	जिनसेन	भानुलेश्या
विमलकीर्ति	विभव	अर्हद्बलि	,,
धरधर्म	विभव	माघनंदि	सातालेश्या
नमंदा	विशोको	धरसेन	,,
मतिसागर	विजर	पुष्पदंत	असातालेश्या

Post script.

After I wrote the above remarks, I was shown another list of gotras in a palm-leaf Ms. by my learned friend the late lamented Pt Appāśāstri Udagaonkar. It pains me to note that he did not live to see this article in print. He kindly allowed me to copy out the list from his Ms. I offer my thanks to his soul. This list contains 140 Gotras with their Pravaras, etc. I compared this with the list given above. The list belonging to Pt. Appāśāstri is more lengthy than the one printed above. Pt. Appāśāstri's list gives the first 74 gotras with slight differences in readings almost

in the same order. There is an additional gotra between 57 and 59 as below :

58.	सत्यक	प्रभूष्णु	भद्रबाहु	अनुत्त०

Thus the numbers are pushed forth by one and the blank at 66th is made up The additional gotras from 75 are as below :

	गोत्र	प्रवर	सूत्र	शाखा
75	सोमदत्त	प्रभूतस्मा	धर्मसिंह	चूलिकांग
76	चित्रमति	भूतनाथ	(अ)रुणा	चूलिका आकाशगत
77	चपलमति	अगत्प्रभु	धनपाल	,,
78	सिद्धार्थ	सर्वादि	मघव	चू० रूपगत
79	श्रुतार्थ	सर्वकृत्	तेजोराशि	,,
80	बहुश्रुत	सर्वज्ञ	महावीर	चू० मायागत
81	भद्रमित्र	सर्वदर्शन	महारथ	,,
82	कुबेरदत्त	सर्वात्मा	अतिरथ	चतुर्दश प्रकीर्णक
83	वज्रदत्त	सर्वलोकेश	विशाल	,,
84	शूरदत्त	सर्ववित्	महाजाल	पूर्वान्त
85	धान्यसेन	सुगति	सुविशाल	,
86	धर्मदत्त	सुश्रुत	वज्रसूत्र	अपरांत
87	धर्मपाल	सुवाक्	वज्रशाल	,,
88	धर्मसेन	सूरि	चंद्र	ध्रुव
89	सत्य	बहुश्रुत	चन्द्रशूल	अध्रुव
90	सुमित्र	विश्रुत	मेघस्वर	चेतोलब्धि
91	मित्रसेन	विश्वशीर्ष	कच्छ	अध्रुवसंप्रणिधि
92	महानाग	शुचिश्रव	महाकच्छ	अर्थ
93	विक्रम	सहस्रशीर्ष	नमि	अध्रुव
94	नन्दिमित्र	क्षेत्रज्ञ	विनमि	च्यवनलब्धि
95	नन्दिषेण	सहस्राक्ष	बल	अध्रुवसंप्रणिधि
96	शंखगोत्र	सहस्रपात्	अतिव (?)	अर्थ
97	नागसेन	महेश्वर	वज्रबल	भौमयाध्याय (?)
98	यशोभद्र	स्थविष्ठ	महाभोग	,,
99	श्रीकान्त	स्थविर	नन्दिमित्र	सर्वार्थ कल्पनीय
100	श्रीभूति	प्रेष्ठ	नन्दि	,,
101	वीरकान्त	वरिष्ठधी:	नन्दिभूति	प्रक्रम
102	सन्मति	स्थेष्ठ	महानुभाव	,,
103	बुद्धीषणा	गरिष्ठ	कामदेव	अनुपक्रम

104	विपुलकोर्त्ति	वशिष्ठ	अनुकम्पनार्थं	अभ्युदय
105	कांतविस	श्रेष्ठ	सुभद्र	,,

106-19 { Then here follow thirteen Gotras etc. which have been given before. The list is continued further :

119	शांतमति	विराग	भूतबोल	असात
120	विजयभद्र	वीतमत्सर	जिनचन्द्र	दीर्घ
121	यशःकान्त	योगवित्	कुंद कुंद	,,
122	पद्माम	विधाता	समंतभद्र	ह्रस्व
123	वसुदेव	सुविधि	शिवकोटि	,,
124	स्थूलभद्र	सुधी	पूज्यपाद	भवधारणीय
125	स्वयम्प्रभ	शांतिभाक्	एलाचार्य	,,
126	पुरुषोत्तम	यज्ञपति	वीरसेन	पुरुष...नाम
127	नन्दाढ्य	सोममूर्त्ति	नेमिचन्द्र	,,
128	सुव्रत	सौम्यात्मा	रामसेन	निधत्त
129	गन्धोत्कटि	सूर्यमूर्तिः	अकलङ्क	,,
130	सुमुखि	मन्त्रमूर्त्तिं	निष्कलङ्क	अनिधत्त
131	गन्धर्वदेव	मन्त्रवित्	नागहस्ति	,,
132	नरदेव	व्योममूर्त्ति	हस्तिमल्ल	सनिकाचित
133	योगदेव	वायुमूर्ति	विद्यानन्द	,,
134	वज्रबाहु	स्नातक	सिद्धार्थ	प्रथमानुयोग
135	कुरुवित्	अनन्तदीप्र	धृतिषेण	,,
136	भूकम्पन	स्वयम्बुद्ध	विजय	उत्पादपूर्व
137	अकम्पन	निराबाध	बुद्धिवर	,,
138	भागीरथ	निष्कलङ्क	नन्दिदेव	अग्रायणि
139	नखिलपुंगव	भुवनेश्वर	धर्मसेन	,,

The literary sources of these additional gotras, etc., are the same as those indicated above. Whether the list is complete with 140 gotras or not cannot be said definitely at present. Some authors like Hastimalla (A. D. 13th century) have found place in the Sūtra list. This fact too is quite in tune with our remarks above. However we must wait for further light on this Gotra-study.

THE KALPASŪTRA

BY

Dr. BIMALA CHURN LAW, M.A., B.L, Ph. D.

Introduction

The Kalpasūtra is supposed to have been composed by Bhadrabāhu in 980[1] years after the passing away of Mahāvīra, i.e., A.D. 454 during the reign of Dhruvasena, king of Gujarat. Yaśovijaya, Devichandra Jñānavimala and Sāmayasundra wrote commentaries on this text. All these commentaries were most probably written between 15th and 17th centuries according to Dr. Stevenson. Jacobi in the introduction to his edition of the Kalpasūtra says that the oldest commentary that he has used, is the Pañjikā written by Jina Prabhāmuni. There are various printed editions of this text. This text has been translated by H. Jacobi in S. B. E., Vol. XXII and by Dr. J. Stevenson in 1848. There is an edition of this work by Hermann Jacobi with an introduction, notes and a Prākrit-Saṁskrit Glossary published in 1879.

I have discussed in this paper some topics of the Kalpasūtra with the exception of the most important chapter on the biography of Mahāvīra which I have had the occasion of dealing with elsewhere. In narrating the biographies of the other Jinas, I have followed the order mentioned in the Kalpasūtra but strictly speaking it is quite different.

According to the Śvetāmbaras, the Kalpasūtra is a great authority and is always read publicly during the Varṣāvāsa or Pajjuṣan. The major portion of this work is devoted to the biography of Mahāvīra.

---

1. The date 980 A. V. corresponds with 454 of the Christian Era on the supposition that at that time Nirvāṇa was placed 470 before Vikrama. But if at that time the older tradition by means of which the date of Nirvāṇa was fixed, was still in use, the corresponding year of the Christian Era would be 514 A. D.

The archaic style in which this portion is written has got much in common with the old sūtras written in prose. The Jinacaritra the Sthavirāvalī and the Sāmācārīs collected together in one book under the title of Kalpasūtra were, according to the tradition, included in Devarddhiganin's recension of the Jaina scriptures, though it is not contained in the Siddhānta. The Kalpasūtra is said to contain 1216 granthas. A careful study of the text leads us to calculate more than 100 granthas above the fixed number. It is full of repetitions.

The whole Kalpasūtra was read on the first night of the Pajjuṣan but since it was read in the sabhā of King Dhruvasena to console him after the death of his beloved son, it was explained in nine Vācanās.

Pārśvanāth

The Arhat Pārśva[1] was born of Queen Vāmā, wife of Aśvasena, King of Benares. Before the venerable ascetic Parśva had adopted the life of a householder, he possessed supreme knowledge and intuition. When he understood, by virtue of this knowledge, that the time for his renunciation had come, he left all, and riding in a palanquin followed on his way by a train of gods, men and asuras, he went right through the town of Benares to the park called Āśramapada and proceeded to the excellent tree Aśoka. There he got down from his palanquin, took off his ornaments and with his own hands plucked out his hair in five handfuls. When the moon was in conjunction with the asterism Viśakhā he tore out his hair and entered the state of homelessness after fasting for two days and a half. For 83 days he did not take care of his body. He meditated on himself for 83 days practising strict morality and surmounting all obstacles. On the 85th day, Pārśva under a Dhataki tree, after fasting two days and a half, being engaged in deep meditation, reached the infinite, highest knowledge and intuition called Kevala..[2]

The venerable ascetic Pārśva had eight gaṇas and eight gaṇadharas (Subha and Āryaghosa, Vaśiṣṭha and Brahmacārin,

1. An ascetic who lived some 250 years before Mahāvīra.

2. According to the Digambara śāstras, this great event happened in the life of Pārśva after four months from the day of his renunciation. Ed.

Saumya and Srīdhara, Vīrabhadra and Yasas). He had an excellent community of 16,000 Śramaṇas with Āryadatta at their head; 38,000 nuns with Puṣpacūlā at their head; 164,000 lay votaries with Suvrata at their head; 327,000 female lay votaries with Sunandā at their head; [1] 350 sages who knew the 14 Pūrvas; 1,400 sages who were possessd of the Avadhi knowledge; 1000 Kevalins; 1100 sages who could transform themselves, 600 sages of correct knowledge; 1000 male and 2000 female disciples who had reached perfection, 750 sages of vast intellect, 600 professors, and 1200 sages in their last birth. He instituted two epochs in his capacity of a Maker of an end; the epoch relating to generations, and the epoch relating to psychical condition; the former ended in the fourth generation, the latter in the third year of his Kevalaship. He lived 30 years as a householder, 83 days in a state inferior to perfection, something less than 70 years as a Kevalin, full seventy years as a Śramaṇa and a hundred years on the whole. He attained to Nirvāṇa in the first month of the rainy season, after fasting a month on the summit of mount Sameta, in the company of 83 persons[2].

Ariṣṭanemi

Ariṣṭanemi or Numinātha was born of Queen Sīvā, wife of King Samudravijaya in the town of Sauripura (Soriyapura). He was named Ariṣṭanemi as his mother saw in a dream a nemi, the outer rim of a wheel, which consisted of riṣṭa stones flying up to the sky. Riding in a palanquin Ariṣṭanemi went right through the town of Dvārāvatī to the park called Revatika and stopped under the Aśoka tree. There after fasting two days and a half, he put on a divine robe and in the company of a thousand persons he tore out his hair and entered the state of homelessness.[3] He did not take care of his body for 54 days. On the 55th day he acquired the highest knowledge and

1. The Digambara books name ten gaṇas and an equal number of the gaṇadharas; among whom Svayaṁbhū was the chief apostle. They also differ in giving the number of nuns, laymen and female lay-votaries, which accord'ng to them is 26000, one lac and three lacs respectively. Ed.

2. Digambaras minimise this number to 36 only. Ed.

3. The Digambaras disagree here with the Svetāmbaras, as they believe that Ariṣṭanemi became a naked saint like all other Tīrthaṅkaras. Ed.

intuition called Kevala after fasting three days and a half without taking water, under a tree on the summit of mount Girnar. He had 18 gaṇas and 18 gaṇadharas.[1] He had an excellent community of 18,000 Śramaṇas with Varadatta at their head, 40,000 nuns with Ārya Yakṣinī at their head; 169,000 lay votaries with Nanda at their head; 336,000 female lay votaries with Mahasuvrata at their head;[2] four hundred sages who knew the fourteen Pūrvas; 1500 sages who were possessed of the Avadhi knowledge; 1500 Kevalins; 1500 sages who could transform themselves; 1000 sages of vast intellect; 800 professors; 1600 sages in their last birth; 1500 male and 300 female disciples who had reached perfection. Ariṣṭanemi instituted two epochs in his capacity as a Maker of an end; the epoch relating to generations and the epoch relating to psychical condition, the former ended in the 8th generation and the latter in the twelfth year of his Kevalaship. He lived three centuries as a prince, 54 days in a state inferior to perfection, something less than seven centuries as a Kevalin, full seven centuries as a Śramaṇa, a thousand years on the whole. He liberated himself in a squatting position on the summit of Mount Girnar after fasting a month and in the company of 536 monks.

Ṛṣabhadeva

Ṛṣabha was born of Mārudevī, wife of the Patriarch[3] Nābhi. When Mārudevī conceived, she dreamt 14 dreams,[4] the first of which was a bull coming forward with his face, unlike mothers of Tīrthakaras who see elephant in their first dream. The dreams were interpreted by the patriarch Nābhi in the absence of professional interpreters.

To be Continued.

1. Digambara books mention eleven gaṇas and 11 gaṇadharas; with Varadatta at their head. Ed.

2. Digambaras name one lac and 3 lacs male and female and lay votaries respectively. Ed.

3. Kulakara; these Kulakaras were the first kings and founders of families at the time when the rest of mankind were 'Yugalins'. The first Kulakara was Vimalavāhana; the seventh and last of the line Nābhi (Vide, S. B. E., pt. I. Jaina Sūtras), p. 281 Fn.

According to the Digambara belief there were fourteen Kulakaras, beginning with Pratiśruti Nābhi was the 14th and last of them. (Ādi Purāṇa, 72.)

4. Digambaras name 16 dreams. Ed

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर) is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June, September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर

The Jaina Antiquary

An Anglo-Hindi Quarterly Journal

श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर अङ्गरेजी-हिन्दी मिश्रित त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ इसका वार्षिक चन्दा देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबंधी तथा अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर जैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर की सूचना भी तुरंत उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि "भास्कर" नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्तिविज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखनेवाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक श्रीजैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे हुए नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ "भास्कर" आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल मात्र जैन-तत्त्व की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं:—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली, शास्त्री

विनम्र विज्ञप्ति

यह चौथी किरण "जैन सिद्धान्त-भास्कर" के तीसरे भाग की अन्तिम किरण है। जैन इतिहास, साहित्य एवं पुरातत्त्व को अन्यान्य विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर जैनधर्म को ऐतिहासिक दृष्टि से सनातन साबित करना ही भास्कर का प्रधान लक्ष्य है। प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत एवं अंग्रेजी के बड़े-बड़े उद्भट पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् भास्कर के इस पुनीत ध्येय और इसकी सफलता की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा सदा करते रहते हैं।

अस्तु अब हम भास्कर के अनुग्राहक ग्राहक महोदयों को विज्ञप्त किये देते हैं कि इसके चौथे भाग की पहली किरण जून महीने में नियमानुसार V. P. P. द्वारा भेजी जायगी। जिन भावुक ग्राहकों को किसी कारण चौथे भाग से ग्राहक रहना मंजूर नहीं हो वे कृपया तीन पैसे खर्च कर कार्ड-द्वारा भास्कर-औफिस, आरा में सूचना भेज दें, जिससे इस धार्मिक संस्था के प्रत्येक V. P. P. पर व्यर्थ के पाँच आने पैसे खर्च न हों। हमें यह लिखते बड़ा ही संकोच होता है कि गत वर्ष V. P. P. भेजने की सूचना पहले देने पर भी औफिस में अस्वीकृति की विज्ञप्ति नहीं देकर अनेकों सहृदय (?) ग्राहकों ने धड़ाधड़ V. P. P. लौटाना ही अपना कर्त्तव्य समझा था। वी० पी० लौटाने वाले धर्म-प्रेमी महाशयों की नामावली औफिस में देख कर हम दंग रह गये। क्योंकि उसमें कोई ऐसे महाशय नहीं थे जो आर्थिक कृच्छ्रता के कारण ४) नहीं दे सकते थे। वास्तविक बात यह है कि वे यही चाहते हैं कि हम ऐश-ओ आराम से रहें—चाहे जैनियों को कोई हिन्दू या बौद्ध धर्म की ही शाखा क्यों न कहता रहे।

खैर हमने भास्कर को व्यापार के खयाल से नहीं निकाला है। जीती- जागती जातियों में जैनी भास्कर-द्वारा अपना चिरन्तन अस्तित्व समझें, यही हमारा मुख्य लक्ष्य है। इसीलिये ग्राहकों की कृशता कितनी भी बढ़ जाये, भास्कर कभी अस्त न हो यह हमने मन में सोच रक्खा है। अब तक जितने गुण ग्राही ग्राहक हैं और बन रहे हैं; उनकी गुण-ग्राहिता पर मुझे सन्तोष है तथा उन्हें अनन्त धन्यवाद है। केवल साग्रह एवं विनम्र निवेदन यही है कि भास्कर के जो भी थोड़े-बहुत ग्राहक बने वे जिनवाणी माता के प्रचारक हों, न कि V P P. लौटा कर उनके प्रचार में अड़ंगा डालते हुए एक सार्वजनिक जैन धर्म-संस्था की अक्षम्य हानि पहुँचायें। मनिआर्डर द्वारा रुपये भेजने से ग्राहकों को ।=) आना पैसा बचेंगे।

विनम्र विज्ञापक

निर्मलकुमार एवं चक्रेश्वरकुमार जैन

संचालक

"जैन-सिद्धान्त-भास्कर"

(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ३] [किरण ४

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत १९९३

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

अंग्रेजी-विभाग—

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

THE JAINA ANTIQUARY.
जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ३ | मार्च, १९३७। फाल्गुन वीर नि० २४६३ | किरण ४

श्रुतावतार-कथा

('धवल' और 'जयधवल' के आधारपर)

लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार

श्री वीर-हिमाचलसे श्रुत-गंगाका जो निर्मल स्रोत बहा है वह अन्तिम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्न एक धारामें चला आया है, इसमें किसीको विवाद नहीं है। बादको द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षादिके कारण मतभेदरूपी एक चट्टानके बीचमें आजानेसे वह धारा दो भागोंमें विभाजित हो गई, जिनमेंसे एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर शाखाके नामसे प्रसिद्ध हुई। दोनों ही शाखाओंमें अपनी अपनी तात्कालिक ज़रूरत और तरीक़तके अनुसार अवतरित श्रुतजलकी रक्षाका प्रयत्न हुआ; परन्तु ग्रहण-धारणाकी शक्तिके दिनपर दिन कम होते जाने और देशकालकी परिस्थितियों अथवा रक्षणादि-विषयक उपेक्षाके कारण कोई भी विद्वान् उस श्रुतको अपने अविकल द्वादशांग-रूपमें सुरक्षित नहीं रख सका। और

इसलिये उसका मूल शरीर प्रायः क्षीण होता चला गया। जिस जिस अवधिपर पुनः निबद्ध, संगृहीत अथवा लिपिबद्ध होनेके कारण वह और अधिक क्षीण होनेसे बचा है उसकी कथाएँ दोनों ही सम्प्रदायोंमें पाई जाती हैं। दिगम्बर-सम्प्रदायमें इस श्रुतावतारके जो भी प्रकरण उपलब्ध हैं उनमें इन्द्रनन्दि का 'श्रुतावतार'* अधिक प्रसिद्ध है। इस श्रुतावतार में अन्तिम अवधिके तौर पर उन दो सिद्धान्तागमोंके अवतारको कथा दी गई है जिनपर अन्तको 'धवला' और 'जयधवला' नामकी विस्तृत टीकाएँ—क्रमशः ७२ हज़ार तथा ६० हज़ार श्लोक-परिमाण लिखी गई हैं। भाष्यके रूप में इनका नाम 'धवल' और 'जयधवल' अधिक प्रसिद्ध है। ये टीकाएँ मूडविद्रीकी काल-कोठरीमें बन्द होनेके कारण अभीतक प्रायः अनुपलब्ध और दुष्प्राप्य थीं—अब कुछ समयसे इनका किसी प्रकार दर्शन होने लगा है। साधारण जनताको उनका कोई परिचय नहीं है, और इसलिये यह जिज्ञासा स्वभाव से ही उत्पन्न होती है कि जिन आगम ग्रन्थोंकी उक्त धवलादिक टीकाएँ हैं उनमें खुद अपने आधारभूत आगम ग्रन्थोंके अवतारकी क्या कुछ कथा दी हुई है। आज इसी जिज्ञासा-तृप्तिके लिये यह परिचय-लेख लिखा जाता है।

धवलाके शुरूमें, कर्ताके 'अर्थकर्ता' और 'ग्रन्थकर्ता' ऐसे दो भेद करके, केवलज्ञानी भगवान् महावीरको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूपमें अर्थकर्ता प्रतिपादित किया है और उसकी प्रमाणतामें कुछ प्राचीन पद्योंको भी उद्धृत किया है। महावीर-द्वारा-कथित अर्थको गोतम गोत्री ब्राह्मणोत्तम गौतमने अवधारित किया, जिसका नाम इन्द्रभूति था। यह गौतम सम्पूर्ण दुःश्रुतिका पारगामी था, जीवाजीव-विषयक सन्देहके निवारणार्थ श्रीवर्द्धमान महावीरके पास गया था और उनका शिष्य बन गया था। उसे वहीं पर उसी समय क्षयोपशम-जनित निर्मल ज्ञान-चतुष्टयकी प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार भाव-श्रुतपर्याय-रूप परिणत हुए इन्द्रभूति गौतमने महावीर-कथित अर्थकी बारह अंगों—चौदह पूर्वों में ग्रन्थ-रचना की और वे द्रव्यश्रुतके कर्ता हुए। उन्होंने अपना वह द्रव्य-भाव-रूपी श्रुतज्ञान लोहाचार्य† के प्रति संचारित किया और लोहाचार्यने जम्बूस्वामीके प्रति। ये तीनों—गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी—सप्त प्रकारकी लब्धियोंसे सम्पन्न थे और उन्होंने सम्पूर्ण श्रुतके पारगामी होकर, केवलज्ञानको उत्पन्न करके क्रमशः निर्वृति को प्राप्त किया था।

---

* यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालाके त्रयोदश ग्रन्थ 'तत्त्वानुशासनादि-संग्रह' में मुद्रित हुआ है। उसी परसे उसके विषयोंका यहाँ उल्लेख किया गया है।

† धवलाके 'वेदना' खण्डमें भी लोहाचार्यका नाम दिया है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें इस स्थानपर सुधर्म-मुनिका नाम पाया जाता है।

जम्बूस्वामीके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच आचार्य चतुर्दश-पूर्वके धारी अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके पारगामी हुए।

भद्रबाहुके अनन्तर विशाखाचार्य, प्राष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य,[१] नागाचार्य,[२] सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य,[३] बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये क्रमशः ११ आचार्य ग्यारह अंगों और उत्पादपूर्वादि दश पूर्वोंके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोंके एकदेश-धारी हुए।

धर्मसेनके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन* और कंसाचार्य ये क्रमशः पांच आचार्य ग्यारह अंगोंके पारगामी और चौदह पूर्वोंके एकदेश-धारी हुए।

कंसाचार्यके अनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु † और लोहाचार्य ये क्रमशः चार आचार्य आचारांगके पूर्णपाठी और शेष अंगों तथा पूर्वोंके एकदेश-धारी हुए ‡।

लोहाचार्यके बाद सर्व अंगों तथा पूर्वोंका वह एकदेश श्रुत जो आचार्य-परम्परा से चला आया था धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ। धरसेनाचार्य अष्टांग महानिमित्तके पारगामी थे। वे जिस समय सोरठ देशके गिरिनगर (गिरनार) पहाड़की चन्द्र-गुहामें स्थित थे उन्हें अपने पासके ग्रन्थ (श्रुत) के व्युच्छेद हो जानेका भय हुआ, और इसलिये प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर उन्होंने दक्षिणा-पथके आचार्योंके पास, जो उस समय महिमा¶ नगरीमें सम्मिलित हुए

१, २, ३. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जयसेन, नागसेन, विजयसेन ऐसे पूरे नाम दिये हैं। जयधवलामें भी जयसेन, नागसेन-रूपसे उल्लेख है परन्तु साथमें विजयको विजयसेन-रूपसे उल्लिखित नहीं किया। इससे मूल नामोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

* यहाँ पर यद्यपि द्रुमसेन (दुमसेणो) नाम दिया है परन्तु इसी ग्रन्थके 'वेदना' खण्डमें और जयधवलामें भी उसे ध्रुवसेन नामसे उल्लिखित किया है—पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति'में भी ध्रुवसेन नामका उल्लेख मिलता है। इससे यही नाम ठीक जान पड़ता है। अथवा द्रुमसेनको इसका नामान्तर समझना चाहिये। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें द्रुमसेन नामसे ही उल्लेख किया है।

† अनेक पट्टावलियोंमें यशोबाहुको भद्रबाहु (द्वितीय) सूचित किया है और इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'जयबाहु' नाम दिया है तथा यशोभद्रकी जगह अभयभद्र नामका उल्लेख किया है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें इन आचार्योंको शेष अंगों तथा पूर्वोंके एकदेश-धारी नहीं लिखा, न धर्मसेनादिको चौदह पूर्वोंके एकदेश-धारी लिखा और न विशाखाचार्यादिको शेष चार पूर्वोंके एक देशधारी ही बतलाया है। इसलिये धवलाके ये उल्लेख खास विशेषताको लिये हुए हैं और बुद्धि-ग्राह्य तथा समुचित मालूम होते हैं।

¶ 'महिमानगढ़' नामका एक गाँव सतारा जिलेमें है (देखो, 'स्थलनामकोश'), संभवतः यह वही जान पड़ता है।

थे ('दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं')* एक लेख (पत्र) भेजा। लेखस्थित धरसेनके वचनानुसार उन आचार्योंने दो साधुओंको, जो कि ग्रहण-धारणमें समर्थ थे, बहुविध निर्मल विनयसे विभूषित तथा शील-मालाके धारक थे, गुरु-सेवामें सन्तुष्ट रहने वाले थे, देश-कुल-जातिसे शुद्ध थे और सकल-कला-पारगामी एवं तीक्ष्ण-बुद्धिके धारक आचार्य थे—अन्ध्र देशके वेण्यातट † नगरसे धरसेनाचार्यके पास भेजा। ('अंधविसयवेण्णायडादो पेसिदा')। वे दोनों साधु जब आ रहे थे तब रात्रिके पिछले भागमें धरसेन भट्टारकने स्वप्नमें सर्व-लक्षण-सम्पन्न दो धवल वृषभोंको अपने चरणोंमें पड़ते हुए देखा। इस प्रकार स्वप्न देखकर सन्तुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'जयतु श्रुतदेवता'‡ ऐसा कहा। उसी दिन वे दोनों साधुजन धरसेनाचार्यके पास पहुँच गये और तब भगवान् धरसेनका कृतिकर्म (वन्दनादि) करके उन्होंने दो दिन|| विश्राम किया, फिर तीसरे दिन विनयके साथ धरसेन भट्टारकको यह बतलाया कि 'हम दोनों जन अमुक कार्यके लिये आपकी चरण-शरणमें आए हैं।' इसपर धरसेन भट्टारकने 'सुष्ठु भद्र' ऐसा कहकर उन दोनोंको आश्वासन दिया और फिर वे इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

§"सेलघणभग्गघडअहिचालणिमहिसाविजाह (डाल ?) यसुएहिं।
मट्टियमसयसमाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥१॥
दध (?) गारवपडिबद्धो विसयामिसविसवसेण घुम्मंतो।
सो णट्ठबोहिलाहो भमइ चिरं भववणे मूढो ॥२॥"

---

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके निम्न वाक्यमें यह कथन स्पष्ट नहीं होता—वह कुछ गड़बड़को लिये हुए जान पड़ता है :—

"देशेन्द्र (ऽन्ध्र ?) देशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा। समुदितमुनीन् प्रति"······इसमें 'महामहिमा-समुदितमुनीन्' लिखा है तो आगे, लेखपत्रके अर्थका उल्लेख करते हुए, उसमें 'वेणाकतटसमुदितयतीन्' विशेषण दिया है जो कि 'महिमा' और 'वेण्यातट'के वाच्योंको ठीक रूपमें न समझनेका परिणाम हो सकता है।

† 'वेण्या' नामकी एक नदी सतारा जिलेमें है (देखो, 'स्थलनामकोश'), सम्भवतः यह उसीके तटपर बसा हुआ नगर जान पड़ता है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'जयतु श्रीदेवता' लिखा है, जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि प्रसंग श्रुतदेवता का है।

|| इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें तीन दिनके विश्रामका उल्लेख है।

§ इन गाथाओंका संक्षिप्त आशय यह है कि 'जो आचार्य गौरवादिके वशवर्ती हुआ मोहसे ऐसे श्रोताओंको श्रुतका व्याख्यान करता है जो शैलघन, भग्नघट, सर्प, छलनी, महिष,

इस वचनसे स्वच्छन्दचारियोंको विद्या देना संसार-भयका बढ़ानेवाला है। ऐसा चिन्तन कर, शुभ-स्वप्नके दर्शनसे ही पुरुषभेदको जाननेवाले धरसेनाचार्यने फिर भी उनकी परीक्षा करना अंगीकार किया। सुपरीक्षा ही निःसन्देह हृदयको मुक्ति दिलाती है*। तब धरसेनने उन्हें दो विद्याएँ दीं—जिनमें एक अधिकाक्षरी, दूसरी हीनाक्षरी थी—और कहा कि इन्हें षष्ठोपवासके साथ साधन करो। इसके बाद विद्या सिद्ध करके जब वे विद्या-देवताओंको देखने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि एकका दाँत बाहरको बढ़ा हुआ है और दूसरी कानी (एकाक्षिणी) है। 'देवताओं का ऐसा स्वभाव नहीं होता' यह विचारकर जब उन मंत्र-व्याकरणमें निपुण मुनियोंने हीनाधिक अक्षरोंका क्षेपण-अपनयन विधान करके—कमी बेशीको दूर करके—उन मंत्रोंको फिरसे पढ़ा तो तुरन्त ही वे दोनों विद्या-देवियाँ अपने अपने स्वभाव-रूपमें स्थित होकर नज़र आने लगीं। तदनन्तर उन मुनियोंने विद्या-सिद्धिका सब हाल पूर्ण विनयके साथ भगवद्धरसेनसे निवेदन किया। इसपर धरसेनजीने सन्तुष्ट होकर उन्हें सौम्य तिथि और प्रशस्त नक्षत्रके दिन उस ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया, जिसका नाम 'महाकम्मपयडि-पाहुड़' (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) था। फिर क्रमसे उसकी व्याख्या करते हुए (कुछ दिन व्यतीत होनेपर) आषाढ़ शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्णके समय ग्रन्थ समाप्त किया गया। विनय-पूर्वक ग्रन्थका अध्ययन समाप्त हुआ, इससे सन्तुष्ट होकर भूतोंने वहाँपर एक मुनिकी शंख-तुर्हीके शब्द-सहित पुष्पबलिसे महती पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उस मुनिका 'भूतबलि' नाम रक्खा; और दूसरे मुनिका नाम 'पुष्पदन्त' रक्खा, जिसकी पूजाके अवसर पर भूतोंने उसकी अस्तव्यस्त रूपसे स्थित विषम दन्त-पंक्तिको सम अर्थात् ठीक कर दिया था†। फिर उसी नामकरणके दिन‡ धरसेनाचार्यने उन्हें रुखसत (विदा) कर दिया। गुरुवचन अलंघनीय है ऐसा विचार कर वे वहाँसे चल दिये और उन्होंने अंकलेश्वर|| में आकर वर्षा-काल व्यतीत किया ×।

विड़ाल, अज, शुक, मिट्टी और मशकके समान हैं—इन जैसी प्रकृतिको लिये हुए हैं—वह मूढ़ बोधिलाभसे भ्रष्ट होकर चिरकालतक संसारवनमें परिभ्रमण करता है।'

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति' इत्यादि वाक्यके द्वारा परीक्षाकी यही बात सूचित की है; परन्तु इससे पूर्ववर्ती चिन्तनादि-विषयक कथन, जो 'इसपर धरसेन' से प्रारम्भ होता है, उसमें नहीं है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें उक्त मुनियोंका यह नामकरण धरसेनाचार्यके द्वारा न होकर भूतों द्वारा किया गया, ऐसा उल्लेख है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें, ग्रन्थ-समाप्ति और नामकरणका एक ही दिन विधान करके, उससे दूसरे दिन रुखसत करना लिखा है।

|| यह गुजरात के भरोंच (Broach) जिले का प्रसिद्ध नगर है।

× इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें ऐसा उल्लेख न करके लिखा है कि खुद धरसेनाचार्यने उन

वर्षायोगको समाप्त करके तथा 'जिनपालित'* को देखकर पुष्पदन्ताचार्य तो वनवासदेशको चले गये और भूतबलि भी द्रमिल (द्रविड) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशतिप्ररूपणात्मक सूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान् भूतबलिके पास भेजा। भगवान् भूतबलिने जिनपालितके पास उन विंशतिप्ररूपणात्मक सूत्रोंको देखा और साथ ही यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु है। इससे उन्हे 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत'के व्युच्छेदका विचार उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने (उक्तसूत्रोंके बाद) 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नामके प्रकरणको आदिमें रखकर ग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थका नाम 'षट्खण्डागम' रक्खा गया; क्योंकि इस आगमग्रन्थ में १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबन्ध, ३ बन्धस्वामित्व, ४ वेदना, ५ वर्गणा और ६ महाबन्ध नामके छह खण्ड अर्थात् विभाग हैं; जो सब महाकर्म-प्रकृति-प्राभृत-नामक मूलागमग्रन्थको संक्षिप्त करके अथवा उसपरसे समुद्धृत करके लिखे गये हैं। और वह मूलागम द्वादशांगश्रुतके अग्रायणीय-पूर्वस्थित पंचम वस्तुका चौथा प्राभृत है। इस तरह इस षट्खण्डागमश्रुतके मूल तंत्रकार श्रीवर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतम स्वामी और उपतंत्रकार भूतबलि-पुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये।

यहतो हुई 'धवला'के आधारभूत 'षट्खण्डागम' श्रुतके अवतारकी कथा; अब जयधवलाके आधारभूत 'कसायपाहुड' श्रुतको लीजिये, जिसे 'पेज्जदोस पाहुड' भी कहते हैं। जयधवलामें इसके *अवतारकी प्रारम्भिक कथा तो प्रायः वही दी है जो महावीरसे* आचारांग-धारी लोहाचार्यतक *ऊपर वर्णन की गई है—मुख्य भेद इतना ही है कि यहांपर* एक एक विषयके आचार्योंका काल भी साथमें निर्दिष्ट कर दिया गया है, जब कि 'धवला'में उसे अन्यत्र 'वेदना' खंडका निर्देश करते हुए दिया है। दूसरा भेद आचार्योंके कुछ नामों का है—जयधवलामें गौतम स्वामीके बाद लोहाचार्यका नाम न देकर सुधर्माचार्यका नाम दिया है—जो कि वीर भगवानके बाद होनेवाले तीन केवलियोंमें से द्वितीय केवलीका प्रसिद्ध नाम है। इसी प्रकार जयपालका जगह जसपाल और जसबाहूकी जगह जयबाहू नामका उल्लेख किया है। प्राचीन लिपियों को देखते हुए जस और जयके लिखनेमें बहुत ही कम अन्तर प्रतीत होता है, इससे साधारण लेखकों द्वारा 'जस'का 'जय और 'जय'का 'जस' समझ लिया जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ, लोहाचार्य और सुधर्माचार्यका अन्तर अवश्य ही चिन्तनीय है। जयधवलामें कहीं कहीं

दोनों मुनियोंको 'कुरीश्वर' (?) पत्तन भेज दिया था जहां वे ९ दिनमें पहुँचे थे और उन्होंने वहीं आषाढ़ कृष्ण पंचमीको वर्षायोग ग्रहण किया था।

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जिनपालितको पुष्पदन्तका भानजा लिखा है और दक्षिणकी ओर विहार करते हुए दोनों मुनियोंके करहाट पहुँचने पर उसके देखनेका उल्लेख किया है।

गौतम और जम्बूस्वामीके मध्य लोहाचार्यका ही नाम दिया है; जैसा कि उसके 'अणुभाग-विहत्ति' प्रकरणके निम्न अंशसे प्रकट है :—

'विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम-लोहज्ज-जंबुसामियादि-आइरिय-परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय···" (आराकी प्रति पत्र ३१३)

जब धवला और जयधवला दोनों ग्रन्थोंके रचयिता वीरसेनाचार्यने एक ही व्यक्तिके लिये इन दो नामोंका स्वतंत्रतापूर्वक उल्लेख किया है, तब ये दोनों एक ही व्यक्तिके नामान्तर हैं ऐसा समझना चाहिये; परन्तु, जहां तक मुझे मालूम है, इसका समर्थन अन्यत्रसे अथवा दूसरे किसी पुष्ट प्रमाणसे अभी तक नहीं होता—पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'तिलोयपएणत्ति' में भी 'सुधर्मस्वामी' नामका उल्लेख है। अस्तु; जयधवलापरसे शेष कथाकी उपलब्धि निम्न प्रकार होती है :—

आचारांग धारी लोहाचार्यका स्वर्गवास होने पर सर्व अंगों तथा पूर्वोंका जो एकदेश श्रुत आचार्य परम्परासे चला आया था वह गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधराचार्य उस समय पाँचवें ज्ञानप्रवाद-पूर्वस्थित दशम वस्तुके तीसरे 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ-महार्णवके पारगामी थे। उन्होंने, ग्रन्थ-व्युच्छेदके भयसे और प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर, सोलह हजार पद-परिमाण उस 'पेज्जदोसपाहुड' ('कसायपाहुड') का १८०* सूत्रगाथाओंमें उपसंहार किया—सार खींचा। साथ हो, इन गाथाओंके सम्बन्ध तथा कुछ वृत्ति-आदिकी सूचक ५३ विवरण-गाथाएँ भी और रचीं, जिससे गाथाओंकी कुल संख्या २३३ हो गई। इसके बाद *ये सूत्र-गाथाएँ आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके आचार्योंको* प्राप्त हुईं†। इन दोनों आचार्योंके पाससे गुणधराचार्यकी उक्त गाथाओंके अर्थको भले प्रकार सुनकर यतिवृषभाचार्यने उनपर चूर्णि-सूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हज़ार श्लोक-परिमाण है। इन चूर्णिसूत्रोंको साथमें लेकर ही जयधवला-टीकाकी रचना हुई है, जिसके प्रारम्भका एक तिहाई भाग (२० हज़ार श्लोक-परिमाण) वीरसेनाचार्यका और शेष (४० हज़ार श्लोक-परिमाण) उनके शिष्य जिनसेनाचार्यका लिखा हुआ है।

जयधवलामें चूर्णिसूत्रोंपर लिखे हुए उच्चारणाचार्यके वृत्तिसूत्रोंका भी कितना ही उल्लेख

---

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं' पाठके द्वारा मूल सूत्रगाथाओंकी संख्या १८३ सूचित की है जो ठीक नहीं है और समझनेकी किसी ग़लतीपर निर्भर है। जयधवलामें १८० गाथाओंका खूब खुलासा किया गया है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें लिखा है कि गुणधराचार्यने इन गाथासूत्रोंको रचकर स्वयं ही इनकी व्याख्या नागहस्ती और आर्यमंक्षुको बतलाई। इससे ऐतिहासिक कथनमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

पाया जाता है परन्तु उन्हें टीकाका मुख्याधार नहीं बनाया गया है और न सम्पूर्ण वृत्ति-सूत्रोंको उद्धृत ही किया जान पड़ता है, जिनकी संख्या इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में १२ हज़ार श्लोक-परिमाण बतलाई है।

इस प्रकार संक्षेपमें यह दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा है, जिनके आधारपर फिर कितने ही ग्रन्थोंकी रचना हुई है। इसमें इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे अनेक अंशोंमें कितनी ही विशेषता और विभिन्नता पाई जाती है, जिसको कुछ मुख्य मुख्य बातोंका दिग्दर्शन, तुलनात्मकदृष्टिसे, इस लेखके फुटनोटोंमें कराया गया है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि धवला और जयधवलामें गौतम स्वामीसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तकके श्रुतधर आचार्योंकी एकत्र गणना करके और उनकी रूढ़ काल-गणना ६८३ वर्षकी देकर उसके बाद धरसेन और गुणधर आचार्योंका नामोल्लेख किया गया है, साथमें इनकी गुरुपरम्पराका कोई ख़ास उल्लेख नहीं किया गया* और इस तरह इन दोनों आचार्योंका समय वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बादका सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टिसे कहाँ तक ठीक है अथवा कितनी आपत्ति-के योग्य है उसके विचारका यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी इतना ज़रूर कह देना होगा कि मूल ग्रन्थोंको देखते हुए टीकाकारका यह सूचन बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण एवं स्खलनको लिये हुए जान पड़ता है, जिसका स्पष्टीकरण विशेष तय्यारीके साथ कुछ समय बाद किया जानेको है, जब कि धवलादिकपरसे लिये हुए अपने एक हज़ार पेजके नोटों पर जो काम किया जा रहा है, वह प्रायः समाप्त हो जायगा। उस विशिष्ट लेखपरसे पाठकोंको यह भी मालूम हो सकेगा कि गुणधराचार्य उक्त समयसे पूर्व ही नहीं, किन्तु धरसेनाचार्यसे भी कितने ही वर्ष पहले हुए हैं।

इसके सिवाय, एक ख़ास बात और भी सूचित कर देने की है और वह यह कि अभी तक 'धवला'को षट्खण्डागमके छहों खण्डोंकी टीका समझा जाता रहा है—इन्द्रनन्दिने भी अपने श्रुतावतारमें 'इति षण्णां खण्डानां.........टीकां विलिख्य धवलाख्यां' इस वाक्यके द्वारा ऐसा ही लिख दिया है! परन्तु आरा आदिकी उपलब्ध टीका-प्रतियोंको देखते हुए यह सब भ्रम जान पड़ता है—जिसके रहस्यको फिर किसी समय प्रकट किया जायगा—और वह प्रथम चार खण्डोंकी ही टीका पाई जाती है। वर्गणा और महाबन्ध नामके पाँचवे-छठे खण्डोंका

* इन्द्रनन्दिने तो अपने श्रुतावतारमें यह स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन गुणधर और धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्पराका हाल हमें मालूम नहीं है; क्योंकि उसको बतलाने वाले शास्त्रों तथा मुनि-जनोंका अभाव है—वे उन्हें उपलब्ध नहीं हैं।

मूलसूत्रभाग तक उसमें संगृहीत नहीं है, जिसकी संख्या प्रथम चार खण्डोंके परिमाणसे शायद पंचगुनीसे भी अधिक बतलाई जाती है। क्योंकि इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें प्रथम पांच खण्डोंकी संख्या जब ६ हज़ार श्लोक-परिमाण लिखी है तब छठे खण्ड-सहित कुल ग्रन्थकी संख्या ३० हज़ार श्लोक-परिमाण बतलाई है। ऐसी हालतमें उक्त दोनों खण्डोंके अनुसन्धानकी खास ज़रूरत है, जिसके लिये मूडबिद्री आदिके भाण्डारोंको सविशेष रूपसे टटोलना चाहिये। इसमें विलम्ब करनेकी ज़रूरत नहीं है। आशा है समाजका ध्यान इस खण्डपूर्तिकी ओर शीघ्र आकर्षित होगा।

नोट :—यह लेख इसी नामके उस लेखका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है जो 'वीर'के अक्तूबर सन् १९३६ के 'कहानी-अंक'में प्रकाशित हुआ है। 'भास्कर'के पाठकोंके लिये उपयोगी ऐसे कितने ही फुट-नोट भी इसमें नये बढ़ाये गये हैं। —लेखक

भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि पर एक दृष्टि

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली, शास्त्री)

भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि किसी ग्रन्थ में कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि[1], किसी में कार्त्तिक कृष्ण स्वाति-नक्षत्रयुक्त चतुर्दशी की रात्रि का चतुर्थ प्रहर[2], किसी

१—"पच्छा पावाणयरे कत्तियमासस्स किण्ह-चोद्दसिए।
रत्तीए सेसरयं छेत्तु महावीर णिव्वाओ॥"

जयधवल-टीका—आचार्य वीरसेन (वि० ८ वीं शताब्दी) पृष्ठ १, पंक्ति ६)
अगर यह मूलगाथा हो तो इससे भी प्राचीन सिद्ध होगा।

२—(क) "क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले॥५०९॥
स्थित्वा दिन-द्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्ज्जरः।
कृष्णकार्त्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये॥५१०॥
स्वाति-योगे तृतीयेद्धशुक्लध्यानपरायणः।
कृतत्रियोगसंरोधसमुच्छिन्नक्रियं श्रितः॥५११॥

(उत्तरपुराण—आचार्य गुणभद्र (वि० ६ वीं शताब्दी) पृष्ठ७४५, पर्व ७६)

(ख) "तुरिमइं काल अन्तचउवीसइ मासअद्धहविहीण समासइ।
कातियमासहु किण्ह-चउद्दसिसाइणखत्तु यामतुरिमइं णिसि"॥

(प्राकृत हरिवंशपुराण—आचार्य श्रुतकीर्त्ति (वि० ११ वीं श० के बाद के)
पत्र ३१४ पूर्वार्द्ध पंक्ति १० से)

(ग) "कृत्वा योगनिरोधमुज्झितसभः षष्ठेन तस्मिन्वने
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलरुचिः कर्माण्यशेषाणि सः।
स्थित्वेन्दावपि कार्त्तिकासितचतुर्दश्यां निशान्ते स्थिते
स्वातौ सन्मतिरास्सद भगवान्सिद्धि प्रसिद्धश्रियम्"॥९८॥

(वर्द्धमान-चरित्र—महाकवि असग (वि० ११वीं शताब्दी) पृष्ठ ३८४)

(घ) "अथान्ते दर्शनज्ञानचारित्रविधिनायकः। आगत्य नगरीं पावां सहसंघचतुष्टयः॥३३॥
शिलायां स्थितवानेकः प्रलंबितकरद्वयः। भूत्वा योगी पुनश्चक्रे शेषाणां कर्मणां क्षयम्॥३४॥

में कार्त्तिक कृष्ण अमावस्या[१] और किसी में केवल स्वाति-नक्षत्र-सहित कार्त्तिक कृष्ण का पक्षान्त[२] बतलायी गयी है।

थोड़ासा अवकाश पाकर उल्लिखित भिन्न भिन्न मतों को पुष्ट करनेवाले उपलब्ध प्रमाणों को टिप्पणी-रूप में पाठकों के समक्ष मैंने उपस्थित कर दिया है। हाँ, अधिक छान-बीन करने पर इस विषय में और भी बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं।

अस्तु, आचार्य पूज्यपाद-कृत दशभक्ति एवं आचार्य जिनसेन-कृत हरिवंश-पुराण के दो प्रमाणों को छोड़कर शेष निर्वाण-तिथि-सम्बन्धी कुल प्रमाण दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक तो कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि या रात्रि का चतुर्थ प्रहर और दूसरा कार्त्तिक कृष्ण अमावास्या। आचार्य पूज्यपाद का प्रमाण भी अमावास्या के पक्ष में लिया जा सकता है। पर इन्होंने तिथि का खुलाशा उल्लेख नहीं किया है, अत एव मैंने इसे पक्षान्त-

---

ऊर्जस्य कालपक्षस्य चतुर्दश्यां निशि प्रभुः। कृतिं निष्ठाप्य षष्ठेन प्रत्यादे (?) प्राप निर्वृतिम्" ॥३५॥

(पुराणसंग्रह या चतुर्विंशति-पुराण – दामनन्दि, पृष्ठ ५४)

(ङ) "विळसत्कार्त्तिकमासाकळितासितपक्षवरचतुर्दशियोळ् तां वेळगप्प जावदोळ् निर्मल-मुक्तिश्रीगे वीर जिन निन(?) नादं।"

(कन्नड वर्द्धमानपुराण – आचण्ण या वाणीवल्लभ (वि० १३वीं शताब्दी) पृष्ठ ६६ का पूर्वार्द्ध)

(च) "कार्तिक मासद बहुळ पक्षदोळल्लि। सार्तरे पदिनाल्कु दिवसा ॥
पळ्तंद स्वाति नक्षत्रद बेळगप्प। पोळ्तिनोळगे वीरनाथ ॥१३६॥
तन्नोळु तन्ननु तन्निंद भाविसे। तन्नत्तणिंदे कर्मगळु ॥
मुन्नवे तोलगे तनगे तन्न गुणगळु। तां नेलसलु मुक्तिवडेदा ॥१३७॥ (सन्धि १२)

(कन्नड वर्द्धमानपुराण—कवि पद्म, वि० १६वीं शता०)

३—(क) "पद्मप्रभस्त्रयोदश्यां प्राप्तो जन्मवने शिवम्।
दर्शे वीरो द्वितीयायां कैवल्यं सुविधिस्तिथौ"॥१०॥

(कल्याण-माला—पण्डित आशाधर (वि० १३वीं शताब्दी)

(ख) कार्त्तिकाख्ये शुभे मासे ह्यमावास्याभिधे तिथौ।
स्वातिनामनि नक्षत्रे प्रभातसमये वरे ॥३३॥
तत्र सिद्धत्वमासाद्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकम्॥
भुङ्क्ते सुखं निरौपम्यं सोऽमूर्त्तो विषयातिगम्" ॥३४॥

(वर्द्धमानचरित्र—आचार्य सकलकीर्ति (वि० १५ वीं शताब्दी) पृष्ठ १२० का पूर्वार्द्ध

सम्बन्धी प्रमाण-कोटि में ही रक्खा है। अब रहा आचार्य जिनसेन का प्रमाण। पर इसमें चतुर्दशी, अमावास्या एवं पक्षान्त इनमें से किसी का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, अतः इसे किसी मत का परिपोषक नहीं कहा जा सकता।

निर्दिष्ट दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष अर्थात् महावीर की निर्वाण-तिथि कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि अथवा रात्रि का चतुर्थ प्रहर मानना ही अधिक समुचित प्रतीत होता है। इसी पक्ष का औचित्य बताने का प्रधान कारण यह है कि एक तो यह मत सर्व-प्राचीन है और दूसरा यह है कि इस मत के प्रतिपादक आचार्य वीरसेन आदि दिगम्बर जैनधर्म के स्तम्भ-स्वरूप हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इस विषय में कोई भी दिगम्बर जैन विद्वान् विरोध नहीं कर सकता कि आचार्य वीरसेन, गुणभद्र आदि के प्रतिपादन के समक्ष अर्वाचीन संस्कृत या भाषा-कवियों के प्रमाणों का उल्लेख अधिक उपादेय नहीं है। क्योंकि इन अर्वाचीन कवियों के मार्गदर्शक वे ही वीरसेनादिक हैं। सर्वसाधारण दिगम्बर जैनजनता भी 'जयधवल'

(ग) "कार्त्तिगवदि मावस गये, शेषकर्म हनि मोख।
पावापुरतें वीरजी, जजूं चरण गुण-पोख॥"
(श्रीचतुर्विंशतिजिनपूजा-विधान—रामचन्द्र (वि० १८ वीं शताब्दी, पृष्ठ १०६)

(घ) "कातिक श्याम अमावस शिवतिय, पावापुरतें परना।
गनफनि-वृन्द जजे तितबहु-विधि, मैं पूजो भयहरना"॥
(श्रीवर्तमान-चतुर्विंशति-जिन-पूजा—वृन्दावन (वि० २० वीं शताब्दी) पृष्ठ १०८ का पूर्वार्द्ध)

(ङ) "कलि कातिक मावस वीर गये, शिव जाय तहाँ सुखशर्म लये।
शिव पावापुर सर-बीच लहौ, हरिआय जजें तितकी सु मही॥
(चतुर्विंशति-जिन-पञ्च-कल्याणक-पूजा—बख्तावर सिंह (वि० २० वीं शताब्दी) पृष्ठ ४२)

४— क) "पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः॥१६॥
कार्त्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः।
अवशेषं सम्प्रापद्व्यजरामरमक्षयं सौख्यम्॥१७॥
(दशभक्ति—आचार्य पूज्यपाद (वि० ६ वीं शताब्दी) (पृष्ठ ११६—कल्लप्पसंस्करण)

(ख) "चतुर्थकालेऽर्द्ध चातुर्थमासकैर्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
सकार्त्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसु प्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः॥१६॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीं घनवद्विबन्धनः।
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम्॥१७॥
(हरिवंशपुराण—आचार्य जिनसेन (वि० ८ वीं शताब्दी) खण्ड २य, पृष्ठ ८००, सर्ग ६६)

आदि उच्चकोटि के प्रामाणिक एवं मौलिक सिद्धान्त-ग्रन्थों के सामने पूजापाठादि ग्रन्थों के मन्तव्यों को प्रमाणकोटि में मानने को कभी तैयार नहीं होगी।

अब यह प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि जब चतुर्दशी की रात्रि ही भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि है तो सकलकीर्त्ति, वृन्दावन और रामचन्द्र आदि संस्कृत एवं भाषा-कवियों ने अमावास्या क्यों लिख मारा ? इसका जवाब यह है कि भगवान् महावीर कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के चतुर्थ प्रहर अर्थात् सूर्योदय के निकटपूर्व में निर्वाण प्राप्त हुए थे। वह चतुर्दशी पूरी साठ घड़ी की रही होगी। इस हिसाब से सूर्योदय के बाद यानी भगवान् के निर्वाण के निकट-भविष्य में अमावस्या प्रारब्ध हो गई थी। अतः मेरी स्थूलबुद्धि में यही बात आती है कि निर्वाणतिथि अमावस्या बतलानेवाले सकलकीर्त्ति, वृन्दावन आदि विशेष विचार बिना किये ही साधारण दृष्टि से अमावास्या को ही निर्वाणतिथि लिख दिया है। बल्कि श्वेताम्बर भाई अमावस्या को ही निर्वाणतिथि मानते भी हैं—ऐसी दशा में यह भी संभव है कि इन दिगम्बर कवियों ने इन्हीं का अनुकरण किया हो। जिन प्रान्तों के—दक्षिण हो या उत्तर कवियों ने निर्वाणतिथि अमावास्या लिखी है उन प्रान्तों में आज भी निर्वाण-पूजा तो नियम से सूर्योदय के पहले चतुर्दशी की रात्रि को ही हो जाती है। हाँ, श्वेताम्बर भाई एक रोज बाद अर्थात् अमावस्या को निर्वाण-विधान सम्पन्न करते हैं। अपने दिगम्बर भाइयों की निर्वाण-पूजा के इस परम्परागत-प्रचलन से भी यही बात सिद्ध होती है कि वास्तव में दिगम्बराम्नाय के अनुसार भगवान् महावीर की निर्वाणतिथि चतुर्दशी ही थी।

निर्वाण-तिथि-परिपोषक पूर्व-प्रतिपादित कतिपय प्रमाणों में निर्वाणतिथि स्वाति नक्षत्रयुक्त चतुर्दशी की रात्रि लिखी मिलती है। मैंने भी कई पुराने पञ्चाङ्गों को देखा तो उनमें अधिकतर कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी के निशान्त में स्वाति-नक्षत्र के योग के ही समर्थक मिले। अमावास्या के साथ इस नक्षत्र का योग बहुत ही कम उपलब्ध हुआ। उद्धृत प्रमाणों में भी एकमात्र आचार्य सकलकीर्त्ति जी ही स्पष्टतया अमावस्या के साथ स्वातिनक्षत्र का सम्बन्ध मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि वास्तव में उस समय भी चतुर्दशी के साथ ही स्वाति का योग था और इसी तिथि को भगवान् महावीर ने मोक्षलक्ष्मी का वरण किया था।

कुछ दाक्षिणात्य ग्रन्थरचयिताओं ने भगवान् महावीर की निर्वाणतिथि आश्विन कृष्ण चतुर्दशी या अमावास्या भी लिखी है।* इस बात से साधारण जनता को आश्चर्यित होना

*"आश्विने कृष्णविमले अमावास्या-विशालके।
वर्द्धमानमयातारं (?) संयजामि शिवप्रदम्॥"
चतुर्विंशतितीर्थङ्करपूजा—पृष्ठ ३०

बहुत कुछ सम्भव है। किन्तु इसका कारण यह है—उत्तर भारत में कृष्ण प्रतिपद् से पूर्णिमा तक और दक्षिण भारत में शुक्ल प्रतिपद् से अमावास्या तक महीना माना जाता है। उत्तर-भारत में वर्षारम्भ चैत्र शुक्ल पक्ष से और वर्षान्त चैत्र कृष्ण पक्ष तक निर्द्धारित हैं। किन्तु दक्षिण में चैत्र शुक्ल पक्ष से वर्षारम्भ हो कर फाल्गुन कृष्ण पक्ष में समाप्त होता है। अर्थात् महीने के जो दो पक्ष हैं इनमें पहले कृष्ण और पीछे शुक्ल रखने की परिपाटी उत्तर भारत की है। पर दक्षिण में पहले ही शुक्ल पक्ष और बाद को कृष्ण पक्ष का प्रचलन चला आता है। श्रावण और चान्द्रमास के हिसाब से ही वर्ष का यह भेद उत्तर और दक्षिण में प्रचलित है।† अतः यहाँ का कार्त्तिक कृष्ण दक्षिण में आश्विन कृष्ण पक्ष होना स्वाभाविक है।

फिर भी वीरसेन, गुणभद्रादि आचार्यों ने दक्षिण के होते हुए भी अपनी अपनी कृतियों में भगवान महावीर की निर्वाण-तिथि कार्त्तिक मास में ही मानी है। और वास्तव में यह सिद्धान्त है भी ठीक, क्योंकि भगवान् महावीर का निर्वाण उत्तर भारत के ही पावापुर में हुआ है।

अस्तु अब मैं आजकल के जैन पञ्चाङ्ग और जैन तिथि-दर्पणों के सम्पादकों तथा प्रकाशकों के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना चाहता हूं। मुझे जहाँ तक मालूम है उत्तर भारत में दिगम्बर जैन-समाज में इस समय जैन पञ्चाङ्ग तो एक ही प्रकाशित होता है, और यह है भी पुराना। इसके सम्पादक एवं प्रकाशक स्वर्गीय पण्डित ज्योतिषरत्न जियालालजी के सुपुत्र पण्डित शिखरचन्दजी हैं। तिथिदर्पण कई जगहों से प्रकाशित होते हैं। इस समय मेरे सामने उक्त जैन पञ्चाङ्ग तथा 'जैन विजय प्रिंटिंग प्रेस' सूरत एवं इन्दौर से पण्डित अमोलकचंद जी-द्वारा प्रकाशित दो ही जैन तिथिदर्पण मौजूद हैं। इन्दौरवाले तिथिदर्पण में गत निर्वाणमहोत्सव मनाने की तिथि कार्त्तिक कृष्ण १४ शुक्रवार की रात्रि और अमावास्या शनिवार का प्रभात बतलायी है जो कि भ्रांतिपूर्ण है। इसका कारण यह है कि गुरुवार को पूरी साठ घड़ी की चतुर्दशी थी और निशान्त में नियमानुसार स्वाति-नक्षत्र का योग भी। शुक्रवार को सूर्य्योदय के बाद तो केवल एक घड़ी ४४ पल भर चतुर्दशी थी और बाद को अमावास्या। इस रोज किसी प्रकार सिद्धान्तानुसार चतुर्दशी व्रत के लिये मानी ही नहीं जा सकती। क्योंकि नियमानुकूल व्रत के लिये छः घड़ी से कम तिथि होनी ही नहीं चाहिये। शुक्रवार को सिर्फ एक घड़ी ४४ पल ही चतुर्दशी थी। ऐसी परिस्थिति में पता नहीं कि इस तिथिदर्पणने शुक्रवार को चतुर्दशी कैसे मान ली? *हाँ, पंचांगवाले ने शुक्रवार की रात्रि एवं शनिवार का प्रातःकाल* निर्वाणकाल लिखते हुए भी व्रत के लिये चतुर्दशी गुरुवार ही लिखी है। पंचांग एवं तिथिदर्पणवालों का शुक्रवार रात्रि एवं शनिवार प्रातःकाल को निर्वाणकाल लिखना इसलिये भ्रांतिपूर्ण है कि

† "दर्शावधिं चान्द्रमुशन्ति मासं, सौरं तथा भास्कनराशिचारात्।
त्रिंशद्दिनं श्रावणसंज्ञमुक्तं, नाक्षत्रमिन्दोर्भगणभ्रमाश्च॥"

चतुर्दशी तिथि तथा स्वाति-नक्षत्र का योग जो आर्ष सिद्धांतानुसार परमावश्यक हैं उक्त काल में इन दोनों का सर्वथा अभाव है। क्योंकि शुक्रवार को चतुर्दशी केवल एक घड़ी ४४ पल भर थी जो सिद्धान्तानुसार व्रत के लिये नितान्त अनुपयुक्त है। अब रहा स्वाति-नक्षत्र—सो यह भी शुक्रवार को लगभग ४ बजकर ५० मिनिट पर दिन में ही समाप्त-प्राय हो जाता है।*

अब सूरत के तिथि-दर्पण के निर्वाणकाल के प्रकाशन पर विचार करना है। टिप्पणी-रूप में दी गई इसकी सूचना से ज्ञात होता है कि यह तिथिदर्पण भी उक्त 'जैन कल्पतरु पञ्चाङ्ग' के आधार से ही तैयार किया गया है। किन्तु सन्तोष की बात है कि इसने अपने आधारभूत पञ्चाङ्ग की हाँ में हाँ न मिलाकर कार्त्तिक कृष्ण चतुर्दशी गुरुवार का निशान्त ही निर्वाणतिथि घोषित की है। और यह है भी ठीक। जैन पञ्चाङ्ग एवं तिथिदर्पणों के सम्पादकों एवं प्रकाशकों को मर्मज्ञ जैन विद्वानों की सम्मति लेकर प्रकाशित करना ही मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिये। ऐसा नहीं करने से जैनसमाज अपना व्रत-विधान समय पर नहीं कर के लाभ के बदले हानि उठाने लगेगा। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अल्पसंख्यक जैनियों के इने गिने तिथिदर्पणादिक भी एक मत नहीं हैं। इस का कारण यह है कि इन पत्रों के आधारभूत पञ्चाङ्ग भिन्न भिन्न हैं।

* देखें—हिन्दू विश्वविद्यालय का लोक-विश्रुत "विश्वपञ्चाङ्ग"।

जैनशिलालेख-विवरण

(लेखक—श्रीयुत प्रोफेसर गिरनौट)

(क्रमागत)

३५ शिवमोग्ग ज़िले के शिलालेख—सं० लुई राइस—पृ० ४६-४७ पर बेलगाम की जैनमूर्त्तियों तथा बन्दणिके के जैन-मंदिर का उल्लेख है। निम्नलिखित शिलालेख जैनों के हैं :—

नं०	तिथि	आशय
४	सन ११२२ ई०	काणूरगण की पट्टावली व जीर्णोद्धार।
१०	„ १०८५ „	मन्दिर-निर्माण व दान।
५७	„ १११५ „	काणूरगण की पट्टावली व मन्दिर-निर्माण।
६४	„ १११२ „	मन्दिर-निर्माण।
६५	„ १२०४ „	वीर बल्लाल द्वितीय का दान।
६६	„ १२२७ „	बालचन्द्र मुनि का उल्लेख।
८९	„ ११११ „	दान।
९७	„ १११३ „	बन्निकेरे में विशाल जैन-मन्दिर-निर्माण।
१०३	„ १२११ „	दान।
११४	„ ९५० „	मन्दिर-निर्माण व दान।

(E C, VII—VIII Bangalore 1902-04).

४० शिकारपुर ज़िले के शिलालेख—सं० लुई राइस :—

नं०	तिथि	आशय
८	१०८० (?)	मन्दिर-निर्माण व दान।
१२०	१०४८	दान।
१३६	१०६८	बलिग्रामस्थ शान्तिनाथ-मन्दिर को नृप सोमेश्वर प्रथम का दान।
१४८	११८६	सल्लेखना।
१९६	१२१२	"
१९७	११८२	मागुडि में शान्तिनाथ-मन्दिर-निर्माण नयकीर्त्ति मुनिचन्द्र का उल्लेख।

२००	११९०	नयकीर्ति के शिष्य का स्मारक।
२०२	१२११	समाधि।
२१९	९१८	दान।
२२१	१०७५	बन्दणिके के शान्तिनाथ-मन्दिर को दान।
२२५	१२०४	” ” ” ”
२२६	१२१३	काणूरगण तिन्त्रिणि गच्छ के शुभचन्द्र का स्मारक।
२२८-२३१	११००	जिनस्तुति।
२३२	१२००	शुभचन्द्र के शिष्य का उल्लेख।
३११	११००	मन्दिर-निर्माण।
३१७	१२०५	मन्दिर-निर्माण।
होन्नालि नं० ५	११६०	दिडुगुर में मन्दिर-निर्माण व दान (Ibid)

४१ **सोरब** ज़िले के शिला-लेख—सं० लुई राइस—भूमि का में पृ० ६ पर गङ्गवंशी जैन राजाओं का उल्लेख है। पृ० ८ गोआ के कदम्बवंशी राजा विजयादित्य प्रथम की रानी चट्टलदेवी (Cattaldevi) द्वारा जैन मन्दिर निर्माण का उल्लेख है। भ० महावीर से मुनि श्रीविजय तक की पट्टावली है। पृ० ९ पर सान्तरवंशी राजाओं का वर्णन है। पृ० १३—१४ पर विद्यानन्द स्वामी का चरित्र है। पृ० १६ पर हुम्बुच के जीर्ण जन मन्दिरों का विवरण है। जैन शिला-लेख निम्न प्रकार है :—

नं०	तिथि	आशय
२८	१२०८	शान्तिनाथ-मन्दिर-निर्माण व दान
५१	१४०५	?
५२	१३९४	जिनस्तुति।
१०१	१२९५	सूरस्थगण कुन्दकुन्द अन्वय के देवनन्दि का उल्लेख।
१०२-१२५	×	स्मारक।
१२७	११३१	सेन-गण पोगरिगच्छ के चन्द्रप्रभ मुनि के शिष्य माधवसेन का उल्लेख।
१४०	११९८	शान्तिनाथ-मन्दिर-निर्माण व दान।
१४६	१३८८	मुनिभद्र का स्मारक।

नं०	तिथि	आशय
१४९	११२९	
१५२	१३८०	
१५३	१४००	
१९६	१३७९	स्मारक।
१९८	१२९२	
१९९	१३७२	
२००-१	×	
२३३	११३९	तिन्तिणिगच्छ के भानुकीर्ति का दान।
२६०	१३६७	देशीगण के श्रुतमुनि के शिष्य देवचन्द्र का उल्लेख।
२६१	१४०८	समाधि।
२६२	१०७७	तिन्तिणि गच्छ कुन्द-कुन्द अन्वय के पद्मनन्दि की शिष्यपरंपरा।
२६३	१३४२ या १४०२	चन्द्रप्रभ की समाधि।
३२९	१४१५	स्मारक।
३३०	१४६५	पुस्तक गच्छ के देवचन्द्र का उल्लेख।
३३१	१४५६	स्मारक।
३४५	११७१	मुनिचन्द्र को दान।
३८४	१२३७	मुनिचद्र के शिष्य भानुकीर्ति को दान।

(Ibid, Part II)

४२—सागर ज़िले के शिलालेख—सं० लुई राइस। जैनलेख ये हैं:—

५५	१५६०	विजयनगर के सालुववंशी राजाओं और एक राजश्रेष्ठी का उल्लेख; जिन्होंने जैनमंदिर को दान दिया। ऐतिहासिक महत्त्व लिये हुए है।
६०	१४७२—७३	दान।
१५९	११५९	मंदिर-निर्माण व दान।
१६१-१६२	×	स्मारक।
१६३	१४८८	मंदिर-निर्माण के लिये राजा सालुवेन्द्र का दान।
१६४	१४९१	राजा सालुवेन्द्र का दान। (*Ibid.*)

४३—नगर ज़िले के शिलालेख—सं० लुई राइस। जैनलेख निम्न प्रकार हैं:—

३५	१०७७	रानी चट्टलदेवी-द्वारा मंदिर-निर्माण। महावीर स्वामी से श्रीविजय तक की शिष्य-परंपरा।

नं०	तिथि	आशय
३६	१०७७	रानी चट्टलदेवी ने पञ्चवसदि नामक मंदिर बनवाया। पट्टावली भी है।
३७	११४७	पट्टावली—महावीर स्वामी से श्रीपाल तक।
३९	१०७७	नं० ३६-३७ की भाँति। नन्दिगच्छ अरुङ्गलान्वय के हेमसेन व श्रेयांस मुनि का उल्लेख।
४०	१०७७-१०८७	चट्टलदेवी का दान।
४१	११२० (?)	अस्पष्ट।
४२	१०९८ „	लक्ष्मीसेन व पार्श्वसेन मुनियों का उल्लेख।
४३	१२९६ „	गुणसेन का समाधिमरण।
४४	१२५५	पुष्पसेन व अकलङ्क का वर्णन।
४६	१५३०	विद्यानन्द स्वामी का वर्णन व गुरुपरम्परा।
४७	१०६२	वीर सान्तर ने मंदिर में कुछ बनवाया।
५३	१२५५	देशीगण के बालचन्द्र मुनि का समाधिमरण।
५४	१२२० (?)	स्मारक।
५५	१२६८ (?)	मंदिर-निर्माण।
५६	१२४८	पार्श्वसेन का समाधिमरण।
५७	१०७७	तैल व वीर सान्तर का दान।
५८	१०६२	वीर सान्तर का दान।
५९	१०६६	तैल का दान।
६०	८९७	विक्रमादित्य सान्तर ने कुन्दकुन्दान्वय का मंदिर बनवाया। (*Ibid.*)

४४—तीर्थहल्ली ज़िले के शिलालेख—सं० लुई राइस। जैन लेख ये हैं :—

नं०	तिथि	आशय
१२१	१४८७	गुणसेन के शिष्य का समाधिमरण।
१६६	१६१०	विशालकीर्त्ति (बलात्कारगण) के शिष्य-द्वारा मंदिरनिर्माण।
१९१	११८०	पद्मप्रभ मुनि के शिष्य का समाधिमरण।
१९२	११०३	मंदिरनिर्माण व अरुङ्गलान्वय के अजितसेन की गुरुपरम्परा।
१९७	१३६३	तडतालस्थ पार्श्वनाथ-मंदिर का वर्णन।
१९८	१०९० (?)	स्मारक।
१९९	१०९३ (?)	पुस्तकगच्छीय शुभचन्द्र का समाधिमरण। (*Ibid.*)

हेमचन्द्राचार्य की दीक्षा कब और कहां हुई ?

(लेखक—श्रीयुत मुनि हिमांशु विजय न्याय-काव्य-तीर्थ)

आचार्य हेमचन्द्र सूरि विक्रम की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के एक महान् ज्योतिर्धर हुए हैं। इन्होंने जैन समाज में ही क्यों सारे गुजरात में एक नवीन युग को उत्पन्न किया है। साहित्य-क्षेत्र में तो एक भी विषय अवशिष्ट नहीं रखा है कि जिसमें इन्होंने अपनी अधिकार पूर्ण लेखनी नहीं चलाई हो।

चौलुक्य वंशीय सिद्धराज* जयसिंह और कुमारपाल जैसे प्रतापी राजाओं के इतिहास में हेमचन्द्राचार्य का उच्च स्थान है। इनके विषय में कई पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। इनका विस्तृत परिचय हमने "आचार्य हेमचन्द्र सूरि और उनका साहित्य" निबंध में दिया है।

आचार्य हेमचन्द्र पूर्वावस्था में 'धंधुका' के रहने वाले थे। मोढ जाति के 'चाचीग' शेठ के यह पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० ११४५ कार्त्तिक शुक्ला १५ को हुआ था। इनका नाम चांगदेव रक्खा गया था। इन्होंने छोटी उम्र में ही देवचन्द्र सूरि के पास जैनसाधु-दीक्षा ग्रहण की थी। वह दीक्षा किस वर्ष में और किस स्थान में हुई इस विषय में विचार करना प्रस्तुत लेखका उद्देश्य है।

सोमचन्द्र† की दीक्षा के स्थान और वर्ष के विषय में भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न भिन्न उल्लेख मिलते हैं. इसका विचार यहां करते हैं :—

१ प्रभावकचरित्रान्तर्गत हेमचन्द्रसूरि के चरित्र में स्तम्भनतीर्थ (खंभात) में वि० सं०‡ ११५० माघ शुक्ला १४ शनिवार को दीक्षा देना लिखा है।

२ प्रबन्धचिंतामणि में करीब|| आठ वर्ष की उम्र में 'चंगदेव' देवचन्द्र सूरि से मिला लिखा है और वहां से कर्णावती जाकर दीक्षा देने को लिखा है।

---

* सिद्धराज के विषय में देखो हमारा 'सिद्धराज जयसिंहेशुं कर्युं' नाम का लेख। कुमारपाल के विषय में हमने 'महाराजा कुमारपाल चौलुक्य' निबंध लिखा है जो 'भारतीय अनुशीलन ग्रंथ' में प्रकाशित हुआ है।

† 'प्रबंधकोष' में राजशेखरसूरि ने 'सोमदेव' लिखा है।

‡ "शरवेदेश्वरे वर्षे कार्त्तिके पूर्णिमानिशि।
जन्माभवत् प्रभोर्व्योमबाणशम्भौ व्रतं तथा ॥८४८॥"

|| "सः अष्टवर्षदेश्यः × × ×"

३ कुमारपाल-प्रबन्ध में पाँच वर्ष की उम्र में देवचन्द्र सूरि ने चंगदेव को देखा और वि० सं० ११५४ में कर्णावती* में दीक्षा देने का लिखा है।

४ कुमारपाल-प्रतिबोध में सोमप्रभसूरि ने खंभात† में चंगदेव को दीक्षित होने का लिखा है।

५ डॉ० जि० बुहलर (G. BUHLER) ने The Qaif of Jain mank Hemchander नाम की जर्मन भाषा के पुस्तक में वि० सं० ११५० को स्तम्भन तीर्थ में दीक्षा का होना लिखा है। अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने इन्हीं ग्रंथों के आधार से भिन्न भिन्न मत लिखा है।

इन पांच ग्रन्थों में से दो में हेमचन्द्र की दीक्षा का संवत् वि० सं० ११५० और दो में दीक्षा का स्थान कर्णावती लिखा है वह युक्त प्रतीत नहीं होता है। इनमें‡ काल-क्रमानुसार प्राचीन "कुमारपाल-प्रतिबोध" उसके पश्चात् का "प्रभावकचरित्र" तत्पश्चात् का "प्रबंध-चिंता-मणि" उसके बाद का "प्रबंध-कोष" और उसके बाद का "कुमारपाल-प्रबंध" (जिनमंडन का) है।

हेमचन्द्राचार्य की दीक्षा वि० सं० ११५० में पांच वर्ष की उम्र में हुई है यह बतलाने वाला प्राचीन ग्रंथ फक्त एक ही प्रभावक-चरित्र है, और बुहलर‖ साहब आदि ने इसके उल्लेख पर से वैसा माना है। प्रभावक-चरित्र से पूर्ववर्ती ग्रन्थ में पांच वर्ष का उल्लेख नहीं है। ऐसी छोटी उम्र में जैन साधु की दीक्षा देना जैन शास्त्रों में मना लिखा है। और देना उचित भी नहीं

---

* कर्णावती के विषय में देखो हमारा 'आचार्य हेमचन्द्रसूरि और उनका साहित्य' का नोट।

† गुणगुरुणा सह गुरुणा संपत्ते खंभतित्थम्मि।
तत्थ पयन्नो दिक्खं कुणमाणो सयल संघपरिओसं॥ कु० प्रतिबोध।

'खंभात' का नाम प्राकृत में 'खंभाइत्त' और 'थंभणपुर' तथा संस्कृत में स्तम्भनतीर्थ लिखा मिला है। "ताम्रलिप्ता" भी खंभात का नाम होना चाहिए। क्योंकि श्रीअजितप्रभसूरि-विरचित शान्तिनाथ-चरित्र के छट्ठे प्रस्ताव में ताम्रलिप्ती और स्थम्भनतीर्थ समुद्र के किनारे पर हैं, और पर्यायवाचक लिखा है। सिद्धराज के राज्य में यह बहुत बड़ा जिला था। यह अहमदाबाद से दक्षिण में आया है। तीर्थकल्प में 'स्तम्भनककल्प' भी है।

‡ इनका रचना-काल क्रमशः इस प्रकार है:—वि० सं० १२४१, १३३४, १३६१, १४०५, १४९२ और बुहलर साहब के ग्रंथ का ईस्वी सन १८८९।

‖ आगे जाते डॉ० जि० बुहलर साहब ने भी उसी हेमचन्द्राचार्य के चरित्र में कहा है कि "इनकी दीक्षा के समय के विषय में मेरुतुङ्ग (प्रबंधचिंतामणिकार) बहुत कर के सच्चे हैं (प्र० चिन्तामणि में दीक्षा की आठ वर्ष की लिखी है) और स्थान के विषय में प्रभावक-चरित्र बहुत करके सच्चा है"। इससे भी हमारे मत की पुष्टि होती है।

मालूम होता है, क्योंकि जैन साधु की क्रिया बड़ी कड़ी होती है। इसलिए वि० सं० ११५४ में करीब नौ वर्ष की उम्र में हेमचंद्र की दीक्षा हुई है ऐसा मानना उचित है। यानी वि० सं० ११५४ में हेमचन्द्राचार्य की दीक्षा हुई है ऐसा हमारा मत है।

अब रही स्थान (गांव) की बात :—

दो ग्रंथ के सिवा सभी ग्रंथों में स्तम्भनतीर्थ (खंभात) में हेमचद्र की दीक्षा होना लिखा है। और यही ठीक है। अगर 'कर्णावती' में दीक्षा मानी जाय तो घटित-संगत नहीं होती है। "कर्णावती" को कर्ण ने बसाई थी और वहाँ वह सम्पूर्ण अधिकार स्वातन्त्र्य से रहता था। जब कि "उदयन" सिद्धराज जयसिंह का मन्त्री था और वह सिद्धराज के वि० सं० ११५० में राज्यारूढ़ होने के कुछ वर्षों के बाद खंभात का मंत्री हुआ था। पहले वह कर्णावती में गया जरूर था परन्तु बड़ा अधिकारी (सरसूबा) सो खंभात में ही हुआ होगा।* उदयन मंत्री ने हेमचंद्र की दीक्षा में मुख्य भाग लिया था†।

दूसरी बात यह भी है कि कुमारपाल ने हेमचंद्र की दीक्षा की स्मृति में खंभात‡ में ही मंदिर बनवाया ऐसा उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है तो इससे भी साफ निश्चय हो जाता है कि इनकी दीक्षा खंभात में ही हुई थी। अगर कर्णावती में होती तो वहीं पर मन्दिर बनता, क्योंकि कर्णावती कुमारपाल के अधिकार में थी।

इससे हेमचन्द्राचार्य के विषय में हमारा मत है कि इनकी दीक्षा करीब नौ वर्ष की उम्र में स्तम्भनतीर्थ (खंभात) में ही हुई थी।

आचार्य हेमचन्द्र का इतिहास में बड़ा ऊँचा स्थान है। इसलिये हमें चाहिये कि इनके जीवन और साहित्य के विषय में खूब परामर्श करें।

---

* पूर्वकाल में भारतवर्ष में बड़े बड़े राज्याधिकारी, कौंसिलर, सूबा, सरसूबा आदि 'मंत्री' या 'अमात्य' शब्द से पहचाने जाते थे। और मुख्य दीवान 'महामंत्री' या 'महामात्य' शब्द से पुकारे जाते थे।

† देखो प्रभावक-चरित्र और प्रबन्ध-चिन्तामणि।

‡ स्तम्भतीर्थे हेमाचार्यदीक्षास्थाने श्रीआलिगाख्या वसतिः श्रीगुरुस्नेहेन राज्ञ (?) श्रीवीरबिम्बरसौवर्णगुरुपादुकाविराजिताऽकारि।

—कुमारपाल-प्रबंध (जिनमंडन-कृत)

वसदि या वस्ति शब्द की कुछ समीक्षा

(लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री)

दक्षिण भारत के अनेक कन्नड शिला-लेखों एवं ग्रन्थों में जैन मन्दिर के लिये 'बसदि' या 'बस्ति' शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यह 'बसदि' संस्कृत तत्सम 'वसति' (ती) का तद्भव-रूप है। इस बात को प्रसिद्ध "शब्द-मणि-दर्पण" नामक कन्नड-व्याकरण के प्रणेता केशिराज ने स्वयं व्यक्त किया है❀। अब रहा 'बस्ति' शब्द। पर मैं समझता हूं कि 'वसति' संस्कृत शब्द का इसे अर्द्ध तद्भव होने में कोई सन्देह ही नहीं कर सकता। यों तो हिन्दी-भाषा में भी 'बस्ती' शब्द का प्रयोग बड़े धड़ल्ले के साथ होता है, किन्तु वहाँ पर इसका अर्थ किसी मन्दिर-विशेष के लिये व्यवहृत न होकर ग्राम-मात्र के लिये होता है।

लगभग ईस्वी सन् १४५० के बोम्मरस-विरचित "चतुरास्य-निघण्टु" नाम के कन्नड कोश से भी सिद्ध होता है कि 'बसदि' जिन-मन्दिर के लिये ही प्रयुक्त होता था†। इसका स्पष्टीकरण कित्तलर महाशय के कन्नड इंगलिश-कोश पृष्ठ १०९१ से भी हो जाता है‡। 'बसदि' एवं 'निसिधि' शब्दों का व्यवहार उत्तर भारत में नहीं मिलता, इससे मालूम होता है कि ये दोनों शब्द दक्षिण भारत में ही व्यवहार-रूप में रहे। हाँ अपवाद-रूप में खारवेल के हाथी-गुफा के शिला-लेख में 'निसीदिय' शब्द केवल अवश्य आया है×। पर 'बसदि' या 'बस्ति' शब्द का उल्लेख कहीं भी अभी तक मुझे दृष्टि-गोचर नहीं हुआ है।

प्राकृत कोशों में संस्कृत 'वसति' का, जिससे 'बसदि' शब्द बना है 'वसइ'+ अथवा 'वसहि'¶ रूप मिलता है। साथ ही साथ जैन संस्कृत-कोश में वसति शब्द का जिनमन्दिर

❀ देखें—सन् १९२० का संस्करण पृष्ठ ३९८ और ४०२

† देखें—"कन्नडकविचरिते" भाग २, पृष्ठ ९२

‡ यह कोश The Besel Mission Press Mangalore से प्रकाशित हुआ है।

× इस शब्द की विशेष जानकारी के लिये भास्कर भाग २, पृष्ठ १३७ देखें।

+ देखें—"पाइअ-सद्द-महाण्णवो" (प्राकृत शब्द-महार्णव)

¶ देखें—"अभिधान-राजेन्द्र"

के अर्थ में भी प्रयोग उपलब्ध होता है।*

'निसिधि' शब्द शक १०३७ के विजय संवत्सर अर्थात् ई० सन् १११३ के श्रवण-बेळ्गोळ के १२६ के शिलालेख एवं शक १०३७ मन्मथ संवत्सर अर्थात् ई० सन् १११५ के (श्रवणबेळ्गोळ के) १२७ के शिला-लेख में प्रथमतः पाया जाता है। इसी प्रकार 'बसदि' शब्द गंगवंशीय मारसिंह के मरण (ई० सन् ९७४) के कुछ काल बाद के श्रवणबेळ्गोळ के ६९ एवं शक सं० १२०० ई० सन् १२७८ के १३७ के शिलालेख† में पाया जाता है। पश्चात् ई० सन् ११४० के "पंपरामायण" (VII. 137 गद्य-भाग) में यह शब्द दृष्टिगोचर होता है। ई० सन् १३६९ के 'बसव-पुराण' में तो 'बसदि' शब्द अनेकत्र मिलता है। 'बस्ति' शब्द भी लगभग शक सं० ११०३ ई० सन् ११८१ के १०७ के श्रवणबेळ्गोळ के शिलालेख में पाया जाता है।

अब सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यह 'बसदि' या 'बस्ति' शब्द जैनेतर मन्दिरों के लिये प्रयुक्त न होकर केवल जैन मन्दिरों के लिये ही क्यों व्यवहृत होता आ रहा है। मेरे जानते तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि हिन्दू-मन्दिरों मे विभिन्नता सूचित करने के लिये ही यह विशिष्ट नाम चल पड़ा है। बल्कि उन दक्षिण प्रान्तों में आज भी जैन एवं जैनेतर-समाज को इन नामों के श्रवणमात्र से ही जिनमन्दिर का भास अनायास हो जाता है।

संभव है कि जिन-मन्दिर के अथ में "बसदि" या "बस्ति" इस नाम-प्रचलन का और भी कोई दूसरा कारण हो। संस्कृत ग्रन्थ में तो जिन-मन्दिर के लिये—जिन-गृह, जिन-गेह, जिन-वेश्म, जिन-निकेतन, जिन-सदन, जिन-भवन, जिनागार, जिन-निलय, जिनालय और जिन-वास आदि ही नाम देखने में आते हैं। अतः अन्वेषक विद्वानों से मेरा सविनय अनुरोध है कि वे इसका प्रकृत कारण उल्लिखित ही है या और भी—इसका अन्वेषण करने की अवश्य चेष्टा करें। मैं तो यावच्छक्य इसका पता लगाने का उद्योग करता रहूंगा ही। खास कर दाक्षिणात्य विद्वानों से इस विषय में मेरा विशेष आग्रह है। इसका कारण यह कि यह शब्द दक्षिण में ही प्रचलित है और वहीं की प्रान्तीय भाषा से विनिस्सृत है भी। मित्रवर श्रीयुत गोविन्द पै जी ने इस विषय में खोज करने का मुझे आश्वासन दिया है। बल्कि उन्हीं की प्रेरणा से विद्वानों के समक्ष सूचना-रूप में यह 'समीक्षा' रक्खी गई है।

---

* देखें—"वनितं याचिते क्लीबं शोधिते वनितं त्रिपु।
वसतिः स्यान्निशावेश्मावस्थानेष्वर्हदाश्रमे।"—"विश्वलोचनकोश"

† हुंबुच के ई० सन् १०७७ के शिलालेख में भी 'बसदि' शब्द मिलता है।

श्रीमद्भट्टाकलंक देव

(लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, M. R.. A. S.)

——:卍:——

श्रीमद्भट्टाकलंकस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया॥
(ज्ञानार्णव)

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के आचार्यों में श्रीमद्भट्टाकलंक देव का आसन महान् है। आधुनिक विद्वानों ने प्रातःस्मरणीय श्रीसमन्तभद्र स्वामी के उपरान्त अकलंकदेव को ही प्रमुख पद पर आसीन किया है *। सचमुच है भी बात योंही। अकलंकदेव ने अपने समय में जैन धर्म पर छाये हुए परवादियों के काले काले बादलों को अपनी प्रचण्ड वाक्-पवन से छिन्न भिन्न कर दिया था। उनके अध्यवसाय से जैनधर्म का सूर्य एकबार फिर खूब ही चमका था। जैनियों में नया जीवन आया था। उनको अकलंक प्रभु में भरोसा था। वे जानते थे कि—हमारी अटकी बात को बनाने वाला मौजूद है। अकलंक देव की दिग्विजय ने निस्सन्देह उस समय के जैन-संघ की काया पलट कर दी थी। उन्हीं का प्रभाव था, कि—उनके बाद कर्नाटक प्रान्त में विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि, वादिसिंह प्रभृति, अनेक तार्किक जैन विद्वान अवतीर्ण हुए थे, जिन्होंने अपने अस्तित्व और कृतियों से जैनधर्म को परवादियों के लिए अभेद्य और अजेय बना दिया था।

---

* श्रीमान् पं० गजाधर लाल जैन, न्यायतीर्थ साहित्यशास्त्री ने 'तत्वार्थराजवर्त्तिक-टीका' में लिखा है—"श्रीसमंतभद्रभगवतोऽनंतरं विधातुः किलैतद्ग्रन्थरत्नस्य श्रीमद्भट्टाकलंकस्यैव समवर्तिष्ट भुवि गरीयसी विश्रुतिः। प्रसर्यते च सर्वतः प्राक् तस्यैव देवस्य नाम। न केवलं कृतिरेव तदीया तन्महत्त्वजननी समजनि, किन्तु—स्वसामयिकविद्वत्सु तस्य प्रबलदिग्विजयित्वात् तादात्विकार्हतधर्मततिस्तज्जीवनान्महती प्रभाववती सती व्यद्योतिष्ट।" इत्यादि (पृष्ठ ५)

जैन इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमान् पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी यही बात "श्रीलघीयस्त्रयादि-संग्रह" में भट्टाकलंक देव का परिचय लिखते हुए यों लिखी है :—

"'स्वस्ति श्रीमद्दिगम्बराचार्यवर्याणां परम्परायां श्रीस्वामिसमन्तभद्रजीवनसमयमतिक्रम्य ये ये विद्वद्वरेण्याः समभूवन् तेषु भगवानकलंकः सकलाभिरूपगरिष्ठस्समभूत्। नायं भगवान् केवलं ग्रंथरचना-चातुर्येणैव कृतधियां स्तुतिपथमवातरत् किन्तु—तदानीतनदुर्वादिविजयसंपादित-जिनधर्म पुनर्जीवनोपकारेणापि, इति जानन्तु।"

कर्णाटक देश में यद्यपि भट्टाकलंक नाम के एक दूसरे आचार्य (संभवतः १६ वीं शताब्दी में) हुये हैं, जो कन्नड 'शब्दानुशासन' ग्रन्थ के रचयिता थे, परन्तु नाम साम्य होने पर भी श्रीमद् अकलंक देव की ही वहां बहु प्रसिद्धि है। उन्हें कोई लोग अकलंक चन्द्र भी कहते हैं। उन महान् आचार्य के पवित्र जीवन पर एक नज़र डालने का प्रयत्न निम्न पंक्तियों में किया गया है :—

प्रारम्भिकजीवन

महापुरुष काम चाहते हैं—नाम से उन्हें कोई सरोकार नहीं। लोगों की दृष्टि में उन विभूतियों के महान् कार्य ही मूर्त्तिमान हो जीवित रहते है। उनका प्रारम्भिक जीवन बहुधा भुला दिया जाता है। यदि न भी भुलाया जाय, तो वह इतना संदिग्ध और असंबद्ध होता है कि सहसा उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भट्टाकलंक देव के प्रारम्भिक जीवन के विषय में भी यही बात है। वह महापुरुष थे—उनका जीवन उक्त नियम से अछूता क्यों रहता? परन्तु मानव-बुद्धि की जिज्ञासा अपार है। उनकी मनस्तुष्टि करनी ही होती है। जब एक जमाना गुजर गया और लोगों को यह पता न लगा कि—भट्टाकलंक देव कौन थे? तो उन्होंने अपने गुरुओं से उनका परिचय मांगा। बेचारे गुरु क्या करते? कोई यथार्थ चरित्र तो किसी ने कहीं लिख नहीं छोड़ा था—हां गुरु-परम्परा से उन्होंने जो कुछ सुन रक्खा था, उसी के आधार से उन्होंने अपने शिष्यों की जिज्ञासा को पूरा किया। परिणाम-स्वरूप हमें निम्न लिखित जैनग्रंथों में श्रीमद्भट्टाकलंक देव के जीवन-चरित्र का वर्णन भिन्न भिन्न रूप में मिलता है :—

(१) आराधना-कथाकोश—में लिखा है कि—मान्यखेट नगर का राजा शुभतुंग था, उसके मंत्री का नाम पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम की स्त्री पद्मावती थी और उनकी कोख से अकलंक और निकलंक नाम के दो पुत्र हुए। अष्टाह्निका पर्व के सुअवसर पर मंत्री-कुटुम्ब किन्हीं रविगुप्त नामक मुनि की वन्दना करने गया। उन मुनिराज से मंत्री और उनकी स्त्री ने आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण किया, कौतुक-वश उन्होंने अपने पुत्रों को भी वह व्रत दिलवा दिया। जब वे बड़े हुए तो मंत्री महोदय ने उनका विवाह करना चाहा, परन्तु—उन्होंने अपने को ब्रह्मचारी बतला कर विवाह करने से इन्कार कर दिया। अब दोनों भाई विद्याभ्यास करने लगे, जब विद्वान् हुए तो उन्हें बौद्ध-शास्त्रों के अध्ययन की इच्छा हुई। मान्यखेट में इस विषय का कोई योग्य विद्वान् न था। इसलिए वह महाबोधि नामक स्थान में जाकर बौद्ध शास्त्र पढ़ने लगे। एक दिन जैनधर्म के सप्तभंगी सिद्धान्त का प्रकरण बतलाते हुए बौद्ध-गुरु अशुद्ध-पाठ के कारण उसे ठीक न कह सके। अकलंक-

निकलंक ने उसे ठीक कर दिया, बौद्ध-गुरु को सन्देह हुआ कि विद्यार्थियों में जैनी मौजूद हैं। उनका पता लगाने के लिए उसने कई उपाय रचे और आखिर पता लगा लिया। दोनों भाई पकड़ लिये गये और एक सतखने महल में बन्द कर दिये गये। दोनों के प्राण संकट में थे। भाग्यवश उनके पास एक छत्री निकल आई। वे दोनों उसके सहारे कूद पड़े और एक ओर को भाग निकले, सवेरे जब उनके भाग जाने का पता चला तो बौद्धों ने बहुत से सवार उनकी खोज में दौड़ाये। भाइयों ने सवारों को आते देखा। निकलंक की प्रेरणा से अकलंक एक तालाब में जा छिपे, परन्तु निकलंक प्राण लिये भागते ही गये। एक धोबी भी उनके साथ हो लिया। कुछ समय में सवारों ने इन दोनों को पकड़ लिया और दोनों का सिर उतार लिया, बेचारा धोबी अकलंक के धोखे में मारा गया। उसी समय कलिंग-देश के रत्न-संचय पुर में हिमशीतल राजा की मदन-सुन्दरी नाम की रानी परम जिनभक्त थी। वह जैनरथ निकलवा रही थी: परन्तु संघश्रीनामक बौद्ध-गुरु ने यह कह कर अड़चन डाल दी, कि जब तक जैन विद्वान मुझ से शास्त्रार्थ न कर लें, जैनरथ न निकाला जाय। वहाँ कोई समर्थ जैन विद्वान न था, रानी इस संकट में णमोकार मंत्र का जाप करने लगी। भाग्यवशात् अकलंक देव वहाँ पहुंचे और इन्होंने हिमशीतल राजा की सभा में बौद्ध गुरु से शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ छह महीने तक हुआ। उपरान्त पद्मावती देवी से अकलंक देव को मालूम हुआ कि बौद्ध देवी तारा परदे की ओट में से वाद करती है। तब उन्होंने परदे को हटा कर उस घड़े को लात से फोड़ दिया, जिसमें तारा स्थापित थी, संघश्री पराजित हुआ। जैनरथ खूब उत्साह से निकला; धर्म की महती प्रभावना हुई।

(२) प्रभाचन्द्र जी के "गद्य-कथा-कोष" में भी अकलंक देव का चरित्र उक्त प्रकार वर्णित था; क्योंकि उसी का रूप ब्रह्म नेमिदत्त ने (१६ वीं श० में) "आराधना-कथाकोष" में पद्यमय कर दिया है। इसके पहिले किसी ग्रन्थ में उसका पता नहीं चलता।

(३) श्रीदेवचन्द्र कृत कन्नड ग्रंथ "राजावली-कथे" में जिस प्रकार अकलंक-चरित्र वर्णित है उसका सार अन्य कथाओं के साथ राइस सा० के वर्णनानुसार इस प्रकार है :—

'जिस समय कांची में बौद्धों ने जैनधर्म की प्रगति को बिलकुल रोक दिया था, उस समय जिनदास नामक जैन ब्राह्मण के यहां उसकी स्त्री जिनमती से अकलंक और निकलंक नाम के दो पुत्र थे। वहां पर उनके सम्प्रदाय का कोई पढ़ानेवाला नहीं था। इसलिये इन दोनों बालकों ने गुप्त रीति से भगवद्दास नाम के बौद्ध गुरु से (जिसके मठ में पांच सौ चेले थे) पढ़ना शुरू किया। एक कथाकार कहता है कि—उन्होंने ऐसी असाधारण शीघ्रता के साथ उन्नति की कि गुरु को संदेह हो गया और उसने यह जानने का निश्चय किया कि वे कौन हैं? अतः एक रात्रि को जब वे सोते थे; उस बौद्ध गुरु ने बुद्ध का दांत उनकी छाती पर

रख दिया, इससे बालक "जिनबुद्ध" कहते हुए एक दम उठ खड़े हुए और इससे गुरु को मालूम हो गया कि—ये जैन हैं। दूसरी कथा के आधार पर यह वर्णन है कि—उन बालकों ने एक दिन जब कि गुरु कुछ मिनट के लिये उनसे अलग हुआ था, एक हस्तलिखित पुस्तक में ये शब्द जोड़ दिये थे, कि—"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" और इस बात की छान-बीन करने पर गुरु को मालूम हो गया कि वे जैन हैं। दोनों कथाओं में चाहे जो सची हो, आखिर नतीजा यह हुआ, कि उनके मारने का निश्चय किया गया, और वे दोनों भाग निकले। निकलंक ने अपना पकड़ाजाना और मारा जाना स्वीकार किया, ताकि उसके भाई को पीछा करने वालों से बचने का अवसर मिल जाय। अकलंक ने एक धोबी की सहायता से—जिसने उनको अपने कपड़ों की गठरी में छिपा लिया—अपने को बचा लिया और दीक्षा लेकर सुधापुर के देशीय गण का आचार्य-पद सुशोभित किया। इस समय अनेक मतों के विद्वान् आचार्य बौद्धों से वाद-विवाद में हार खाकर दुःखी हो रहे थे, उनमें से वीर-शैव सम्प्रदाय के आचार्य सुधापुर में अकलंक देव के पास आये और उनसे उन्होंने सब हाल कहा। इस पर अकलंक देव ने वहां जाने और बौद्धों पर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। अकलंक ने अपनी मयूर-पिच्छि को छुपाकर—जिससे वे जैन-मती जाने जाते—बौद्धों को यह विश्वास दिलाने की योजना की कि वे शैव हैं और इस ढंग पर उनको वाद में जीतकर पीछे उन्हें अपनी मयूर पिच्छि दिखला दी, इस पर बौद्ध-लोग बहुत ही क्रुद्ध और उत्तेजित हुए। कांची के बौद्धों ने जैनियों का हमेशा के लिए अन्त कर डालने के अभिप्राय से अपने राजा हिमशीतल को इस बात के लिए उत्तेजित किया, कि अकलंक को इस शर्त्त के साथ उनसे वाद करने के लिए बुलाया जाय, कि जो कोई वाद में हार जाय उसके सम्प्रदाय के कुल मनुष्य कोल्हू में पिलवा दिये जायं। बौद्धों की तरफ से इस बड़े भारी वाद-युद्ध की तैयारियों का होना असामान्य था; परन्तु इस विषय पर जितनी कथायें हैं, उन सब में ऐसा ही बयान किया जाता है। बौद्धों ने परदे की ओट में ताड़ी का मृत्कुंभ रक्खा और उसमें अपनी तारा देवी का आह्वान कर के उसको उन सब पत्तों का यथाक्रम उत्तर देने के लिये प्रेरित किया—जो अकलंक की तरफ से उठाये जायं। कुछ कथाकारों के मत से यह वाद ७ दिन तक और कुछ के मत से १७ दिन तक चलता रहा, जिसमें अकलंक को कोई लाभ न पहुंचा, जब परिणाम के लिये अकलंक बहुत ही उत्कण्ठित होने लगे तब कुष्माण्डिनी देवी ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया और बतलाया कि—यदि तुम अपने प्रश्नों को प्रकारान्तर से करो, तो विजयी हो जाओगे। अगले दिन ऐसा ही किया गया। घड़े की देवी से कोई उत्तर न बन सका और जैनियों की जीत हो गई। तब अकलंक ने उस परदे को फाड़ कर घड़े को बाईं लात की ठोकर से फोड़ डाला। इस समस्त घटना का परिणाम यह हुआ,

कि राजा हिमशीतल को उन समस्त प्रपंचों का हाल मालूम हो गया, जिन पर बौद्ध लोग भरोसा रखते थे। और साथ ही यह देख कर कि "एक हाथी ने जो खुला छोड़ा गया था, बौद्धों की पुस्तकों को पैरों से मथ डाला, और जैन-ग्रन्थों को अपनी सूंड से उठा कर मस्तक पर रक्खा" उसने बौद्धों को कोल्हू में पिलवा देने का हुक्म दे दिया। परन्तु अकलंक की प्रार्थना पर बौद्धों को न मार कर वह इस बात पर सम्मत हो गया, कि—बौद्धों को एक दूर देश में निर्वासित कर दिया जाय, और इस लिए वे समस्त बौद्ध सीलोन के एक नगर "कैंडी" को निर्वासित कर दिये गये।"*

ये कथायें अकलंकदेव से बहुत बाद की रची हुई हैं। उस समय की रची हुई हैं, कि—जब अकलंक नाम के कई प्रसिद्ध जैनाचार्य हो चुके थे। इस लिए इन कथाओं में वर्णित बातों पर सावधानी से विश्वास करने की आवश्यकता है। तो भी निम्नलिखित बातों में वे एक मत हैं :—

(१) अकलंक का एक भाई निकलंक भी था।

(२) उन दोनों ने बौद्ध-विद्यालय में विशेष अध्ययन किया था।

(३) बौद्धों को उनका जैनी होना मालूम होने पर निकलंक को उनके हाथों अपने अमूल्य प्राण गँवाने पड़े; और—

(४) अकलंक ने बौद्धों से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की।

कथाओं की उपर्युक्त बातों में से केवल अन्तिम अर्थात् बौद्धों से वाद करने की बात एक ऐसी है जिसका समर्थन अन्य प्राचीन साक्षी से होता है। श्रवण बेलगोल की मल्लिषेण-प्रशस्ति में इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है† —

'तारा येन विनिर्जिता घटकुटी गूढ़ावतारा समं-
बौद्धैर्योधृतपीडपीडितकुदृग्देवार्थ—सेवाऽञ्जलिः।
प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजः स्नानं च यस्याचर—
द्दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलंकः कृती॥

"चूर्णिः। यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते—

राजन्! साहसतुङ्ग! सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः,
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।

---

* जैनहितैषी, भा० ११ पृ० ४२५-४२६, जैनहितैषी भा० ११ अङ्क ७-८ में प्रकट हुये 'भट्टाकलंकदेव' शीर्षक लेख से हमें विशेष सहाय्य मिला है, एतदर्थ हम उसके मान्य लेखक के आभारी हैं।

† जैन-शिलालेख-संग्रह (मा० ग्र०)

तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो-
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ॥
राजन् ! सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध—
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम् ।
नो चेदेषोऽहमेते तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महान्तो-
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ॥
नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया ।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो-
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः ॥

भावार्थ—जिसने घड़े में बैठ कर गुप्तरूप से शास्त्रार्थ करने वाली तारादेवी को बौद्ध-विद्वानों सहित परास्त किया (दूसरे चरण का अर्थ स्पष्ट नहीं होता) और जिसके चरण कमलों की रज में स्नान कर के बौद्धों ने अपने दोषों का प्रायश्चित्त किया। उस महात्मा अकलंक देव की प्रशंसा कौन कर सकता है ?

"सुनते हैं, उन्होंने एकबार अपने अनन्य साधारण गुणों का इस तरह वर्णन किया था—साहसतुंग ! नरेश ! यद्यपि सफेद छत्र के धारण करने वाले राजा बहुत हैं परन्तु तेरे समान रणविजयी तथा दानी राजा और नहीं है। इसी तरह पण्डित तो और भी बहुत से हैं; परन्तु मेरे समान नाना शास्त्रों का जानने वाला पण्डित, कवि, वादीश्वर और वाग्मी इस कलिकाल में और कोई नहीं।"

"राजन् ! जिस तरह तू अपने शत्रुओं का अभिमान नष्ट करने में चतुर है उसी तरह मैं भी पृथ्वी के सारे पण्डितों का मद उतार देने में प्रसिद्ध हूं। यदि ऐसा नहीं है, तो तेरी सभा में जो अनेक बड़े बड़े विद्वान् मौजूद हैं, उनमें से किसी की शक्ति हो, तो मुझ से बात करें।

"मैंने राजा हिमशीतल की सभा में जो सारे बौद्धों को हरा कर तारा देवी के घड़े को फोड़ डाला, सो यह काम मैंने कुछ अहंकार के वशवर्त्ती होकर नहीं किया, मेरा उनसे द्वेष भी नहीं; किन्तु नैरात्म्य-मत के प्रचार से लोग नष्ट हो रहे थे उन पर मुझे दया आई और इसके कारण मैंने बौद्धों को पराजित किया।"*

शक संवत् ९४८ में महाकवि वादिराजसूरि ने "पार्श्वनाथचरित्र" रचा था। उसमें भी इस बात का उल्लेख है :—

'तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः ।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिताः शाक्यदस्यवः ॥'

* जैनहितैषी भा० ११ पृष्ठ ४२६, ४२७।

इससे स्पष्ट है कि—मल्लिषेण-प्रशस्ति से भी पहिले यह बात प्रसिद्ध थी, कि अकलंक देव ने बौद्ध दस्युओं को दण्डित किया अथवा उनके साथ शास्त्रार्थ कर के उन्हें परास्त किया था।

श्रीअकलंक-स्तोत्र में भी इसी आशय के पोषक निम्न श्लोक मिलते हैं :—*

"नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो-
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य स घटः पादेन विस्फालितः', ॥१३॥
"किं वाद्यो भगवानमेयमहिमा देवोऽकलंकः कलौ-
काले यो जनतासुधर्मनिहितो देवोऽकलंको जिनः।
यस्य स्फारविवेकमुद्रलहरी जालप्रमेयाकुला
निर्मग्ना तनुतेतरां भगवती तारा शिरःकम्पनम् ॥१५॥"
"सा तारा खलु देवता भगवती मन्यापि मन्यामहे
षण्मासावधि जाड्य शां (?) ख्यभगवद्भट्टाकलंकप्रभोः।
वाक्कल्लोलपरम्पराभिरमते नूनं मनोमज्जन—
व्यापारं सहतेस्म विस्मितमतिः संताडितेतस्ततः ॥१६॥"

इन श्लोकों में पहिला श्लोक वही है जो मल्लिषेण-प्रशस्ति में मिलता है और इसे स्वयं अकलंक देव के द्वारा कहा गया मानने में कोई बाधा नहीं दिखती। शेष श्लोक शायद उनके किसी भक्त शिष्य ने रचे होंगे। शायद इन्हीं श्लोकों के कारण अकलंक-स्तोत्र की रचना में संशय किया जाता है। परन्तु इनका स्तोत्र के अन्त में होना यही सिद्ध करता है कि स्तोत्र श्रीअकलंक देव का रचा हुआ है। कम से कम उस समय और उस व्यक्ति के निकट तो यह अवश्य ही उनकी रचना थी जिस समय जिस व्यक्ति ने उक्त दो प्रशंसात्मक श्लोक स्तोत्र के अन्त में जोड़े थे ‡। जो हो, यह स्पष्ट है कि अकलंक देव का बौद्धों से शास्त्रार्थ करने की घटना स्वयं उनके द्वारा निर्दिष्ट और एक वास्तविक वार्त्ता है। अब रही शेष तीन बातें, उनको भी सच मानने में कोई बाधा नहीं थी, यदि कथाओं में बताया गया अकलंक देव का मातृ-पितृ-परिचय यथार्थ होता। हम देखते हैं कि—वह बिलकुल गलत है। क्योंकि—

* अकलंक-चरित और अकलंक-स्तोत्र (बम्बई) पृ० १०-१२

‡ श्रीअकलंकदेव-रचित 'लघीयस्त्रयम्' ग्रन्थ के अन्त में भी 'नाभ्यासस्ताद्गस्ति' इत्यादि चार श्लोक श्रीअकलंक देव की प्रशंसा में अकलंकस्तोत्र की तरह मिलते हैं। (मा० ग्र० प्रथम पुष्प पृ० १०२-१०३)

उनके 'राजवर्त्तिकालंकार' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि वे "लघु हव्व" नामक राजा के पुत्र थे—

" जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥"

ऐसी हालत में उनके आधारमात्र से निकलंक के शहीद होने की बात कैसे सच मान ली जाय ? उधर श्वेताम्बर-समाज में हंस-परम-हंस का ऐसा ही कथानक मिलता है। जिसके कारण उक्त दिगम्बर कथाएं और भी संदिग्ध हो जाती हैं। परन्तु इस सब के होते हुए भी यह जी को नहीं लगता कि श्रीप्रभाचन्द्र-प्रभृति विद्वानों ने अकारण और बिलकुल निराधार-रूप से उक्त कथाएं गढ़ डाली हों। हमारे ख़याल से कई 'अकलंक' नामधारी व्यक्तियों ने उनको भ्रम में डाल दिया है। पहिले हम कर्णाटक-शब्दानुशासन नामक ग्रन्थ के रचयिता भट्टाकलंक का उल्लेख कर चुके हैं। इन भट्टाकलंक के विषय में उक्त ग्रन्थ में लिखा है, कि वह सङ्गीतपुर* जैनमठ के आचार्य अकलंक देव के शिष्य थे; न्यायशास्त्रों के वेत्ता, कन्नड और संस्कृत व्याकरण के पारगामी और दक्ष टीकाकार थे; उन्होंने कई अवसरों पर विविध राज-दरबारों में जैन पक्ष को सत्य सिद्ध कर के धर्म-प्रभावना की थी और उन्होंने "मंजरी-मकरंद" नामक ग्रन्थ शक १५२६ (सन् १६०४) में रच कर समाप्त किया था। इनके गुरु अकलंक देव के विषय में कहा गया है कि वह कुन्दकुन्दान्वयी मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छ के चारुकीर्त्ति पण्डित की शिष्य-परम्परा में थे। वह भी एक उद्भट विद्वान् थे, उनके यह तीन विशेषण यह ही सूचित करते हैं (१) राय राजगुरु मण्डलाचार्य (२) महावादवादीश्वर (३) राय्वादिपितामह। बिलिगे तालुक के एक शिलालेख (सन् १५९२) की प्रतिलिपि से भट्टाकलंक और उनके गुरुओं का और भी परिचय मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि बल्लालराय के प्राणरक्षक श्रीचारुकीर्त्ति पण्डित की शिष्य-परम्परा में श्रुतकीर्त्ति हुए। जिनके संकेतानुसार श्रावक अग्गल ने 'चन्द्रप्रभपुराण' (सन् ११८९ में) रचा था। श्रुतकीर्त्ति के शिष्य विजयकीर्त्ति हुए, जिन्होंने ब्राह्मण अभयचन्द्र को जैनधर्म में दीक्षित किया और संगीतपुर के नृप इन्द्र को राज्य प्राप्त करायो। उनके शिष्य श्रुतकीर्त्ति हुए, जिन्होंने अपने शिष्य संगमभूप को राज्याधिकारी बनाया। श्रुतकीर्त्ति के शिष्य विजयकीर्त्ति ने अपने शिष्य श्रावक देवराय भूप के लिये पश्चिमीय समुद्र तट पर भटकल नामक नगर बसवाया। इनके शिष्य अकलंक और चन्द्रप्रभ थे जिन्होंने श्वेतपुर में तिम्मभूप और नरसभूप को धर्मोपदेश दिया। अकलंक के

* संगीतपुर उत्तर कन्नड जिले के हाडुवल्ली नामक ग्राम का संस्कृत रूप है।

शिष्य विजयकीर्त्ति हुए, जिनके शिष्य पुनः अकलंकदेव नाम के हुए। इन अकलंकदेव के शिष्य भट्टाकलंक थे, जो एक महाविद्वान, न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त, काव्य, गणित, संगीत, आयुर्वेद और ज्योतिष के पारगामी थे। विजयनगर के राजा श्रीरंगराय (१५७३—१५८४) की इच्छानुसार उन्होंने सार तृतीय (?) और अलंकार-तृतय (?) पढ़ कर गौरव प्राप्त किया था। यह धर्म्पेन्द्र के समकालीन थे। इनके शिष्य 'शब्दानुशासन' के कर्त्ता भट्टाकलंक हुए, जिनका आदर धर्म्पेन्द्र (?) ने किया था, और जो विजय नगर के राजा वेङ्कटपति राय (१५८६—१६१५) के राजकाल में हुए थे। उन्होंने ही यह शिलालेख लिखाया था।*

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि—दक्षिण भारत में जहां कि श्रीमद्भट्टाकलंक देव हुए, उनके बाद अकलंक नाम के धारी कई प्रसिद्ध और प्रभावशाली जैनाचार्य हुए। संभव है कि इन में से कोई जिनदास अथवा पुरुषोत्तम मंत्री का पुत्र हो और उसका भाई निकलंक शहीद हुआ हो। परन्तु इस विषय में स्पष्ट रूप से तब ही कुछ लिखा जा सकता है, कि—जब कन्नड साहित्य और संगीनपुर मठ की ऐतिहासिक सामग्री का अन्वेषण किया जाय। तो भी यह अनुमान जरा तथ्य लिये मालूम होता है कि—"राजावलीकथे" के कथन से शैव और जैनों में सद्भाव प्रकट होता है, जो कि श्रीमद्भट्टाकलंक देव के समय में संभव नहीं था।† विजय नगर साम्राज्य में ही मुसलमानों के खिलाफ जैन, वैष्णव, शैव आदि को संगठित किये जाने का प्रयत्न हुआ था। बुक्काराय ने जैनियों और वैष्णवों में मेल कराया था‡। और उपर्युक्त संगीनपुर मठ के कई अकलंक-नामधारी आचार्य विजय नगर के राजाओं के समय में हुए थे। इस लिए बहुत संभव है कि उक्त कथाओं में वर्णित वार्त्ताओं का सम्बन्ध प्राचीन भट्टाकलंक से न होकर इन उपरान्त के किन्हीं "अकलंक" से हो। ये भी प्रभावशाली प्रसिद्ध वादी और राज्यमान्य आचार्य थे।

सारांश-रूप से यह कहा जा सकता है, कि—श्रीअकलंक देव मान्यखेट के आसपास राज्य करने वाले किन्हीं लघुहव्व नामक माण्डलिक राजा के पुत्र थे। संभवतः उनका जन्म स्थान कांचीपुर था। उन्होंने बड़े कष्ट उठा कर विद्याभ्यास किया था। आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि—पोनतग के बौद्ध विद्यालय में अकलंक देव ने शिक्षा पाई थी। यह स्थान ट्रिवटूर के पास है। कथाओं से मालूम होता है कि वह बालब्रह्मचारी रहे। विद्या प्राप्त करके वे मुनि हो गये और आचार्य पद को प्राप्त हुए। उन्हें देवसंघ का आचार्य बताया गया है; परन्तु राईस सा० ने लिखा है कि "अकलंक देव" सुधापुर के देशीय गण के आचार्य

* Jain Gazette, Vol. XIX. pp. 221-222.

† Buddhistic Studies, p. 689.

‡ श्रवणबेल्गोल लेख नं० १३६ (३४४) (शक १२९०)

पद पर प्रतिष्ठित हुए थे और यह स्थान उत्तर कन्नड में है। इस समय नार्थ कनारा में जो "सोड" नाम का नगर है वही प्राचीन सुधापुर है।"*

गुणगरिमा और महिमा।

श्रीमद्भट्टाकलंक देव एक महान् आचार्य, भारी नैयायिक और दिग्गज दार्शनिक विद्वान् थे। प्रसिद्ध विद्वान् होने के कारण वह भट्टाकलंक नाम से प्रसिद्ध थे। 'भट्ट' उनकी एक तरह की पदवी थी। कवि की पदवी से भी वे विभूषित थे। यह आदरणीय पदवी उस समय प्रसिद्ध और उत्तम लेखकों को दी जाती थी। लघु समन्तभद्र और विद्यानन्द ने उनको 'सकल-तार्किक-चक्र-चूड़ामणि' कह कर स्मरण किया है। श्री अभयचन्द्र सूरि ने कहा है कि अकलंक देव के गुणानुवाद और महिमा प्रकट करने के लिए किस की सामर्थ्य है‡। उनके प्रवचन अनुपम थे। "अकलंकस्तोत्र" के अन्तिम (१५ वें) श्लोक में कहा गया है†, कि—'इस कलि-काल में अकलंकाचार्य से वाद करने के लिये कोई सामर्थ्यवान् नहीं है। क्योंकि अकलंकाचार्य अतिशय ज्ञानवान् भगवान् हैं। अपरिमाण महिमा के धारक हैं। वे आत्मीक रसके आस्वादन करने में क्रीड़ा करते हैं, इस कारण देवतुल्य हैं। धर्माचरण के कारण पूर्वाचार्यों ने उन्हें आचार्यपद प्रदान किया है। वे धर्म के अतिशय हितकारी हैं। वादियों के जीतने से उनकी आत्मा देदीप्यमान है। रागादि कलंक से रहित अकलंक हैं और कर्म-वैरी को जीतने के लिये तत्पर हैं—इसलिये जिन हैं, अब इससे अधिक और उनके विषय में क्या कहा जाय ?

अकलंक देव ने कई अनुपम ग्रन्थ रचे हैं, परन्तु उन की बहु प्रसिद्धि एक वाग्मी वक्ता अथवा वादी के रूप में थी। 'उनकी वक्तृत्व-शक्ति या सभा मोहनी शक्ति की उपमा दी जाती है। महाकवि 'वादिराज' की प्रशंसा में कहा गया है कि वे सभामोहन करने में अकलंक देव के समान थे‡। सकलचन्द्र मुनि के शिष्य मेघचन्द्र त्रैविद्य की प्रशंसा में भी कहा गया

* जैन हितैषी, भा० ११, पृ० ४२२-४२३।

‡ नाभ्यासस्तादृगस्ति प्रवचनविषयो नैवबुद्धिश्च तादृक् (ङ्)
नोपाध्यायोऽपि शिक्षानियमनसमयस्तादृशोऽस्तीह काले।
किंत्वेतन्मे मुनीन्दुव्रतिपतिचरणाराधनोपात्तपुण्यं
श्रीमद्भट्टाकलंकप्रकरणविवृतावस्ति सामर्थ्य-हेतुः ॥१॥ (लघीयस्त्रयम् पृ० १०२)

† किं वाद्यो भगवानमेयमहिमा देवोऽकलंकः कलौ,
काले यो जनतासु धर्मनिहितो देवोऽकलंको जिनः। इत्यादि

‡ *'सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्तिः वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।*
इति समय गुरूणामेकतः संगतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः ॥'
नगर तालुका का शिलालेख नं० ३९

है कि वे सिद्धान्त में वीरसेन, तर्क में अकलंक और व्याकरण में पूज्यपाद के समान विद्वान् थे❀। ऐसे ही रामसेन मुनि और जिनचन्द्र के तर्क को अकलंक के समान बताया गया है⁑। श्रुतमुनि को भी सकल परमत विजय करने के लिये तर्क में अकलंक कहा गया है। (सकल-विमत-जित्तर्कतन्त्रेषु देव:)❀। इन उल्लेखों से अकलंकदेव के अजेय तर्क-ज्ञान का भान स्पष्ट होता है। ठीक ही उनके लिये कहा है कि अकलंकदेव का 'प्रमाण' एक रत्न है¶।

सचमुच अकलंकदेव का खास महिमाकार्य बौद्धों को अपने प्रबल तर्क से पराजित करके जैनधर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करना था। उनका एक बड़ा भारी शास्त्रार्थ कांची के पल्लववंशी बौद्ध राजा हिमशीतल की राज-सभा में हुआ था। यह शास्त्रार्थ लगातार कई दिनों तक होता रहा था और इसमें जैनधर्म को बड़ी भारी विजय प्राप्त हुई थी। राजा हिमशीतल की आज्ञा से बौद्ध लोग सीलोन के कैण्डी नगर को निर्वासित करदिये गये थे⁑। इसके अतिरिक्त अकलंकदेव ने और कहां कहां शास्त्रार्थ किये थे, इस बात का कुछ भी पता नहीं चलता। हां, एकबार वे राष्ट्रकूटवंशी राजा साहसतुंग के राजदरबार में अवश्य पहुंचे थे, इस बात का उल्लेख मिलता है। अकलंकदेव के समान उद्भट वाग्मी वादी ने चहुं ओर घूमकर एक बार अवश्य ही जैनोत्कर्ष किया था, इसमें संशय नहीं। राइस सा० उनके प्रचार-कार्य के विषय में लिखते हैं कि :—

'The spread of Jainism was greatly promoted in the second century A. D by Samantabhadra, and later by Akalanka, who

---

❀ सिद्धान्ते जिनवीरसेनसदृशः शास्याब्जभा-भास्करः
षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।
सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयं
त्रैविद्योत्तममेघचन्द्रमुनिपो वादीभपञ्चाननः ॥ (जैनशिलालेख-संग्रह पृष्ठ ६२)

⁑ शिकारपुर का शिलालेख नं० १२४ व श्रवणबेल्गोल का शिला० नं० ५५
Mysore & Coorg from Inscriptions by Rice, p. 197.

❀ जैन शिलालेख-संग्रह (मा० ग्रं०) पृ० २०२

¶ 'प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।' अकलंक-चरित (बम्बई) पृ० १३

⁑ राइस सा० ने यह शास्त्रार्थ सन् ७८८ में हुवा लिखा है (Lewis Rice, Early *Kannada Authors, JRAS. Vol. XV, pp. 295—314)* यही समय सीवेल सा० ने भी लिखा है। (R. Sewell, Lists. of Inscrps. & Sketch of the Dynasties of Southren India (Arch. Survey of S. India Vol II) p. 213.

defeated the Buddhists in public disputation at Kanchi in the eighth or ninth century, in consequence of which they were vanished to Ceylon'

भावार्थ—' जैनधर्म का प्रचार ईस्वी दूसरी शताब्दी में समन्तभद्र-द्वारा खूब हुआ था, और बाद में अकलंक ने उसका प्रचार खूब किया, जिन्होंने ८ वीं या ९ वीं शताब्दि में बौद्धों को काञ्ची में शास्त्रार्थ में परास्त किया था। परिणामतः बौद्ध सीलोन को निर्वासित किये गये थे।"

ग्रन्थ-रचना

अकलंक देव की ग्रन्थ-रचना विशद और साथ ही मार्मिक एवं तर्क-सिद्ध है। उनकी अपूर्व कृतियां जैन न्याय के अनूठे रत्न है। उनके सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रचे गये हैं और अब तक जो उपलब्ध हुए, उनके नाम यह हैं :—

१. अष्टशती श्रीसमंतभद्र स्वामी-रचित 'देवागमस्तोत्र' का भाष्य।

२. राजवार्त्तिकालंकार—भगवदुमास्वाति-प्रणीत 'तत्वार्थ सूत्र' का भाष्य जो 'सनातन जैन ग्रन्थमाला' में प्रकाशित हो चुका है।

३. न्यायविनिश्चय इसकी एक प्रति श्रीवादिराजकृत वृत्ति-सहित 'जैनसिद्धान्त-भवन" आरा में सुरक्षित है।

४. लघीयस्त्रयम् जो "माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला" बम्बई मे प्रकट हो चुकी है।

५. बृहत्त्रयी यह ग्रन्थ सुनते हैं "जैन ग्रन्थ-भाण्डार कोल्हापुर" में है।

६. न्यायचूलिका—अनुपलब्ध है।

७. अकलंक-स्तोत्र—बम्बई से छप चुका है; परन्तु कोई कोई संदेह करता है कि शायद यह अकलंकदेव की रचना नहीं है।

८. स्वरूप-संबोधन—'सेठ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन-ग्रन्थमाला बम्बई, में छप चुकी है'†।

९. प्रमाण-रत्न-प्रदीप—नामक ग्रन्थ भी अकलंकदेव का रचा हुआ राइस सा० ने बतलाया है‡। हाल में 'प्रमाण-संग्रह' नामका एक ग्रन्थ अकलंकदेव का उपलब्ध हुआ है। (जैन सि०, भा०, ३ किरण १) परन्तु कह नहीं सकते, कि ये दोनों एक हैं।

१०. जैनवर्णाश्रम—नाम का एक कन्नड ग्रन्थ भी अकलंक की रचना बतलाई जाती है; परन्तु

† लघीयस्त्रयादि-संग्रह (मा० ग्रं०) भूमिका, पृ० ३—४

‡ Lewis Rice, Early Kannada Authors, JRAS. XV. 295-314 & Biblo: Jaina 684.

वह किन अकलंक की है यह ठीक से कहा नहीं जासकता। इसकी एक प्रति 'गवर्नमेण्ट ओरिएन्टल मैनस्क्रीप्ट लाइब्रेरी मद्रास में है†'।

पं० कैलाशचन्द्र जी ने अकलंक के 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रन्थ का उल्लेख किया। है मालूम नहीं कि क्या यह 'न्याय-विनिश्चय' से अन्य है ?

इनके अतिरिक्त अकलंकदेव की अन्य रचनाएं भी होसकती हैं; जो दक्षिण-भारत के शास्त्र-भण्डारों में खोज करने से मिल सकती हैं।

समय-विचार।

अब इस प्रश्न का उत्तर अपेक्षित है कि भट्टाकलंक कब हुए ? खेद है कि उन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में कोई रचना-समय नहीं दिया है। इसलिए अन्य प्रमाणों के आधार से ही उनका समय निश्चित किया जाता है। निम्न पंक्तियों में उपलब्ध प्रमाणों पर विचार किया जाता है :—

(१) पूर्वोक्त मल्लिषेण-प्रशस्ति के श्लोकों में कहा गया है कि अकलंकदेव साहसतुंग राजा की सभा में उपस्थित हुए थे। यह राजा "राष्ट्रकूट वंश का कृष्णराज प्रथम" प्रतीत होता, पं० नाथूराम जी प्रेमी ने बतलाया है। जो शुभतुंग, अकालवर्ष और श्रीवल्लभ नाम से बहुत प्रसिद्ध था❀। विद्वानों ने इसका राज्यारोहणकाल वि० सं० ८१७ (ई० स० ७६०) के करीब अनुमान किया है❀। और वि० सं० ८४० (शक सं० ७०५) में श्रीजिनसेन-द्वारा रचित हरिवंशपुराण से स्पष्ट है कि उस समय इस कृष्णराज का बेटा इन्द्रायुध (गोविन्द द्वितीय) राज्याधिकारी था†। इस अपेक्षा से कृष्णराज का राज्यकाल वि० सं० ८१७ एवं ८४० से किंचित् पहले तक प्रमाणित होता है।

डॉ० भण्डारकर ने इसका राज्य-काल वि० सं० ८१० से ८३२ तक बतलाया है। इस आधार से श्रीनाथूरामजी प्रेमी ने लिखा है कि 'अकलंक देव ८१० से ८३२ तक के किसी समय में जीवित थे‡।' साधारणतः अबतक यह मत ठीक माना जाता रहा है; परन्तु हमें इसमें जरा

† Alphabetical Index of Mss in the Govt Oriental mss. Library Madras; Vide. Bibliographic Jaina, 133.

❀ भारत के प्राचीन राजवंश, भा० ३ पृ० २९-३९।

† 'शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
सौर्याणामधिमण्डले जययुते वीरे वराहेऽवति॥
—हरिवंशपुराण।

‡ जैनहितैषी, भाग ११, पृष्ठ ४२८।

आपत्ति है, क्योंकि "मल्लिषेण प्रशस्ति" के पूर्वोक्त श्लोक मे राजा का नाम साहसतुंग है और कृष्णराज प्रथम इस नाम से प्रसिद्ध नहीं था†। उसका नाम शुभतुंग अवश्य था। जो 'आराधना-कथा-कोष' की कथा में मिलता है; परन्तु उक्त कथा-कोष की कथा से प्रशस्ति वाला श्लोक विशेष प्रामाणिक है। इसलिए हमें राष्ट्रकूट (राठौर) राजाओं में साहसतुंग नामधारी राजा को ढूंढ़ना चाहिए। सौभाग्यवश इस कृष्णराज के भतीजे दन्तिदुर्ग द्वितीय का अपरनाम साहसतुंग मिलता है‡। यह दन्तिदुर्ग दक्षिण का प्रतापी राजा था और इसने संभवत: वि० सं० ८०१ से ८१६ तक कृष्ण राज से पहले राज्य किया था। इसलिए इस राजा के राज्यकाल में श्रीअकलंक देव को जीवित मानना ठीक है।

२. स्वर्गीय भण्डारकर महोदय ने लिखा है, कि श्रीजिनसेचार्य ने अपने 'हरिवंश पुराण' में सिद्धसेन, अकलंक आदि का उल्लेख किया है※। 'हरिवंश पराण' के देखने से हमें आरंभ में पहिले सर्ग का ३१ वां और ३९ वां श्लोक ऐसे मिले हैं, जिनसे प्रकारान्तर रूप में अकलंक का उल्लेख हुवा कहा जा सकता है। ३१ वें श्लोक में लिखा है कि 'इन्द्र-चन्द्र-अर्क-जैनेन्द्र व्याकरणों से अत्यन्त शुभ्र, देवसंघ की वाणी नियम से वन्दनीय‡ है।" अकलंकदेव का उल्लेख केवल "देव" नाम से हुवा मिलता है और पहिले यह लिखा जा चुका है, कि वह देवसंघ के अचार्य थे। अत: यह माना जा सकता है, कि हरिवंशपुराण के कर्त्ता ने इस श्लोक-द्वारा श्रीअकलंक देव का स्मरण किया है। ३९ वें श्लोक में श्रीवीरसेनाचार्य की कीर्त्ति को 'अकलंक' कहा गया है† । इस प्रकार यदि यह माना जाय कि उक्त श्लोकों

† कृष्णराज के अपरनाम शुभतुंग, अकाल वर्ष, श्रीवल्लभ और वल्लभ ही मिलते हैं। (भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ३०)।

‡भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३ पृष्ठ २७-२८ "मल्लिषेण-प्रशस्ति" के श्लोक में साहस-तुंग को रणविजयी और दानी लिखा है। यह दोनों विशेषण दन्तिदुर्ग के लिए उपयुक्त हैं, क्योंकि उसने अनेक देशों और राजाओं को जीत कर—दक्षिण में फिर राष्ट्रकूट-राज्य की स्थापना की थी। इसका राज्य गुजरात और मालवे की उत्तर सीमा से लेकर, दक्षिण में रामेश्वर तक फैला हुआ था। इसने बहुत से सुवर्ण और रत्नों का दान भी दिया था।

※ R. G. Bhandarkar, Princlpal Results of my last two years studies in Sanskrit mss. Literature, (Wier, 1889). p. 31.

‡ इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षणाः। देवस्य देवसंघस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम् ॥३१॥ हरिवंश पुराण, इस श्लोक द्वारा अकलंक देव का देवसंघ का आचार्य होना प्रमाणित है।

† 'वीरसेनगुरोः कीर्त्तिरकलंकावभासते।'

में अकलंक का उल्लेख हुवा है, तो कहना होगा कि हरिवंशपुराण की रचना के समय अर्थात् वि० सं ८४० शक (७०५) में अथवा उससे पहिले अकलंक देव विद्यमान थे।

३. 'हरिवंश पुराण' में आचार्य कुमार सेन का उल्लेख हुआ है और इन्हीं कुमारसेन का उल्लेख विद्यानन्द स्वामी ने अपनी 'अष्ट-सहस्री' के अन्त में किया है। अकलंकदेव विद्यानन्द से पहिले के विद्वान् हैं, क्योंकि अकलंक देव के अष्टशती पर भाष्यरूप ही अष्ट-सहस्री लिखी गई *। अतः इससे भी हमारे नं० २ के निष्कर्ष का समर्थन होता है।

४. विद्वानों का कथन है, कि श्रीअकलंक देव ने बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति के मत का खण्डन अपने ग्रन्थों में किया है †। धर्मकीर्त्ति ने 'त्रिलक्षणहेतु' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था; अकलंक की अष्टशती में उसका खण्डन किया गया है ‡। इससे यह स्पष्ट है, कि धर्मकीर्त्ति के बाद अकलंक देव हुए हैं। धर्मकीर्त्ति का समय ईस्वी सातवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जाता है ¶। अतः इसके बाद आठवीं शताब्दी में अकलंक देव का अस्तित्व मानना उचित है।

५. नैयायिक कुमारिल-भट्ट ने अपने 'श्लोकवार्त्तिक' ग्रन्थ में अकलंक देव के 'अष्टशती' नामक ग्रन्थ पर, उसके 'आज्ञा प्रधानाहि·········' इत्यादि वाक्यों को लेकर कुछ कटाक्ष किये हैं; ऐसा स्व० प्रो० पाठक ने प्रकट किया था, साथ ही उन्होंने यह भी लिखा था कि कुमारिल अकलंक के कुछ समय बाद तक जीवित रहा था §। यही कारण है कि अकलंक 'अष्टशती' पर किये गये आक्षेप का उत्तर नहीं दे सके थे। यह काम उनके शिष्य विद्यानन्द ने किया। उन्होंने 'अष्टसहस्री' में 'भट्ट' नाम से कुमारिल भट्ट के मत का कई जगह खण्डन किया है ||। कुमारिलभट्ट का समय वि० सं० ७५७ से ८१७ तक निश्चित है$। अतएव अकलंक का समय भी करीब करीब यही हो सकता है।

६. 'अकलंकचरित' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कथन है कि शक सं० ७०० में अकलंक यति का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ था $। इससे सिद्ध है, कि शक सं० ७०० (सन् ७७८ ई०, अथवा वि० सं० ८३५) में अकलंक विद्यमान थे।

---

* जैनहितैषी, भा० ११ पृ० ४२८।

† 'जैनदर्शन' वर्ष ३ 'अंक २३-२४ पृ० ३'

‡ Annals of the Bhandarkar Orientel Res. Instt, Vol. XV. p. 76.

¶ A. B. Keith, Classical Sanskrit Literature, p. 77.

§ रत्नकरण्डश्रावकाचार (मा० ग्रं०)—स्वामी समन्तभद्र, पृष्ठ १२४

|| जैनहितैषी भा० ११, पृष्ठ ४२८

$ विक्रमार्कशताब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि
कालेऽकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥ Epi. Carnatica, II, Intro.

७ प्रो० पाठक, डा० विद्याभूषण, प्रो० राइस आदि विद्वानों ने अकलंक देव को ईस्वी आठवीं शताब्दी का विद्वान निश्चित किया है।

उपर्युक्त साक्षी के आधार से अब यह लिखा जा सकता है, कि श्री अकलंक देव संभवतः वि० सं० ८०१ से ८३९ तक कार्यक्षेत्र में प्रवृत्त रहे थे।

समसामयिक विद्वान् और शिष्य

भगवान् अकलंक देव के समय में अनेक जैन विद्वान् हुए थे, उनमें नैयायिक विद्वान अधिक थे। किन्तु अभी तक यह पता नहीं चला है कि उनके गुरु कौन थे? हाँ, उनके गुरु-भाई पुष्पषेण का पता लगता है। 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' के निम्नलिखित श्लोक से उनका एक महान विद्वान् होना प्रकट‡ है—

'श्रीपुष्पषेणमुनिरेव पदं महिम्नो
देवः स यस्य समभूत स भवान् सधर्मा।
श्रीविभ्रमस्य भवनं ननु पद्ममेव
पुष्पेषु मित्रमिह यस्य सहस्रधामा॥'

मणिक्यनन्दि, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र ये तीनों विद्वान अकलंक देव के समकालीन हैं। प्रभाचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है, कि अकलंक देव के चरणों में बैठकर उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था†।

श्री पं० जुगुल किशोर मुख्तार ने इसे वि० सं० ७०० लिखा है (स्वामी समंतभद्र पृ० १२५) परन्तु दक्षिण भारत के कई लेखों में शकाब्द का उल्लेख 'विक्रमार्कशकाब्द' से हुआ मिलता है। राइस सा० प्रभृति ने भी अकलंक का बौद्धों से वाद करने का समय ई० ७८८ लिखा है। (Biblio graphie Jaina, 526 & 560) किन्तु इस अवस्था में कुमारिल का अकलंक के वाद तक जीवित रहना बाधित होता है। हमारे ख्याल से या तो कुमारिल के काल-निर्णय में कुछ गड़बड़ी है, अथवा अकलंक देव को कुमारिल के आक्षेप को देखकर उसके निरसन करने का अवसर नहीं मिला था।

‡ नगर के शिलालेख नं० ४४ (सन् १२५५) में भी पुष्पषेण और अकलंक का एक साथ उल्लेख है। (Bibolis Jaina 499)

† बोधः कोऽप्यसमः समस्तविषयं प्राप्याकलंकं पदं
जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम्।
किं न श्रीगणभृज्जिनेन्द्रपदतः प्राप्तप्रभावः स्वयं
व्याख्यात्यप्रतिमं वचो जिनपतेः सर्वात्मभाषात्मकम्॥ (न्याय-कुमुद-चन्द्रोदय अ० १)

और इन्होंने माणिक्यनन्दि का स्मरण गुरु रूप से किया है*, जिससे वह अकलंक के समकालीन ठहरते हैं। प्रभाचन्द्र ने अकलंक देव के साथ ही विद्यानन्द का भी स्मरण किया है और विद्यानन्द ने अपना "अष्टसहस्री' ग्रंथ 'अष्टशती' पर रचा है, इसलिए वह भी अकलंक के समकालीन विदित होते हैं †। उनका क्रम यों बनता है १ अकलंकदेव २ माणिक्यनन्दि ३ विद्यानन्द ४ प्रभाचन्द्र। कुमारसेन और वादीभसिंह भी (?) उसी समय के नामी विद्वानों में से हैं। इनके सिवाय वीरसेन, परवादि मल्लदेव, श्रीपाल, कुमारनन्दि-भट्टारक भी उसी समय हुए थे*। कन्नड साहित्य के दो ग्रन्थ (१) जिनसिद्धागम और (२) जैनरबस्तीय (?) धवलदहाडु नामक किन्हीं अकलंक देव शिष्य की रचनाएं हैं†, मालूम नहीं यह कौन विद्वान् हैं? इस प्रकार अकलंक देव का यह सामान्य परिचय है।

---

* गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।
नन्दताद् दुरितैकान्तरजा जैनमतार्णवः ॥३॥ प्रमेयकमलमार्तण्ड।

† जैनहितैषी, भा० ११ पृ० ४३०—४३२

† Bibliographie Jaina, 133. (Jainarabastiyadhavaḷadahāḍu).

ग्रन्थमाला-विभाग

समय भी क्रमशः शक सम्वत् १०५० तथा १०४७ है। उल्लिखित और आचार्यों के १० वीं शताब्दी के पहले के होने के कारण उग्रादित्य की समयनिर्णायक समस्या में उनका नाम नहीं लेकर इन्हीं दो बाद के आचार्यों का नाम लेना उचित समझा गया। उपर्युक्त शिलालेखाङ्कित कुमारसेन का काल विक्रम सम्वत् ११८५ अर्थात् १२ वीं शताब्दी सिद्ध होता है*। इसी प्रकार उल्लिखित शिलालेखों के आधार से शक सम्वत् १०८५ में अङ्कित प्रथम श्रुतकीर्त्ति का समय विक्रम सम्वत् १२२० अर्थात् १३वीं शताब्दी एवं शक सम्वत् १३२० और १३५५ में उद्धृत द्वितीय श्रुतकीर्त्ति का समय विक्रम संम्वत् १४५५ तथा १४९० अर्थात् १५ वीं शताब्दी सिद्ध होता है। क्योंकि वि० सं० १२२० के श्रुतकीर्त्ति का अस्तित्व वि० सं० १४९० में कायम रहना असम्भव समझ कर ही प्रथम और द्वितीय दो श्रुतकीर्त्ति सिद्ध करने पड़े हैं। भास्कर भाग १ किरण ४, पृष्ठ ७८ में प्रकाशित नन्दी-संघ की पट्टावली में भी एक श्रुतकीर्त्ति का नाम आया है। साथ ही साथ इसमें इनका समय वि० सं० १०७६ अङ्कित है और यह श्रुतकीर्त्ति भेलसा (C. P) के पट्टाधीश बतलाये गये हैं। खैर उग्रादित्यजी के समय-निर्णय के लिये जो जो साधन मेरे दृष्टिगोचर हुए उन्हें पाठकों के समक्ष मैंने उपस्थित कर दिया ताकि इनके समय निर्धारित करने में विद्वानों को सहायता मिले। संभव है कि इस ग्रन्थ की आद्योपान्त आलोचना करने से कुछ साधन मिल जाय। क्योंकि ग्रन्थों के परिचय लिखने में मुझे प्रत्येक ग्रन्थ का आमूलाग्र अवलोकन करने का अवकाश नहीं मिलता।

जहाँतक मैं देख पाया हूँ इस ग्रन्थ की भाषा एवं रचनाशैली मुझे परिष्कृत ज्ञात हुई है।

इस कल्याणकारक ग्रन्थ में निम्नलिखित प्रकरण हैं:—

(१) स्वास्थ्य-संरक्षण (२) गर्भोत्पत्तिविचार (३) स्वास्थ्यरक्षाधिकार-सूत्रवर्णन (४) धान्यादिगुणागुणविचार (५) अन्नपानविधि-वर्णन (६) रसायनविधि (७) व्याधि-समुद्देश (८) वातव्याधि-चिकित्सा (९) पित्तव्याधि-चिकित्सा (१०) श्लेष्मव्याधिचिकित्सा (११-१२) महाव्याधिचिकित्सा (१३-१४-१५-१६-१७) क्षुद्ररोग-चिकित्सा (१८) बालग्रह-भूतमन्त्राधिकार (१९) सर्पविषचिकित्सा (२०) शास्त्रसंग्रह-तन्त्रयुक्ति (२१) कर्म-चिकित्सा (२२) भैषज्यकर्मोपद्रवचिकित्सा (२३) सर्वौषधकर्मव्याप-चिकित्सा (२४) रसरसायनसिद्धयधिकार (२५) नानाविधकल्पाधिकार।

इस ग्रन्थ की श्लोक-संख्या पाँच हजार बतलायी जाती है।

* भास्कर भाग १ किरण ४ पृष्ठ १०८ में प्रकाशित काष्ठासंघ की पट्टावली में भी दो कुमारसेन के नाम आये हैं; पर इनके समय का उल्लेख उसमें नहीं है।

सेनगण की पट्टावली से ज्ञात होता है कि इस गण में भी एक कुमारसेन हुए हैं। (भास्कर भाग १, किरण २-३ पृष्ठ ३४)

(१८) ग्रन्थ नं०-२२५/ख

जिनसंहिता

कर्त्ता—एकसन्धि भट्टारक

विषय—संहिता (प्रतिष्ठा)

भाषा—संस्कृत

लम्बाई—१४ इञ्च चौड़ाई—८।। इञ्च पत्रसंख्या ८८

प्रारम्भिक-भाग—

मंगलं भगवानर्हन्मंगलं भगवान् जिनः ।
मंगलं प्रथमाचार्यो मंगलं वृषभेश्वरः ॥१॥
विज्ञानं विमलं यस्य भासते विश्वगोचरम् ।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चितांघ्रये ॥ ॥
वन्दित्वा च गणाधीशं श्रुतस्कन्धमुपास्य च ।
संग्रहीष्यामि मन्दानां बोधाय जिनसंहिताम् ॥३॥
शास्त्रावतारसम्बन्धं तत्रादौ तावदुच्यते ।
श्रेयोऽर्थिनः समाधाय चेतः शृणुत धीधनाः ॥४॥
इत्यनुश्रूयते वीरः पुरा लोकत्रयीगुरुः ।
विपुलाद्रौ सभां दिव्यामध्युवास कदाचन ॥५॥
तत्रासीनं तमभ्येत्य मगधेन्द्रः कृताञ्जलिः ।
त्रिःपरीत्य समभ्यर्च्य स्तुत्वा नत्वा च पूरुषम् ६॥
ततोऽभ्येत्य गणाधीशं गौतमं मुनिपुंगवम् ।
नत्वा सप्रश्रयं धीमानप्राक्षीज्जिनसंहिताम् ॥७॥
भगवान् गौतमस्वामी मागधं प्रत्यबूबुधत् ॥८॥ (?)
ततः प्रभृत्यविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमागता ।
सेयं मयाधुना साधु संक्षेपेण प्रकाश्यते ॥९॥
मागधप्रश्नमुद्दिश्य गौतमः प्रत्यभाषत ।
इदानीमनुसन्धाय प्रबन्धोऽयं निबध्यते ॥१०॥

× × ×

मध्य-भाग (पृष्ठ ३८ पंक्ति १ श्लोक १)

अथ मर्त्येश वक्ष्यामि शृणु तद्ग्रामलक्षणम् ।
यत्पृष्टमधुनाधीनं त्वयावसरवेदिना ॥१॥
अस्मिन्नवसरे राजन् पूजादावादिचक्रिणा ।
ग्रामभेदेषु कर्त्तव्यं जिनधामेतिभाषिने ॥२॥
कीदृशं लक्षणं तस्य ग्रामस्येति बुभुत्सुना ।
पृष्टः प्रसंगतोऽवोचद्गणीन्द्रो ग्रामलक्षणम् ॥३॥
तत्काल एव पृष्टं तद्भवतापि बुभुत्सुना ।
ततस्तु लक्षणं तस्य संक्षेपेण निगद्यते ॥४॥
ग्रामः स्यान्नवधा ग्रामः पुरं खेटश्च कर्वटम् ॥५॥
संवाहः पत्तनं द्रोणं मठं वं (?) घोष इत्यपि ॥५॥
ग्रामो वृत्तिः परिक्षितिः कुलं संघात इत्यपि ।
स्याप्युचितं.........................तत् ॥६॥
तदेव राजधानी स्यात्पुरं मर्त्येश्वरोचितम् ।
मध्ये जनपदं क्लृप्त्वा दुर्गमुत्तुंगगोपुरम् ॥७॥
गिरिनद्यावृतं खेटं कर्वटं पर्वतावृतम् ।
संवाहनामधेयं स्याद्भूधरे परिकल्पितः ॥८॥
पत्तनं तत्समुद्रान्ते पत्नोभिस्त्व (?) तीर्यते ।
द्रोणानामवगन्तव्यो नदीवारिधिवेष्टितः ॥६॥
मठं वं (?) तद्भावयेद्यत्तु ग्रामपंचतीवृतम् (?) ।
आश्रये घोष आभीरजनानामभिलप्यते ॥१०॥

× × ×

अन्तिम-भाग :—

पादोन्सेधोष्ठमात्रं स्यात्कुम्भमण्ड्यादिसंयुतः ।
पातिकान्ताश्रयः कल्पस्तेषां नाहः शराङ्गुलः ॥६८॥
उत्तरं त्रियवोत्सेधधावने यव उच्छ्रयः ।
मात्रा अर्द्धकृता याः स्युः कपोताश्च उच्छ्रयः ॥६६॥
यवौ द्वौ निम्नउत्सेधप···ट्टं त्रियवोच्छ्रयम् ।
प्रत्युत्सेधोर्द्ध मात्रः स्याद्द्वियवः पट्टिकोच्छ्रयः ॥७०॥

कम्पोयवद्वयोत्सेध उत्तराद्यं कदारुणि ।
आसैराणिभिः सव विष्टमेतत्सुवं······येत् ॥७१॥
आयासाणिषु तेष्वत्रिविस्तारोऽर्कयवो भवेत् ।
अर्णाद्विद्वेतेदि···············भूसम्मिते ॥७२॥
कोणोष्वयसपट्टं अवं······येत्सुदृढं यथा ।
अभिरूपं स्त्रियोरूपं दिज्ञु भद्रान्तरे भवेत् ॥७३॥
उपरि फलकान्यस्य.........रथस्युर्निरन्तरम् ।
समं कुमुदकं येन घनः पश्चादपि स्थलम् ॥७४॥
नाटकस्थलतुल्यस्तत्पार्श्वभित्र्यच्छ्रयो भवेत् ।
तद्भित्तिस्थलभित्तिं च यथाशोभं प्रकल्पयेत् ॥७५॥
सभद्रो वा कल्पोऽथ .... रथो भवेत् ।
वासोऽस्मिन्पञ्चतालः स्यादुक्तांशक्षापितोच्छ्रये ॥७६॥

× × ÷ ×

जिनसंहिता (प्रतिष्ठापाठ) की इस भवन की प्रति में प्रशस्ति न होने की वजह से इसके प्रणेता भट्टारक एकसन्धि के सम्बन्ध में सर्वथा मौनधारण करना पड़ रहा है। इधर उधर टटोलने से भी किसी उल्लेखनीय बातों का पता लगाने में सफलता नहीं मिली।

आर्यप, अप्पयार्य या अय्यपार्य नाम के विद्वान् के द्वारा शक सम्वत् १२४१* अर्थात् वि० सम्वत् १३७६ में जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय नाम का एक ग्रन्थ रचा गया है। बल्कि इस ग्रन्थ का कुछ परिचय "प्रशस्ति-संग्रह" पृष्ठ ८-१२ में दिया भी जा चुका है। इस ग्रन्थ में लेखक ने वीराचार्य आदि के साथ 'एकसन्धि भट्टारक' का भी उल्लेख निम्न प्रकार से किया है :—

"वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो
यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्जितः ।
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसन्धिस्ततः
तेभ्यः स्वाहृत्सारमध्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः ॥"

बल्कि खेद के साथ लिखना पड़ता है कि "प्रशस्ति-संग्रह" में दिये गये ग्रन्थकर्ता के परिचय

---

*शाकाब्दे विधुवार्धिनेत्रहिमगौ सिद्धार्थसंवत्सरे
माघे मासि विशुद्धपक्षदशमीपुष्यार्कवारेऽहनि ।
ग्रन्थो रुद्रकुमारराज्यविषये जैनेन्द्रकल्याणभाक्
सम्पूर्णोऽभवदेकशैलनगरे श्रीपालबन्धूर्जितः ॥

में प्रमाद एवं दृष्टि-दोष से एकसन्धि भट्टारक के नाम पर मेरा ध्यान ही नहीं गया था। फल-स्वरूप उपर्युक्त श्लोक में नौ प्रतिष्ठा-पाठ के प्रणेताओं का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी वीराचार्य आदि आठ ही प्रतिष्ठापाठ रचयिताओं का मैंने नाम निर्देश कर दिया है। खैर प्रमाद का लक्ष्य होना हम जैसे अल्पज्ञ मानवों का प्रकृत धर्म है।

जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय (विद्यानुवादाङ्ग) के उल्लिखित श्लोक से प्रकट है कि जिनसंहिता के कर्त्ता एकसन्धि भट्टारक विक्रमसम्वत् १३७६ के पहले हो चुके हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि यह पण्डित-प्रवर आशाधर जी के समकालीन १३ वीं शताब्दी में या इससे भी कुछ पीछे हुए हों।

भवन की संगृहीत जिनसंहिता की यह प्रति भीषण अशुद्धियों से भरी पड़ी एवं अपूर्ण है। अतः किसी शास्त्र-संग्रहीता के संग्रह में यदि इस की पूर्ण प्रति हो तो उसका प्रशस्ति-मय अन्तिम भाग भेजकर भास्कर में प्रकाशित करा देने की कृपा करेंगे।

---

(१६) ग्रन्थ नं० २२७/ख

गीतवीतराग

कर्त्ता—पण्डिताचार्य चारुकीर्त्ति

विषय—जिनस्तुति

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३।।। इञ्च   चौड़ाई ६।। इञ्च   पत्रसंख्या ३३

प्रारम्भिक-भाग —

विद्याव्याप्तसमस्तवस्तुविसरो विश्वैर्गुणैर्भासुरो-
दिव्यश्रव्यवचःप्रतुष्टनृसुरः सद्ध्यानरत्नाकरः।
यः संसारविषाब्धिपारसुतरो निर्वाणसौख्यादरः
स श्रीमान् वृषभेश्वरो जिनवरो भव्यादरान् पातु नः ॥१॥
पूर्वस्मिञ्जयवर्मनामनृपतिं विद्याधराधीश्वरम्
पश्चात्सल्ललिताङ्गदेवममलं श्रीवज्रजङ्घाधिपम्।

आर्यं श्रीधरनिर्जरं च सुविधिं कल्पान्तदेवेश्वरम्
चक्राधीश्वरवज्रनाभिजनपं सर्वार्थसिद्धीश्वरम् ॥२॥
साकेताधिपनाभिराजतनयं कल्याणपञ्चाश्रितम्
प्राप्तानन्तचतुष्टयं जिनवरं सौवर्णदेहावहम् ।
सौधर्मादिशतेन्द्रवृन्दविनतश्रीपादपद्मद्वयम् ।
वन्देऽहं वृषभेश्वरं गुणनिधिं सद्धर्मचक्राधिपम् ॥३॥
मेरोः पश्चिमगन्धिले जनपदे विद्याधराणां पद-
स्याद्रे रुत्तरदिक्स्थिते सदलकानाम्ना प्रतीते पुरे ।
राजा शस्तमहाबलस्सचिवकैर्युक्तश्चतुर्भिस्सदा
राजन्तं समुवाच धर्मसुफलं बुद्धस्वयंपूर्वकः ॥४॥

× × ×

मध्य भाग (परपृष्ठ २५ पंक्ति ६ से)

अष्टपदम्—सदरुणकिसलयचरणयुगेन मृदुसरसिजजयधृतसुभगेन ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥१॥
वतुलकान्तिमृदूरुभरेण चित्तजबाणधिवृत्तिधरेण ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥२॥
मञ्जुलकान्तिसुवेरवयेन पुञ्जितकान्तसुमध्यशुभेन ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥३॥
नलिनसुबिसनिभभुजयुगलेन दलितसुरतरुविटपचलनेन ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥४॥
विचलितहारविलासशिवेन कुचयुगविलसदुरुविभवेन ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥५॥
शशधररुचिधरसुषममुखेन विशदकुमुददलनयनसखेन ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥६॥
अलिकुलकुन्तलभरनिटिलेन विलसितशशिदलसमकुटिलेन ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥७॥
कुण्डलमण्डितश्रुतियमलेन खण्डितकुमतवचनसुबलेन ।
सा वनिता सुविराजिता सुभगा वनिता सुविराजिता ॥८॥

× × ×

अन्तिम-भाग—

गांगेयवंशाम्बुधिपूर्णचन्द्रो यो देवराजोऽजनि राजपुत्रः।
तस्यानुरोधेन च गीतवीतराग-प्रबन्धं मुनिपश्चकार ॥१॥
द्राविडदेशविशिष्टे सिंहपुरे लब्धशस्तजन्मासौ।
बेळ्गोळपण्डितवर्यश्चकार श्रीवृषभनाथवरचरितम् ॥२॥
स्वस्तिश्रीबेळ्गुळे दोर्बलिजिननिकटे कुन्दकुन्दान्वये नोऽ-
भूत्स्तुत्यः पुस्तकाङ्कश्रुतगुणभरणः ख्यातदेशीगणार्यः।
विस्तीर्णाशेषरीतिप्रगुणरसभृतं गीतयुग्वीतरागम्
शस्तादीशप्रबन्धं बुधनुतमतनोत् पण्डिताचार्यवर्यः ॥

इति श्रीमद्रायराजगुरुभूमण्डलाचार्यवर्यमहावादवादीश्वररायवादिपितामहसकलविद्वज्जन-चक्रवर्तिबल्लाळरायजीवरक्षापाल(?)कृत्याद्यनेकबिरुदावलिविराजच्छ्रीमद्बेळ्गोळसिद्धसिंहासना-धीश्वरश्रीमदभिनवचारुकीर्त्तिपण्डिताचार्यवर्यप्रणीतगीतवीतरागाभिधानाष्टपदी समाप्ता ।

यह गीतवीतराग जयदेव ई० ११८०) प्रणीत गीतगोविन्द के ढंग पर रचा गया है। जिस प्रकार गीतगोविन्द का अपर नाम अष्टपदी प्रसिद्ध है उसी प्रकार इस गीतवीतराग का भी दूसरा नाम अष्टपदी ही है। इस बात का खुलाशा इसके रचयिता पण्डिताचार्य चारुकीर्त्ति जी ने अपनी इस कृति में स्वयं कर दिया है। गीतगोविन्द महाकाव्य में गिना जाता है। इसके प्रणेता जयदेव वंग के लक्ष्मण सेन (ई० १११६—११९९) के सभा-पण्डित थे। इनके पिता का नाम भोजदेव एवं माता का राधादेवी था। यह किन्दुबिल्व के निवासी थे। किन्दुबिल्व बंगदेश के वीरभूम जिले में है। यह जयदेव श्रीकृष्ण के अनन्यभक्त थे। भक्तिमाला में इनकी भक्ति की अनेक कथाएँ मिलती हैं। इनका विरचित एक हिन्दी ग्रन्थ भी है, जो सिक्खों के आदि ग्रन्थों में सब से प्राचीन माना जाता है। संस्कृत में जयदेव-विरचित संस्कृत का यह छोटा सा एक ही महाकाव्य होने पर भी इस कवि का यश इतना प्रसृत हुआ है कि कवि के जन्म-स्थान पर इनकी पुण्यतिथि के उपलक्ष में अभीतक बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता है, जिसमें गीतगोविन्द के पद्य गाये जाते हैं। ई० १४९९ में उत्कल के प्रताप रुद्रदेव ने सब वैष्णवनर्तक तथा गायकों को सदैव गीतगोविन्द के ही पद्य गाने की आज्ञा दी थी। गेटे सदृश पाश्चात्य रसिक-शिरोमणियों ने कालिदास के साथ इस कवि की भूरि भूरि प्रशंसा की है। गीतगोविन्द १२ सर्गों का महाकाव्य है। इस में श्रीकृष्ण और राधिका का प्रेम वर्णित है। प्रतिसर्ग के पद्य के पूर्व में राग ताल आदि दिये गये हैं। इससे यह अनुमान होता है कि इसके रचयिता बड़े भारी गवैया थे। इस में विप्रलंभ

और संभोग-शृङ्गार का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। इस काव्य की लोकप्रियता इसकी टीका की संख्या से भी विदित होती है। इस काव्य पर ३० टीकायें उपलब्ध होती हैं। इन टीकाकारों में उदयनाचार्य और शङ्कर मिश्र सदृश बड़े बड़े नैयायिक और गागाभट्ट सदृश मीमांसक भी हैं।*

इस गीतवीतराग में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का चरित्र चित्रित है। इस में भी प्रत्येक पद्य के पूर्व में राग-ताल आदि दिये गये हैं। इससे जयदेव के समान इस गीतवीतराग के कर्त्ता पण्डिताचार्य चारुकीर्त्ति जी भी संगीत के मर्मज्ञ विदित होते हैं। इन्होंने अपने गीतवीतराग में गीतगोविन्द का खाका खींचने का प्रचुर प्रयास किया है। बल्कि इस विषय में इन्होंने सफलता भी प्राप्त की है। इसकी संस्कृत भाषा भी मजी हुई एवं प्रशस्त है। संख्या की दृष्टि से इसमें ५७२ पद्य माने जाते हैं। गीतवीतराग के प्रणेता चारुकीर्त्ति जी "दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ" के मतानुसार (१) पार्श्वाभ्युदय की टीका (२) चन्द्रप्रभ-काव्य की टीका† (३) आदिपुराण (४) यशोधर-चरित (५) नेमिनिर्वाणकाव्य की टीका के भी कर्त्ता हैं। इनमें आदिपुराण, यशोधर-चरित और नेमिनिर्वाण काव्य की टीका अभी तक मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुई हैं। बल्कि भवन में चारुकीर्त्ति के रचित अर्थ-प्रकाशिका और प्रमेयरत्नमालालङ्कार नाम के सुप्रसिद्ध प्रमेयरत्नमाला नामक न्यायग्रन्थ के दो टीका ग्रन्थ भी संगृहीत हैं; जिनका परिचय यथावसर इसी प्रशस्ति-संग्रह में प्रकाशित किया जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उल्लिखित इन ग्रन्थों के रचयिता चारुकीर्त्ति जी एक बहुदर्शी एवं विविध विषयों के मर्मज्ञ उद्भट संस्कृत के विद्वान् थे।

इस गीतवीतराग के कर्त्ता चारुकीर्त्ति जी ने द्राविड (मद्रास) देशान्तर्गत सिंहपुर को अपना जन्मस्थान बतलाया है। यह सिंहपुर सम्भव है कि टिंडीवनम् तालुक के अन्तर्गत सिंगवरम् हो। बाद आप लोक-विश्रुत श्रवण-बेळगोळ मठ के अधीश बनाये गये। चारुकीर्त्ति जी रायराजगुरु, भूमण्डलाचार्य महावादवादीश्वर आदि अनेक उपाधियों के धारक थे। पर ये सभी उपाधियाँ पट्टपरम्परागत हैं। बल्कि इनकी 'बल्लाळ-जीवरक्षक' जो एक विशिष्ट उपाधि है वह विष्णुवर्द्धन के बड़े भाई बल्लाल प्रथम (११०० — ११०६) को एक भयानक रोग से मुक्त करने के उपलक्ष में तत्कालीन श्रवण-बेळगोळ के मठाधीश चारुकीर्त्ति जी को प्राप्त हुई थी।‡

---

* देखें—"संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त-इतिहास," पृष्ठ १७६ से १८१।

† देखें—"प्रशस्ति-संग्रह" पृष्ठ ३—४।

‡ देखें—श्रवणबेळगोल के शिलालेख नं० २५४ (१०५) सन् १३६८ तथा २५८ (१०८) सन् १४३२।

महावीरभासियत्थो तस्सि[1] खेत्तम्मि तत्थ काले य।
खायोवसमविवड्ढिदचउरुरमलमइहि[2] पुराणेण (?) ॥७६॥
लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविहविसयेसु।
संदेहणासणत्थं उवगदसिरिवीरचलणमूलेण ॥७७॥
विमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेण।
चउवेदपारगेणं सिस्सेण[3] विसुद्धसीलेण ॥७८॥
[4]भावसुदपज्जयेहिं परिणदमइणा य बारसंगाणं।
चोद्दसपुव्वाण तहा एक्कमुहुत्तेण विरचणा [5]विहिदो ॥७९॥
इय मूलतंतकत्ता सिरिवीरो इंदभूदिविप्पवरे।
उवतंते कत्तारो अणुतंते सेसआइरिया ॥८०॥
णिण्णट्ठरायदोसा महेसिणो दिव्वसुत्तकत्तारो।
किं कारणं पभणिदा कहिदुं सुत्तस्स सामण्णं ॥८१॥
जेयणपमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥
णाणं होदि पमाणं णउविणादुस्सहिदयभावत्थो[6] (?)।
णिक्खेओ विउवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥८३॥
इय णामं अवहारिय आइरियपरंपरागदं मणसा।
पुव्वाइरिया आराणुसरणभत्तिरयणणिमित्तं ॥८४॥
मंगलपहुदिच्छक्कं वक्खाणिय विविहगंथजुत्तीहिं।
जिणवरमुहणिक्कंतं गणहरदेवेहिं गंथितपदमालं[7] ॥८५॥
सासदपदमावण्णं पवाहरूवत्तणेण दोसेहिं।
णिस्सेसेहिं विमुक्कं आइरियअणुक्कमायादं ॥८६॥
भव्वजणाणंदयरं वोच्छामि अहं तिलोयपण्णत्ती।
णिब्भरभत्तिपसादिदवरगुरुचलणाणुभावेण ॥८७॥
सामण्णजगसरूवं तम्मि ठियं णारयाण लोयं च।
भावणणरतिरियाणं वेंतरजोइसियकप्पवासीणं ॥८८॥
सिद्धाणं लोगो त्ति य अहियारे पयदिट्ठणवभेए।
तम्मि णिबद्धे जीवे पसिद्धवरवण्णणासहिए ॥८९॥

1 AS तेस्सि; 2 चउरमलमईहिं (?); 3 B सिस्सेण; 4 S भावसुदंपज्जाये; 5 विहिदा (?); 6 णाओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो (?); 7 A पदम्मलं।

वोच्छामि लेयलईए[1] भव्वजणाणंदए सुरसं जणाणं।
जिणमुहकमलविणिग्गयतिलोयपण्णत्तिणामाए ॥९०॥
जगसेढिघणपमाणो लोयायासो सपंचदव्वरिद्दी।
एस अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥
१६ ख ख ख।

जीवा पोग्गलधम्माधम्मा काला इमाणि दव्वाणि।
सव्वंलोयायासे उवट्ठिया[2] य पंच चरंति ॥९२॥
एत्तो सेढिस्स घणपमाणाणा णिण्णयरं परिभासा उच्चदे,—
पल्लसमुद्दे उवमं अंगुलयं सूइपदरघणणामं।
जगसेढि लोयपदरो अलोय अट्ठपमाणाणि ॥९३॥
प० १। सा० २। सू० ३। म० ४। घे० ५।
ज० ६। लोकप्रे० ७। ले० ८

ववहारुद्धारद्धा तियपल्ला पढमयम्मि संखाऊ।
बिदिए दीवसमुद्दा तदिए मिज्जेदि कम्मठिदी ॥९४॥
खंदं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी होदि परमाणू ॥९५॥
सत्थेण सुतिक्खेण छेत्तुं[3] भेत्तुं जं किरस्सक्का[4]।
जलयणलादिहिं णासं ण एदि सा होदि परमाणू ॥९६॥
एकरसवण्णगंधं दो पासा सद्दकारणमसद्दं।
खंदंतरिदं दव्वं तं परमाणुं भणंति बुधा ॥९७॥
अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिएहिं ण हु गेज्झं[5]।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं[6] कहंति जिणा ॥९८॥
पूरंति गलंति जदो पूरणगलणेहि पोग्गला तेण।
परमाणु च्चिय जादा इय दिट्ठं [7]दिट्ठिवादम्हि ॥९९॥
वण्णरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि।
खंदं पिव कुणमाणा परमाणू पुग्गला तम्हा ॥१००॥

---

1 Marginal note—नयविशेषं लयम्; 2 AB आधूइय; 3 छ+छेत्तुं; 4 किल+शक्या,—S is corrupt; 5 AB सोज्झं,—S has lost the letter; 6 S परमाणू; 7 A दिट्ठ°, S दिट्ठें।

आदेसमुत्तमुत्तो धादुचउक्कस्स कारणं जादो[1] ।
सो णेओ[2] परमाणू परिणामगुणेहिं खंदस्स ॥१०१॥
परमाणूहिं अणंताणंतेहिं बहुविहेहि दव्वेहिं ।
उवसण्णासण्णो त्ति य सो खंदो होदि णामेण ॥१०२॥
उवसण्णासण्णो वि य गुणिदो अट्ठेहि[3] होदि णामेण ।
सण्णासण्णो त्ति तदो दु[4] इदि खंदो पमाणट्ठं ॥१०३॥
अट्ठहि गुणिदेहिं सण्णासण्णेहिं होदि तुडिरेणू ।
तित्तियमेत्तहदेहिं तुडिरेणूहिं पि तसरेणू ॥१०४॥
तसरेणू रथरेणू उत्तमभोगावणीए वालग्गं ।
मज्झिमभोगखिदीए वालं[5] पि जहण्णभोगखिदि[6]वालं ॥१०५॥
कम्ममहीए वालं लिक्खं जूवं जवं च अंगुलयं ।
इदि[7] उत्तरा य भणिदा पुव्वेहिं अट्ठगुणिदेहिं ॥१०६॥
तिवियप्पमंगुलं तं उच्छेहपमाणअप्पअंगुलयं ।
परिभासाणिप्पण्णं होदि हु उदिसेहसूचिअंगुलयं ॥१०७॥
तं चिय पंचसयाइं अवसप्पिणिपढमभरहचक्किस्स ।
अंगुल एक्कं चेव य तं तु पमाणंगुलं णाम ॥१०८॥
जस्सिं जस्सिं काले भरहेरावदमहीसु[8] जे मणुवा ।
तस्सिं तस्सिं ताणं अंगुलमादंगुलं णाम ॥१०९॥
उस्सेहअंगुलेणं सुराण णरतिरियणारयाणं च ।
उस्सेहंगुलमाणं चउदेवणिकेदणयराणिं[9] ॥११०॥
दीवोदहिसेलाणं वेदीण णदीण[10] कुंडजगदीणं ।
वंसाणं च पमाणं होदि पमाणंगुलेणेव ॥१११॥
भिंगारकलसदप्पणवेणुपडहजुगाण सयणसगदाणं ।
हलमुसलसत्तितोमरसिंहासणबाणणालिअक्खाणं ॥११२॥
चामरदुंदुहिपीढछत्ताणं णरणिवासणगराणं ।
उज्जाणपहुदियाणं संखा आदंगुलं णेया ॥११३॥
छहिं अंगुलेहि वादो[11] बेवादेहिं विहत्थिणामा य ।
दोण्णि विहत्थी हत्थो बेहत्थेहिं हवे रिक्कू ॥११४॥

---

1 S आदू; 2 S णेऊ; 3 A अट्ठदि, S अट्ठेदि; 4 Or दुविहक्खंदो (?); 5 S वालम्मि; 6 A खिदी; 7 AS इणि; 8 AS महीस; 9 AB णिकेदणणयराणि; 10 S कुद, Or कुड्ड (?) 11 = पादः ।

बेरिक्कूहिं दंडो दंडसमा जुगधणूणि मुसलं वा ।
तस्स तहा णाली दोदंडसहस्सयं कोसं ॥११५॥
चउकोसेहिं जोयण तं चिय [1]वित्थारगत्तसमवट्टं ।
तस्सियमेसं घणफलमाणेज्जं करणकुसलेहिं ॥११६॥
समवट्टवासवग्गे दहगुणिदे करणिपरिधिओ होदि ।
वित्थारतुरिमभागे परिधिहदे तस्स खेत्तफलं ॥११७॥
उणवीसजोयणेसुं चउवीसेहिं तहावहरिदेसु ।
तिविहवियप्पे पल्ले घणखेत्तफला हु पत्तेका ॥११८॥
उत्तमभोगखिदीए उप्पण्णविजुगलरोमकोडीऊ ।
एक्कादिसत्तदिवसावहिम्मि च्छेत्तूणं संगहियं ॥११९॥
अइवट्टेहिं तेहिं रोमग्गेहिं णिरंतरं पढमं ।
अच्चंतं णविदूणं[2] भरियव्वं जाव भूमिसमं ॥१२०॥
दंडपमाणंगुलए उस्सेहंगुल जवं च जूवं च ।
लिक्खं तह कादूणं वालग्गं[3] कम्मभूमीए ॥१२१॥
[4]अवरंमज्झिमउत्तमभोगखिदीणं च वालअग्गाइं ।
एक्केकमट्ठगुणाहदरोमा ववहारपल्लस्स ॥१२२॥
८० । ६६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।
८० । ६६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।
८० । ६६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।

[5]पल्ल रोमस्स।

अट्ठरसं अंताणो[6] सुण्णाणं दो णवेक दो एक्का ।
पणणवचउक्कसत्ता सगसत्ता एक्कतियसुण्णा ॥१२३॥
दो अट्ठसुण्णतिअणइतियच्छदोणिणपणचउतिण्णि य ।
एक्कचउक्काणिं ते अंका[7] कमेण पल्लस्स ॥१२४॥

४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५-
१२१९२००००००:०००००००००००० ।

एक्केक्कं रोमग्गं वस्ससदे पेलिदम्हि सो पल्लो ।
रित्तो होदि स कालो उद्धारणिमित्तववहारो ॥१२५॥

---

1 S वित्थारंगत्तं ; 2 S णं विदूणं ; 3 S वालगूनं (?) ; 4 AB अवर ; 5 पल्ले (?) ; 6 अंतेणं (?) ; 7 B अंक ;

ववहारपल्लं

ववहाररोमरासिं पत्तेक्कमसंखकोडिवस्साणं ।
समयस[2] छेत्तूणं ठिविय पल्लम्हि भरिदम्हि ॥१२६॥
समयं पडि एक्केक्कं[1] वालग्गं पेलिदम्हि सो पल्लो ।
रित्तो होदि स कालो उद्धारं णाम पल्लं तु ॥१२७॥

उद्धारपल्लं

एदेणं पल्लेणं दीवसमुद्दाण होदि परिमाणं ।
उद्धाररोमरासिं छेत्तूणमसंखवाससमयसमं ॥१२८॥
पुव्वं व विरचिदेणं तदियं अद्धारपल्लणिप्पत्ती ।
णारयतिरियणरसुराण वि णेया कम्मट्ठिदी तम्हि[2] ॥१२९॥

अद्धारपल्लं । एवं पल्लं समत्तं ।

एदाणं पल्लाणं दहप्पमाणाउ कोडिकोडीओ ।
सागरउवमस्स पुढं एक्कस्स हवेज्ज परिमाणं ॥१३०॥

सागरोपमं समत्तं

अद्धारपल्लछेदो तस्सासंखेयभागमेत्ते य ।
पल्लघणंगुल[3]वग्गिदसंवग्गिदयम्हि सूइजगसेढी ॥१३१॥

२

जगसेढीवग्गो पदरंगुलपदराइयणो घणंगुलं लोगो ।
जगसेढीए सत्तमभागो रज्जू पभासंते ॥१३२॥

४ । = । ६ । ≡

एवं परिभासा गदा[4]

आदिणिहणेण हीणो पगदिसरूवेण एस संजादो ।
जीवाजीवसमिद्धो सव्वण्हावलोयणो[5] लोओ ॥१३३॥
धम्माधम्मणिबद्धा गदिरागदि[6] जीवपोग्गलाणं च ।
जेत्तियमेत्ताआसो लोयाआसो स णादव्वो ॥१३४॥

1 AB पडिक्केक्कं ; 2 S णारयतिरियणरासं सुराण कम्मट्ठिदी तम्हि ; 3 S घणंगुल ;
4 S गदं ; 5 S सव्वण्हावअवओ, सव्वण्हावलोइओ (?) ; 6 गदिरगदो (?) ।

लोयायासट्ठाणं सयंपहाणं[1] सदव्वछक्कं हु ।
सव्वमलोयायासं तं सव्वासं[2] हवे णियमा ॥१३५॥
सयलो एस य लोओ[3] णिप्पण्णो सेढिविंदमाणेण ।
तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिल्लउड्ढभेएण[4] ॥१३६॥
हेट्ठिमलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण ।
मज्झिमलोयायारो उब्भिय[5]मुरअद्धसारिच्छो ॥१३७॥

▽ △

उवरिमलोयाआरो उब्भियमुरवेण होइ सारिसत्तो ।
संठाणो एदाणं लोयाणं एण्हिं साहेमि संविट्ठिं ॥१३८॥

वादरं ।

तं मज्झे मुहमेक्कं भूमि जहा होदि सत्त रज्जूवो ।
तह छिंदिदम्मि मज्झे हेट्ठिमलोयस्स आयारो ॥१३९॥
दोपक्खखेत्तमेत्तं उच्चलयंतं पुण ठवेदूणं ।
विवरेदेणं मेलिदे[6] वा सुच्छेहा सत्त रज्जूओ ॥१४०॥
मज्झम्हि पंच रज्जू कमसो हेट्ठोवरिम्हि इगि रज्जू ।
सगरज्जू उच्छेहो होदि जहा तह य छेत्तूणं ॥१४१॥
हेट्ठोवरिदं[7] मेलिदखेत्तायारं तु चरिमलोयस्स ।
एदे पुव्विल्लस्स य खेत्तोवरि ठावए पयदं ॥१४२॥
उब्भियदिवड्ढ[8]मुरवधजोवमाणो य तस्स आयारो ।
एक्कपदे सव्वहलो चोद्दसरज्जूदवो तस्स ॥१४३॥
तस्स य एक्कम्हि दए वासो पुव्वावरेण भूमिमुहे ।
सत्तेक्कपंचएक्का रज्जूवो मज्झहाणिचयं ॥१४४॥
खेत्तसंठियचउखंडं सरिसट्ठाणं आइ[9] घेत्तूणं ।
तमणुज्झोभयपक्खे विवरीयकमेण मेलिज्जो ॥१४५॥
एवं चिय[10] अवसेसे खेत्ते गहिऊण पदरपरिमाणं ।
पुव्वं पिव कादूणं बहलं बहलम्मि मेलिज्जो ॥१४६॥

1 S सवण्पहाणं; 2 AB संवासं; 3 S एस अलोओ; 4 A ओड्ढ; 5 उब्भिय or उड्ढिय (?); 6 मिलिदे (?); 7 S हेट्ठोवरिद; 8 AB उब्भिय दिवड्ढ; 9 AB अइ; 10 AB एव जिय।

एवमवसेसखेत्तं जाव समं पेरि[1] ताव घेत्तव्वं ।
एक्केक्कपदरमाणं एक्केक्कपदेसबहलेणं ॥१४७॥

एदेण पयारेणं णिप्पण्ण तिलोयखेत्तदोइत्तं ।
वासउदयं भणामो णिस्सद्द[2] दिट्ठिवादादो ॥१४८॥

सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढं ।
पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे[3] सत्त येक्कपंचेक्का ॥१४९॥

।—।—॥—१ ।—५ ।—१ ।
७ ७ ७

चोद्दसरज्जुपमाणो उच्छेहो होदि सयललोगस्स ।
अद्धमुरज्जस्सुदवो सामग्गमुरवोदयसरिच्छो ॥१५०॥

१४ ।—।—।

हेट्ठिममज्झिमउवरिमलोउच्छेहो कमेण रज्जूवो ।
सत्त य जोयणलक्खं जोयणलक्खूणसगरज्जू ॥१५१॥

७ । जो १००००० । ७ । रिण[4] जो १००००० ।

इह रयणसक्करावालुपंकधूमतममहातमादिपहा ।
मुरवद्धम्मि महीओ सत्त च्चिय रज्जुअंतरिया ॥१५२॥

घम्मावंसामेघाअंजणरिट्ठाणउब्भमघवीओ ।
माघविया इय ताणं पुढवीणं गत्तणामाणि[5] ॥१५३॥

मज्झिमजगस्स हेट्ठिमभागादो णिग्गदो पढमरज्जू ।
सक्करपहु[6] पुढवीए हेट्ठिमभागम्मि णिट्ठादि ॥१५४॥

तत्तो दोइदु[7] रज्जू वालुवपहहेट्ठि समप्पेदि ।
तह य तइज्जा रज्जू पंकपहहेट्ठस्स[8] भागम्मि ॥१५५॥

$\bar{७}$ । १ । $\bar{७}$ । २ । $\bar{७}$ । ३ ।

धूमपहाए हेट्ठिमभागम्मि समप्पदे तुरियरज्जू ॥
तह पंचमिआ रज्जू तमप्पहाहेट्ठिमपएसे ॥१५६॥

$\bar{७}$ । ४ । $\bar{७}$ । ५ ।

---

1 परि (?); 2 णिस्सदं (?); 3 S भूमिमहे; 4 ऊण (?); 5 AB गात्त, S गोत्त; 6 AB सक्करसेह; 7 S दो इह; 8 AS पंकपहेट्ठस्स ।

महतमहेट्ठिमयंते छट्ठी हि[1] समप्पदे रज्जू।
तत्तो सत्तमरज्जू लोयस्स तलम्मि णिट्ठादि ॥१५७॥

७ । ६ । ७ । ७ ।

मज्झिमजगस्स उवरिमभागादु दिवड्ढरज्जुपरिमाणं।
इगिजोयणलक्खूणं सोहम्मविमाणधयदंडे ॥१५८॥

१४३ । १४३ ।

वच्चदि दिवड्ढरज्जू माहिंदसणक्कुमारउवरिम्मि।
णिट्ठादि अद्ध[2]रज्जूबम्हुत्तरउड्ढम्मि भागम्मि ॥१५९॥

१४ ।

अवसादिअद्धरज्जू काविट्ठस्सोवरिट्ठभागम्मि।
स च्चिय महसुक्कोवरि सहसारोवरि अ स च्चेय ॥१६०॥

१४ । १४ । १४ ।

तत्तो य अद्धरज्जू आणदकप्पस्स उवरिमपएसे।
स य आरणस्स कप्पं सो[3] उवरिमभागम्मि गेवज्जं ॥१६१॥
तत्तो उवरिमभागे णवाणुत्तरउ होंति एक्करज्जूवो।
एवं उवरिमलोए रज्जु[4]विभागो समुद्दिट्ठं ॥१६२॥
णियणियचरिमिंदयधयदंडग्गं कप्पभूमिअवसाणं।
कप्पादीदमहीए विच्छेदो लोयविच्छेदो ॥१६३॥
सेढीए सत्तंसो हेट्ठिमलोयस्स होदि मुहवासो।
भूमीवासो सेढीमेत्ताअवसाणउच्छेहो ॥१६४॥

७ । — । — ।

मुहभूमिसमासमद्धियगुणिदं पुण तह य वेदेण।
घणघणिदं णादव्वं वेत्तासणसरिणए खेत्ते ॥१६[५]
हेट्ठिमलोए लोओ चउगुणिसगहिदो विंद[5]फलं।
तस्सद्धे सयलजुदाणो दोगुणिदो सत्तपरिमाणो ॥१६६

≡४ । ≡२ । ७ ।

छेत्तूणं तसणालिं अण्णत्थं ठाविदूण विंदफलं।
आणेज्ज तप्पमाणं उण[6]वयणेहिं विभत्तलोयसमं ॥१६७॥

1 ABS छट्ठीहिं; 2 BS अट्ठ; 3 से (?); 4 AB रज्जू; 5 S विद; 6 A उण।

टीका—शुद्ध सिंगरफ, शुद्ध विषनाग, शुद्ध धतूरे के बीज, सोहागे का फूला, धवई के फूल, लौंग,-अतीस, समुद्रशोष के बीज ये सब बराबर बराबर लेवे और अभ्रक-भस्म सबसे आधा तथा अभ्रक-भस्म से आधा समुद्रफेन मिलावे फिर सबको एकत्रित करके तीन दिन तक धतूरे की जड़ के काढ़े से घोंटे और गोली बनावे। बेलगिरी अथवा जायफल या अतीस के अनुपान से शहद के साथ देवे तो इससे प्रवाहिका-ग्रहणी शांत होवे। यह ग्रहणी-कपाटरस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

८६—शूलादौ तालकादिरसः

तालकं रसकमाक्षिकाशिला गंधसूतमपि साम्यमानतः।
सर्वमेव खलु चूर्णितं पचेत् वाटरूषसुरसार्द्र वारिणा ॥१॥
मर्दितं तदनु ताम्रहेमजौ संपुटे क्षिपितसूतसाम्यकौ।
मृत्पटेन परिवेष्ट्य पाचितो व्योषनागररसैर्विभावितः ॥२॥
तालकादिरसमस्ति सः स्वयं भास्करस्तु कुरुते खरो यथा।
एष एव विनियोजितो द्रुतं रोगराजतमसो विनाशकः ॥३॥
चित्रकार्द्रकरसेन योजितो घोरशूलकफवातनाशनः।
नागराजयपालमिश्रितोऽजीर्णगुल्मकृमिनाशने परः ॥४॥

टीका—शुद्ध तबकिया हरताल, शुद्ध खपरिया, शुद्ध सोनामक्खी, शुद्ध मैनशिल, शुद्ध गंधक, शुद्ध पारा ये सब वस्तुएँ बराबर बराबर लेकर सबको एकत्रित कर अड़ूसा, तुलसी एवं अदरख के स्वरस से अलग अलग घोंटे, जब घुट जावे तब पारे के बराबर ताम्बे की भस्म तथा सोने की भस्म डाले और सबको सुखाकर संपुट में बंदकर कपड़मिट्टी करके भस्म कर लेवे। जब स्वांग शीतल हो जाय तब निकालकर त्रिकुट और सोंठ के काढ़े की अलग अलग भावना देवे और सुखाकर रख लेवे—बस यह तालकादिरस सिद्ध हो गया समझें। यह रस युक्तिपूर्वक प्रयोग किया जाय तो जिस प्रकार प्रखर सूर्य अन्धकार को नाश करता है, उसी प्रकार यह तालकादिरस अनेक रोगों को नाश करनेवाला होता है तथा विशेषकर यह रस चित्रक और अदरख के रस के साथ देने से भयंकर शूल अथवा कफजन्य और वातजन्य अनेक रोग शांत होते हैं। सोंठ, घी, शुद्ध जमालगोटा के साथ देने से अजीर्ण, गुल्मरोग और कृमिरोग भी शांत होते हैं।

६०—पित्तरोगे चन्द्रकलाधररसः

प्रत्येकं तोलमानेन—सूतकांताभ्रभस्मकं।
समं समस्तैर्गंधश्च कृत्वा कज्जलिकां त्र्यहं ॥१॥
मुस्तादाडिमदूर्वाकैः केतकीस्तनवारिभिः।
सहदेव्या कुमार्याश्च पर्पटस्यापि वारिणा ॥२॥
एषां रसेन क्वाथैर्वा शतावर्या रसेन च।
भावयित्वा प्रयत्नेन दिवसे दिवसे पृथक् ॥३॥
तिक्तागुडूचिकासत्त्वं पर्पटोशीरमाधवी।
श्रीगंधं निखिलानां तु समानं सूक्ष्मचूर्णकम् ॥४॥
तद्द्राक्षादिकषायेण सप्तधा परिभावयेत्।
सर्वेषां परिशोष्याथ वटिकाश्चणकैः समाः ॥५॥
धरश्चन्द्रकलानाम—रसेन्द्रः परिकीर्तितः।
सर्वपित्तगदध्वंसी वातपित्तगदापहः ॥६॥
अन्तर्बाह्यमहाताप-विध्वंसनमहाधनः।
ग्रीष्मकाले शरत्काले विशेषेण प्रशस्यते ॥७॥
हरते चाग्निमांद्यं च महातापज्वरं जयेत्।
बहुमूत्रं हरत्याशु स्त्रीणां रक्तमहास्रवम् ॥८॥
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं च रक्तवांतिविशेषकं।
मूत्रकृच्छ्राणि सर्वाणि नाशयेन्नात्र संशयः ॥९॥

टीका—शुद्ध पारा १ भाग, अभ्रक भस्म १ भाग—कांतलौह भस्म १ भाग तथा शुद्धगंधक ३ भाग लेने चाहिये। पहले पारा और गंधक को तीन दिन तक कज्जली बनावे, फिर उसमें अभ्रकभस्म तथा कांतलौहभस्म मिलाकर उसको खरल में डालकर नागरमोथा, अनार की छाल, दूर्वा, केवड़े का दूध तथा सहदेवी, घीकुमारी, पित्तपापड़ा और शतावरी के रस से अथवा काढे से अलग-अलग एक-एक दिन भावना देवे। भावना देने के बाद कुटकी का सत्व, गुर्च का सत्व, पित्तपापड़ा, खस, माधवीलता और चन्दन इन सब का चूर्ण करके उसी औषधि के बराबर लेकर मिला देवे—और उसमें द्राक्षादि के काढ़े से सात भावना देवे तथा चना के बराबर गोली बांध लेवे। यह चन्द्रकलाधर सेवन करने से सब प्रकार के पित्तजन्य रोग तथा वात-पित्तरोग, बाह्याभ्यन्तर के महाताप को शांत करने के लिये घनघोर मेघ के समान है। ग्रीष्म ऋतु एवं शरद ऋतु में विशेष लाभप्रद है। यह रस अग्निमांद्य को तथा महाताप-सहित ज्वर को जीतता है और हरएक प्रकार की थकावट, बहुमूत्र, स्त्रियों का रक्तप्रदर, उर्ध्वगरक्तपित्त, रक्त की कमी, और मूत्रकृच्छ्रता इत्यादि रोगों को दूर करता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिये।

९१—वातरोगे कल्पवृक्षरसः

मृतं लौहं मृतं सूतं मृतं ताम्रं च रौप्यकम्।
मौक्तिकं नीलगंधं च चामृतं मर्दयेत्तथा ॥१॥
अर्कमूं रक्तचित्रं गजकणा च पुनर्नवा।
बृहती चेश्वरी मूल-कषायैः मर्दयेद्भिषक् ॥२॥
चतुर्गुञ्जाप्रमाणेन लशुनं कटुकत्रयम्।
रक्ताचत्र-कषायेण निर्गुण्ड्या मार्कवैश्च सः ॥३॥
अनुपानविशेषेण वातरक्तहरश्च सः।
कल्पवृक्षरसो नाम विख्यातः सिद्धसम्मतः ॥४॥
चतुरशीतिवातानि गुल्मरोगत्रयाणि च।
आम्लपित्तं निहंत्याशु रक्तवांतिप्रशांतये ॥५॥
नानारोगहरश्चैव तत्तद्रोगानुपानतः।
पूज्यपादेन विभुना सर्वरोगविनाशकः ॥६॥

टीका—लौह भस्म, पारे की भस्म, तामे की भस्म, चांदी की भस्म, शुद्ध मोती, नीलवर्ण का शुद्ध गंधक, शुद्ध विषनाग इन सबको समान भाग लेवे तथा इनको खरल में डालकर अकोड़े की जड़, लाल चित्रक, गजपीपल, पुनर्नवा, बड़ी कटेइली, ईश्वरमूल इन सब के काढ़े से अलग अलग भावना देवे तथा सुखाकर रख लेवे और चार चार रत्ती के प्रमाण से लहसुन के रस के साथ एवं त्रिकटु, लालचित्रक, नेगड़, भंगरा के काढ़े के साथ अथवा अनुपान-विशेष से देवें तो इससे वातरक्त रोग शांत होता है। यह कल्पवृक्ष रस सर्व रसों में श्रेष्ठ है। यह ८४ प्रकार के वातरोगों को, सर्व प्रकार के गुल्मरोगों को, क्षयरोग, अम्लपित्त, रक्तवांति को तथा अनुपानविशेष से अनेक रोगों को हरनेवाला है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

९२—शूलादौ शूलकुठाररसः

रविरसभावितसद्यः क्षारत्रयं पंचलवणं च।
प्रत्येकं च समानं लशुनरसैरार्द्रकस्य संयुक्तम् ॥१॥
हंति परिणामशूलं जलोदरं पार्श्वशूलकटिशूले।
हरते च कुक्षिशूलं सद्योऽयं शूलकुठाररस एषः ॥२॥

टीका—सज्जीखार, जवाखार; टंकणक्षार, समुद्र नमक, काली नमक, सेंधा नमक, विडानमक और साम्हर नमक (सांगा) इन आठों को समान भाग लेकर अकौड़े के दूध की भावना देकर सुखाकर धर लेवे, फिर इसको लहसुन एवं अदरख के रस के साथ सेवन करावे तो इससे परिणाम-शूल, जलोदर, पार्श्वशूल, कटिशूल तथा कुक्षिशूल शांत होते हैं।

६३—विबंधे इच्छाभेदिरसः

त्रिकटुं टंकणं चैव पारदं शुद्धगंधकं।
जयपालचूर्णत्रिगुण्यं गुडेन वटिकां कुरु ॥१॥
विरेचनकरश्चासौ मूत्ररोगविनाशनः।
दीपने पाचने कुष्ठे ज्वरे तीव्रे च शूलगे ॥२॥
मन्दाग्नौ चाश्मरीरोगे चानुपानविशेषतः।
रोगिणश्च बलं दृष्ट्वा प्रयुंज्यात् भिषगुत्तमः ॥३॥
संशोधनः शीतजलेन सम्यक् संग्राहकश्चोष्णजलेन सत्यम्।
सर्वेषु रोगेषु च सिद्धिदः स्यात् श्रीपूज्यपादैः कथितोऽनुपानैः ॥४॥

टीका—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, चौकिया सुहागा, शुद्ध पारा और शुद्ध गंधक इन सबको बराबर लेवे तथा पहले पारे और गंधक की कज्जली बनावे पश्चात् ऊपर की औषधियां मिलावे और शुद्ध जमालगोटा तीन भाग लेकर खूब पीसे तथा पुराने गुड़ के साथ गोली बांध लेवे। इसको अनुपान-विशेष से सेवन करने से विरेचन एवं मूत्ररोग शांत होता है। अग्नि को दीपन करनेवाली, पाचन करनेवाली, कोढ़ में हितकारी, ज्वर में, शूल में, अग्निमांद्य में एवं अश्मरी रोग में, उत्तम वैद्य रोगी का बल देखकर इसका प्रयोग करें तो यह इच्छाभेदी रस की गोली हितकारी है। यह इच्छाभेदीरस शीतल जल के साथ दोषों को शुद्ध करनेवाला तथा उष्ण जल के साथ संग्राहक है अर्थात् दस्तों को रोकनेवाला है।

६४—गुल्मादौ भैरवीरसः

सूतकं कृष्णजीरं च विडंगं गंधकानि च।
सौवर्चलं समं व्योषं त्रिफलात्रिविषाणि च ॥१॥
सैंधवं चामृतं युक्तं हेमक्षीर्याश्च तद्रसैः।
मर्दयेत् गुटिकां कृत्वा प्रमाणं गुंजमात्रया ॥२॥

गुंजाद्वयं च वटिका दातव्या चार्द्रकैः रसैः ।
वातजन्यं च गुल्मं च शूलं च जठरानलम् ॥३॥
पूज्यपादेन कथितश्चोत्तमो भैरवीरसः ।

टीका—शुद्ध पारा, स्याहजीरा, वायविडंग, शुद्ध गंधक, काला नमक, सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला, अतीस, सेंधा नमक, शुद्ध विषनाग इन सबको समान भाग लेकर पहिले पारे और गंधक की कज्जली बनावे, पश्चात् सब औषधियाँ कूट कपड़छन करके हेमक्षीरी (सत्यानाशी) के स्वरस में घोंट कर एक-एक रत्ती की गोली बांधे। दो-दो गोली सुबह शाम अदरख के रस के साथ देवे तो वातजन्य गुल्मरोग एवं शूल रोग के विनाश के साथ जठराग्नि दीप्त हो जाती है। यह भैरवीरस पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

६५—शीतज्वरादौ स्वच्छन्दभैरवीरसः

समभागं च संग्राह्य पारदामृतगंधकम् ।
जातीफलं च भागार्धं दत्वा कुर्याश्च कज्जलीम ॥१॥
सर्वार्धं मागधीचूर्णं खल्वयित्वा तु दापयेत् ।
गुंजाद्वयं त्रयं चापि नागवल्लीदलेन वा ॥२॥
आर्द्रकस्य रसेनापि यत्नात् पूर्वं निषेवितम् ।
शीतज्वरे सन्निपाते विषूचीविषमज्वरे ॥३॥
जीर्णज्वरे च मन्दाग्नौ शिरोरोगे च दारुणे ।
प्रयुज्य भिषजः सर्वे रसं स्वच्छन्दभैरवं ॥४॥
मुहूर्तात् सेवने पश्चात् ततः कुर्यात् क्रियामिमां ।
तक्रक्षीरं सितां दद्यात् ततः शीतेन वारिणा ॥५॥
पथ्यं दध्योदनं कुर्यात् आर्द्राहारं तु कालजित् ।
यथा सूर्योदयेण स्यात्तमसः नाशनं परम् ॥६॥
स्वच्छन्दभैरवेण स्यात्तथा सर्वामयस्य तु ।
स्वच्छन्दभैरवीनामा पूज्यपादेन भाषितः ॥७॥

टीका—शुद्ध पारा, शुद्ध विषनाग, शुद्ध गंधक एक-एक भाग लेवे तथा जायफल आधा भाग लेवे। इन सब की कज्जली करके सब से आधी पीपल लेकर सबको सूखा एवं खरल कर २ रत्ती या तीन रत्ती पान के रस के साथ अथवा अदरख के रस के साथ यत्नपूर्वक देवे तो इससे सन्निपात, विषूचिका, विषमज्वर, जीर्णज्वर, मन्दाग्नि तथा कठिन से कठिन

शिरोरोग भी अच्छे हो जाते हैं। वैद्य महाशय इसको यत्नपूर्वक प्रयोग करें। इस रस को देने के एक मूहूर्त पश्चात् तवाखीर तथा शक्कर ठंढे पानी के साथ खाने को देवे और दही भात का पथ्य देवे तथा तरल (पतली) वस्तु का आहार देवे। जिस प्रकार सूर्योदय से अन्धकार का नाश हो जाता है उसी प्रकार स्वच्छन्द भैरवरस के सेवन करने से रोगरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

६६—मन्दाग्नौ कालाग्निरुद्ररसः

वज्रसूताभ्रस्वर्णार्कताराताीक्ष्णायसं क्रमात्।
भागवृद्धयामृतं सर्वं सप्ताहं चित्रकद्रवैः ॥१॥
मर्दयेत् मातुलुंगाम्लैः जंबीरस्य दिनत्रयम्।
शिग्रु मूलद्रवैः क्राथैः कणाक्राथैः दिनत्रयम् ॥२॥
त्रिदिनं त्रिफला-क्राथैः शुंठीमारीचजैः त्रयम्।
जातीफलं लवंगैलात्वचापत्रककेशरैः ॥३॥
कोलांजनयुतक्राथैः भावयेद्दिवसत्रयम्।
आर्द्रकस्य द्रवैः सप्तदिवसं भावयेत् पुनः ॥४॥
शोषितं चूर्णयेत् श्लक्ष्णं चूर्णपादं च टंकणम्।
टंकणांशं वत्सनाभं चूर्णीकृत्वा विमिश्रयेत् ॥५॥
त्रिकटुत्रिफलाब्राह्मीचातुर्जातिकसैंधवम्।
सौवर्चलं च सामुद्रं चूर्णमेषां च तत्समम् ॥६॥
समं कृत्वा प्रयोज्यं च तत्सर्वं चार्द्रकद्रवैः।
शिग्रूत्थमातुलुंगाम्लैः घोटयित्वा वटी कृता ॥७॥
रसः कालाग्निरुद्रोऽयं त्रिगुंजं भक्षयेत् सदा।
अग्निदीप्तकरः ख्यातः सर्ववातकुलांतकः ॥८॥
स्थूलानां कुरुते कार्श्यं कृशानां स्थौल्यकारकम्।
अनुपानविशेषात्तु तत्तद्रोगे नियोजयेत् ॥९॥
लेपसेकावगाहादीन् योजयेत् कार्ययुक्तितः।
साध्यासाध्यं निहंत्याशु मंडलानां न संशयः ॥१०॥
पूज्यपादेन विभुना चोक्तो वातविनाशनः।

(श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा का मुख-पत्र)

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

अर्थात्

प्राचीन जैन-इतिहास, साहित्य एवं शोध-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ३—वि० सं० १९९३ एवं वीर सं० २४६३।

सम्पादक-मण्डल

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पण्डित के० भुजबली शास्त्री

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४)　　विदेश में ४॥)　　एक प्रति का १।)

JAINA ANTIQUARY

ANANGLO-HINDI QUARTERLY JOURNAL.

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

ग्रन्थमाला-विभाग—

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

Vol. II.] MARCH, 1937. [No. VI.

Editors :

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah. U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :

Inland Rs. 4. **Foreign Rs. 4-8.** **Single Copy 1-4.**

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. II. No. IV	ARRAH (INDIA)	March. 1937.

THE PRESIDING DEITY OF CHILDBIRTH AMONGST THE ANCIENT JAINAS, WITH SPECIAL REFERENCE TO FIGURES IN THE MATHURĀ MUSEUM.

By Vasudeva S. Agrawala, M.A., Curator, Curzon Museum, Muttra.

Mathrua has been an important centure of Jainism from at least the 2nd century B.C. The famous Vodva Stupa, whose respectable antiquity in the 1st Century A.D. is proved by an inscription referring to it as the work of gods, stood at the Kankali Tila site at least two centuries before the Christian era. This monument continued to exist for over twelve hundred years. During the Kushāṇa period it was in its most flourishing condition and was one of the richest centres of sculptural treasures in north India. Its ūnique importance lies in the fact that not only Jaina sculptural remains have been unearthed from this site, but also important specimens of Buddhist and Brahmanical religious art have been found from the Kankali tilla. Images of Tīrthaṅkaras, Toraṇa architraves, railing pillars, cross-bars, door jambs, Ayāgapaṭṭas, images of Indra, Naigamesha, Saraswatī, Kubera, Hārītī, Bodhisattva, Vishṇu, Sūrya, and of other gods and goddesses as well as a large number of interesting architectural pieces have come to light from the ruins of the Kankali mound.

It is stated in the Mathurā Kalpa that Supāraswanath had his Stūpa at Mathurā, which is also believed to have been the place of

salvation of Jambū Swāmi, disciple of Sudharmā. Its popularity as a place of pilgrimage must have attracted a large gatherings in ancient times, but Mathurā suffered in importance with the growth of other religious centres of Jainism in western and southern India. At the present day the number of Jaina visitors is very small, though the modern temple called Chaurāsi presumably built in the last century on the remains of an ancient mound possesses some importance.

A fuller illustrated account of the ancient Jaina Monastery of Kankali Tila is to be found in Vincent Smith's *Jaina Stupa and other antiquities of Mathura*, and also Bühler's book named '*A Legned of the Jaina Stupa of Mathura*, In the present article we wish to draw attention to a particular Jaina deity *viz.*, Naigamesha, who was most probably worshipped as the presiding spirit of child birth, and was being invoked by those householders who prayed for accomplishment of desires and increase of progeny.

The ancient Jain art of Mathurā may be credited with having produced several notable specimens of this deity. The most remarkable amongst them is the *torana* fragment depicting 'Bhagva Nemeso', Lord Nemesha, and inscribed with this name. Other beautiful examples of this goat-faced divinity are preserved in the Mathura Museum. [Nos. E. 1, E. 2, E. 3, E. 4, E. 5, U. 50, 900, 1046, 1115, 1210, 2482 and 2547.]

The proper identification of a goat-faced deity, both male and female, presented some difficulty more so because the subject of Jaina iconography has not till now been sufficiently studied. Dr. Buhler however succeeded in assigning a proper place and meaning to this peculiar god. He pointed out that the Jaina deity Naigamesa may be identical with the Hindu god Naigameya, a form of Skanda, son of Ambikā (Epigraphia Indica vol. II. G. Bühler's 'Specimens of Jaina Sculptures from Mathura,' 316). It may be quite likely as the goat-faced Hindu god Daksha is also spoken of as Prajāpati, *i.e.*, guardian of children, and was the reputed father of Ambikā or the Mother goddess.

Dr. Bühler also quoted a very interesting story from the seventh canto of *Neminātha Charita* which connected the legend of god Naigamesa with the life of Krishna stating how the latter invoked the

help of the goat-faced deity for obtaining for Satyabhāmā a son equal to Pradyumna in good luck and auspicious qualities.

"Annoyed at the great luck of Pradyumna and his fame, Bhāmā went into her *boudoir* and lay down on a broken cot (8). The foe of Kaṁsa visited her there and spoke agitatedly; 'who has shown disrespect to thee, whereby, O fair-browed one, thou art thus afflicted?' (9).

Bhāmā answered: 'No disrespect has been shown to me, but, if I do not obtain a son equal to Pradyumna, I shall certainly die.' (10). Knowing her tenacity of purpose, Krishṇa undertook a fast in honour of the god Naigameshin, partaking only of every eighth meal. (11).

Naigameshin appeared and spoke to him; 'What can I do for thee?' Krishṇa answered, Give to Bhāmā a son who resembles Pradyumna.' (12) Naigameshin replied, 'Make her, whom thou desirest to have a son, put on this necklace, and then have intercourse with her, thereby she will obtain the desired son.' (13). Handing over the necklace, which he wore, Naigameshin disappeared. But Vāsudeva joyfully gave the precious ornament to Satyā (14), (Ep. Ind. Vol. II, p. 315).

प्रद्युम्नस्य महात्रद्धया ताम्यन्ती श्लाघयापि च ।
भामा कोपगृहे गत्वा शिश्ये जर्जरमञ्चके ॥८॥
तत्रायातश्च कंसारिर्व्याजहार ससंभ्रमम् ।
केनापमानितासि त्वं येनैवं सुभ्रु ताम्यसि ॥९॥
भाम्यूचे नास्त्यमानो मे किंतु प्रद्युम्नसंनिभः ॥
न चेन्मे भविता सूनुर्मरिष्यामि तदा ध्रुवम् ॥१०॥
कृष्णस्तदाग्रहं ज्ञात्वा त्रिदशं नैगमेषिणाम् ।
उद्दिश्याष्टमभक्तेन पौषधं प्रत्यपद्यत ॥११॥
आविर्भूय नैगमेषो तमूचे किं करोमि ते ।
कृष्णोऽप्युवाच भामायै देहि प्रद्युम्नवत्सुतम् ॥१२॥
नगमेश्यवदद्यस्यां पुत्रेच्छा ते भजस्व ताम् ।
त्वममुं हारमामोच्य ततो भावीप्सितः सुतः ॥१३॥
अर्पयित्वा धृतं हारं नैगमेषी तिरोदधे ।
वासुकं वासुदेवोऽपि सत्याय मुदितो ददौ ॥१४॥

Two facts emerge out of this story, firstly that the Jainas knew of a god whom they called Naigameshin and whom they sought to propitiate for obtaining the blessings of child-birth and good luck. The second peculiarity suggested in the story quoted above is of iconographic importance in that it lays down a conspicuous necklace to be the distinguishing mark of this god. This feature can be traced in all the images of this deity whether representing its male or female aspect. Even where the entire figure is devoid of ornaments, as in the delicately finished figures E. 2 and E. 3 of the Mathurā Museum, the large necklace (*hāra*), a variety of torque (*graiveyaka*) is an invariable feature of decoration.

The mythology of the Jainas is unanimous in assigning the function of supervision over children and child-birth to the male god Naigameshin, yet by the very nature of the purpose sought to be fulfilled by his aid, a male divinity must have appeared very anomalous alike both to the worshippers of Jaina religion and sculptors of Jaina art. In all naturalness it should be a female divinity who would understand and sympathise with the aspirations of those who longed for motherhood. Only she could be freely invoked and appeased for removing the curse of sterility. Her tender heart would be touched and moved much sooner by the suplications of her devotees and it was naturally thought that confidential prayers for luck in child-birth could not be made to a deity of the opposite sex. It was not only a devotional urge that led the Jaina Śrāvikās to conceive the female counterpart of the goat-faced god, Prajāpati Naigamesha or Nemeso, but it also is probable that the example of the Budhist goddess Hārīti inspired people, specially Jaina women to think of the deity of child-birth in her female form to serve the same ends. The Budhist goddess, whose heart overflowed with the milk of human kindness and who was constantly present there in the Buddhist temples ready to intercede on behalf of supplicant mothers, was being worshipped evidently with good luck by their Buddhist sisters. Even the Hindu goddess Lakshmī with her associtaions of abundant good luck and auspicious dispensations was also near at hand. So the Jaina lay worshippers soon filled this gap in their forms of worship and adopted a female goddess as the counterpart

of their male deity Naigamesha. The plastic form of Hāritī with a troop of children arranged on her shoulders, in the lap, on either side and between the feet, was ready to hand, and worked on that model the female counterpart of the male god Naigamesha also appeared with a child, whom she was shown rocking in a cradle in her lap. As a distinguishing feature the new goddess, was given the head of a goat attached to the body of a woman.

A third stage seems to have been reached in the evolution of the 'Mother Goddess' of Jaina iconography when the goat-face was replaced by a fair damsel's face, full of charm and having a pleasing countenance. Here the formula of Hārītī became complete and the Jaina conception of Mother and Child came to be idealy perfected. We may recognise in such images representations of the ideal mother and her ideal child, *viz.*, Triśalā and Mahāvīra. What more sacred than this form could there be to the heart of a devout Jaina mother? Triśalā and Mahāvīra supplied for the Jainas what Māyā with her newly-born babe did for the Buddhists. A very beautiful image of this class assignable on stylistic grounds to the 2nd. Century A.D. is No. E. 4 of the Mathura Museum. Iconographically and plastically she is similar in all details to the royal lady Triśalā and her child shown in the *Bhagava Nemeso* frieze obtained from the Kankali Tila (Illustrated in Ep. Ind. Vol. II. p. 314, plage II, fig. a) These images are unique in the whole domain of Jaina plastic art. Having been discovered at a site which was undoubtedly the most important and ancient centre of Jaina art eighteen hundred years ago they deserve to be better known amongst the followers of that religion.

THE KALPASŪTRA

BY

Dr. BIMALA CHURN LAW, M.A., B.L., Ph. D.

Continued from page 74.

Ṛṣabha who was a Kosalian belonged to the Kāśyapa gotra. He had five names, Ṛṣabha, First King, First mendicant, First Jina and First Tīrthakara.

Riding in his palanquin, and followed on his way by a train of gods, men and asuras, Ṛṣabha came right through the town of Vinītā to the park called Siddhārthavana and stopped under the excellent Aśoka tree and with his own hands plucked out his hair in four handfuls. After fasting for two days and a half Ṛṣabha put on a divine robe which he discarded after a time and became naked.[1] He tore out his hair and entered the state of homelessness in the company of 4,000 high nobles, royal persons and kṣatriyas. Neglecting his body, he meditated upon himself for one thousand years. Outside the town of Purimatāla, in the park called Sakatamukha, under the excellent tree Nyagrodha, he, after fasting for three days and a half, being engaged in deep meditation, attained the highest knowledge and intuition called Kevala. He had 84 gaṇas and 84 gaṇadharas. He had an excellent community of 84,000. Śramaṇas with Rsabhasena at their head ; 300,000 nuns with Brahmasundarī at their head[2] ; 305,000 lay votaries with Sreyāṁsa at their head ;[3] 554,000 female lay votaries with Subhadrā at their head ;[4] 4,750 sages who knew the fourteen Pūrvas ; 9000 sages possessed

---

1. Digambaras make him a naked saint at the very outset. Editor.

2. The Digambaras give the number of nuns as 350000.

3. Lay votaries according to Digambaras were 300,000 ; with Dradaratha at their head. Editor.

4. 500,000 were the female lay votaries according to the Digambaras ; among whom Suvratā was the chief one. Editor.

of the Avadhi knowledge, 20,000 kevalins; 20,600 sages who could transform themselves; 12650 sages of vast intellect, 12650 professors; 20,000 male and 4,000 female disciples who had reached perfection [1].

He instituted two epochs in his capacity of a Maker of an end; the epoch relating to generations and that relating to psychical condition. The former ended after numberless generations and the latter from the next Muharta after his Kevalaship. He after fasting for six days and half died on the summit of mount Aṣṭāpada in the Saṁparyaṅka position, while in the company of ten thousand monks.

*Rules for Yatis samācāris.

After a month and twenty nights of the rainy season had elapsed Mahāvīra commenced the Pajjuṣan[2] because at that time the lay people had usually matted their houses, whitewashed them, strewn them with straw, smeared them with cowdung, levelled, smoothed, or perfumed them, had dug gutters and drains, had furnished their houses, had rendered them comfortable, and had cleaned them.

Like the venerable ascetic Mahāvīra, the gaṇadharas, their disciples, the Sthaviras and the Nirgrantha Śramaṇas began the Pujjuṣan after a month and twenty nights of the rainy season had elapsed. The Pajjuṣan is allowed to be commenced earlier, but not after that time.

1. The Digambaras mention the following śramaṇas :—

(1) 20000 Kevala-jñānī, (2) 12750 Manaḥ-paryaya-jñānī, (3) 9000 Avadhi-jñānī, (4) 4750 Śrutakevalins. (5) 20600 sages, who could transform themselves, (6) 12750 sages of Vāda-ṛddhi and (7) 4150 professors.
Editor.

2. Rules for yatis are meant to guide the sages during the Pajjuṣan or Lenten period. Pajjuṣan corresponds to the Buddhist Vassa and is divided into two parts the 50 days that precede and the 70 that succeed the 5th of Bhādra, Suklapaksa. The Svetāmbaras fast during the former period and the Digāmbaras during the latter.

* Digambaras also observe such rules, but they differ at various points. See Vatta Kera's "Mūlācāra' and Śivakoti's "Bhagavatī Ārādhanā."—Editor.

K. P. J.

Before going out for begging alms during the Pajjuṣan, mendicants are required to give notice of the direction or intermediate direction in which they intend to go so that they may be searched for in case they may swoon or fall down under exhaustion due to frequently undertaking austerities.

During the Pajjuṣan, mendicants are not allowed to go beyond a yojana and a Kroṣa while in their round for alms. They are permitted to travel beyond a yojana and a Kroṣa if the river on the way be such as can be crossed by putting one foot in the water and keeping the other in the air but they are not permitted to cross an ever-flowing river.

They are not allowed to travel farther than four or five yojanas and then to return. They are allowed to stay in some intermediate place, but not to pass there the night.

During the Pajjuṣan the ācārya will say, 'give sir'! Then he is allowed to give food to a sick brother but not to accept himself. If the ācārya says, 'Accept Sir' then he is allowed to accept food, but not to give. If the ācāyea says, 'Give Sir, 'Accept Sir' then the patient is allowed to give and to accept food.

Healthy mendicants are forbidden during the Pajjuṣan to take frequently the following nine drinks: milk, thick sour milk, fresh butter, clarified butter, oil, sugar, honey, liquor and meat.

During the Pajjuṣan a monk after taking previous permission of the ācārya, may collect such quantity of one or other of the drinks mentioned above as is necessary for a sick man. He is permitted to accept the surplus if offered to him for his own use by the donor.

In converted and devoted householder's families, Sthavīras are not permitted to enquire of such things as are not seen there because such an enquiry may lead the householder to buy or steal the things enquired of.

During the Pajjuṣan monks are not allowed to take their meals while their body is wet or moist. Those monks who take one meal a day may collect alms at the fixed time except when they are engaged in waiting upon the ācārya, an ascetic, a sick man, etc. They are allowed to accept all permissible drinks.

Those monks who take only one meal every second day should, after going out in the morning, eat and drink their pure dinner, then they should clean and rub their alms-bowls. If their dinner be insufficient then they may collect alms for a second time. They are allowed to accept three kinds of drinks: water used for watering flour, sesamum, or rice.

Those monks who take their meals every third day, are permitted to collect alms twice. They are allowed to accept three kinds of drink. water used for washing sesamum, chaff, or barley. Those who eat one meal every fourth day, are allowed to collect alms three times. They are allowed to accept three kinds of water: rain-water, sour gruel, or pure (hot) water. Those who keep still more protracted fasts are allowed to collect alms at all times (four). They are permitted to accept one kind of drink: hot pure water which must not contain boiled rice. Those who do not take their meals at all, are allowed to accept one kind of drink, viz., pure hot water which must be filtered, and of sufficient but limited quantity and which must not contain boiled rice.

Those monks who restrict themselves to a certain number of donations during the Pajjusan are allowed to accept five donations of food, and five of drink; or four of food, and five of drink; or five of food and four of drink They may accept donation of salt for seasoning their meat.

During the Pajjuṣan mendicants who restrict their visits to certain houses may go to a place where rice is cooked, if it is the seventh house from their lodging.

During the Pajjuṣan mendicants who collect alms in the hollow of their hands are not allowed to collect alms or to frequent the abodes of householders if it rains, and to stay anywhere except in a house after having accepted alms, for it might begin to rain.

During the Pajjuṣan monks are not allowed to collect alms for others without being asked by them for alms. Mendicants are directed to perceive, observe and inspect eight classes of small things, viz., living beings, mildew, seeds, sprouts, flowers, eggs, layers

and moisture. The monks must take previous permission of their superiors before they wish to frequent the abodes of householders for collecting alms, to visit temples, to leave the house for easing nature, to wander from village to village, to take some medicine, to undergo some medical cure, to do some exalted penance, to wait for his last hour without desiring it, to abstain from food and drink altogether or to remain motionless, to ease nature, to learn their daily lesson, and to keep religious vigils.

Before monks would desire to go out for collecting alms they should ascertain the willingness of one or other of their fellow monks to look to their robes or such other things which they had already kept in the sun for warming.

During the Pajjuṣan monks must have their proper bed and bench otherwise it would be difficult for them to exercise control.

During the Pajjuṣan monks must inspect three spots for easing nature. They must have three pots, one for ordure, one for urine and a spitting-box.

The Sthaviras generally shave their head with razor every month, cut off their hair every half month and pluck out their hair every six months.

Continuance of the use of harsh words by monks after the commencement of the Pajjuṣan in spite of warning entails expulsion from the community.

In case of a quarrel or dispute during the Pajjuṣan senior and junior monks should forgive and ask pardon from one another for '*peace is the essence of monachism.*'

During the Pajjuṣan mendicants should have two lodging-places one for occasional use and one for constant use.

Of those Nirgrantha monks who follow these rules regulating the conduct of Sthaviras in the rainy season, some will reach perfection, be freed from all pains in that same life, some in the next life, some in the third birth ; none will have to undergo more than seven or eight births.

The Jaina Chronology.

(By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S)

The books of the Jainas, as late Sir Vincent Smith remarked, 'are specially rich in historical and semi-historical matters'; but to our regret they have not been searched out and published in a scientific way yet. Even to this day, when knowledge with its elaborate methods have advanced far lavishly, nobody can say definitely that what the Jaina literature is in whole? What books are awaiting the searching eye of a literary explorer? Then how can we expect an uptodate history of Jainism compiled in the present circumstances? But it is a great necessity and desiredatum of the times. To facilitate its compilation I have decided to record the events of the Jaina Church beginning from Vṛaṣabhadeva, the first Tirthaṃkara to the present day. I have divided this whole period into the following heads : —

(1) *Pre-Historical or Pauranic period.*—Under it the events happened upto Lord Ariṣṭa-Nemi will be recorded.

(2) *Historical period.*—With its divisions as given below :—

(a) *Ancient period.*—800 B.C. to 200 A.D.

(b) *Medieval period.*—200 A.D. to 1300 A.D.

(c) *Modern period.*—1300 A.D. to present day.

Thus planned, it will be a 'Register of Jaina Events' and I would like to call it the "Jaina chronology" after the manner of the Indian historian Duff's *Indian Chronology*. I hope that my this humble undertaking will prove useful to the future historians. Here I begin with the first period ;

"THE PRE-HISTORICAL PERIOD EVENTS."

No.	Period & Date.	Event.
1	Closing period of *Bhoga-Bhūmi.**	Fourteen *Kulakaras* † or *Manus* appeared, who initiated the people with the truths of a practical life. They were:— 1. *Prati-śruti*, or Prati-svāti, who explained the existence of moon and sun to the enquiring laity on Aṣāda śukla Pūrṇimā. 2. *Sanmati*, who further enlightened the people on the zodiacal subject. 3. *Kṣemaṃkara*, who taught the various method of defence from aggressive and ferocious animals. 4. *Kṣemaṃdhara*, who further taught the people to live in a martial manner and to use arms for their protection. 5. *Sīmaṃkara*, who arbitrated between the parties quarrelling over the question of possessing the *Kalpa-Vrakṣas* and marked the land with boundries. 6. *Sīmaṃdhara*, who improved the Survey and Judicial work so nicely initiated by his father the 5th Manu. 7. *Vimala-Vāhana*, or Vipula Vāhana, who brought into control and taught to ride on and harness the animals like elephant, horse and bull.

* "The Regions where there is enjoyment only i.e., people do not have to work for their sustenance, and the arts of agriculture, etc., are neither necessary nor known. All that the people want, they get from the wishing trees called *Kalpa Vṛakṣas*."—Jaina Gem Dictionary, p. 35.

† "The great leaders of men who flourished at the end of the third age (Sukhamā dukhamā) of the present aeon."—*Ibid*, p. 62.

No.	Period & Date.	Event.
1	Closing period of *Bhoga-Bhūmi.* (Continued).	8. *Chākṣusamāna,* in whose time parents survived to see the faces of their issues for the first time. So he explained to them the science of maternity. 9. *Yaśasvin,* who taught the simple people of his time to name their offsprings. 10. *Abhichandra,* who taught the people how to rear and bring up their children. 11. *Chandrābha,* further enlightened the people on the welfare of children. 12. *Maru-deva,* in whose time the offsprings ceased to born in twins. His single offspring was a son, who was the next Kulakara. Marudeva initiated the marriage system by having a good partner for his son Prasenajita. He was a ruler also in the true sense of word and taught people the method of building and using boats etc. Thus Marudeva initiated the people in a true householder life and probably it is due to this fact that the people of pre-Rig-Vedik India were called Mûra or Maura Devas, whom Prof. Banerji—Shastri suspects to be the authors of the Indus Valley civilisation. 13. *Prasenajita,* imparted the knowledge of midwifery to the laity of his time.

1. Indian Historical Quarterly Vol. XII, p. 337.
See my forthcoming contribution on the subject also.

No.	Period & Date.	Event.
1	Closing period of *Bhoga-Bhūmi.* (Continued.)	14. *Nābhirāya*, was the last Kulakara, who further taught the public on the manner of living a civilised life. His queen was *Marudevi* and he was also known as *Marudeva*; which fact further supports our above hypothesis that why the ancient Indians were styled as Mûradeva also. *References:* —*Ādipurāṇa* of Jinasena, *Uttarapurāṇa* of Guṇabhadra, *Abhidhānachintāmaṇi* of Hemchandra, *Harivaṃsapurāṇa* of Jinasena, *Padmacarita* of Raviṣeṇa, J. L. Jaini's '*Outlines of Jainism*' K. P. Jain's *Saṃkṣipta Jaina Itihāsa, Vol. I,*' Jacobi's '*Eine Jaina Dogmatik*' Glassenapp's *Der Jainismus* etc.
2	Dawn of *Karma Bhūmi.* *Aṣāḍa Śukla dvitiyā.*	Marudevî, queen of the last *Kulakara* Nābhirāya, saw sixteen dreams, the interpretation of which assured her that the first world-teacher or Tîrthamkara will born to her. The celestial beings started showering jewels in the courtyard of the home of Nābhirāya at Ayodhyā in honour of the forthcoming Tîrthaṁkara.
3	*Chaitra Kṛṣṇā Navamî.*	*Ṛṣabha* or *Vṛaṣabhadeva* born. *Indra* came with his retinue and celeberated the birth rejoicings of the first Tîrthaṃkara. He named the boy as 'Vṛaṣabhadeva' since he had to advent the 'vṛaṣa' (*Dharma*) for the first time in this cycle of time. His parents also adopted this very name, since, *Marudevî* saw a fine bull in her last dream. Vṛaṣabha's emblem was also a bull.

No.	Period & Date.	Event.
4	*Śrî Ṛṣabha as a youth.*	*Vṛaṣbhadeva* having attained to young age helped his father in providing and teaching facilities of life to people and imparted to them the knowledge of various arts and crafts. For the first time the leader *Vṛaṣabha* invented for and taught the alphabet and numerals with their respective script and form to his daughters named Brāhmî and Sundarî. Consequently the ancient Indian Script came to be known as "Brāhmî—Lipi" after the name of the virgin daughter of *Vṛaṣabhadeva*.
5	*Marriage of Śrî Ṛṣabha.*	Marriage of *Vṛaṣabhadeva* was performed with the two Princesses named, *Nandā* or Yaśasvati and *Sunandā*, who were the daughters of the Kings named Kachcha and Mahā-Kachcha respectively. The names of these kings reminds one the countries of the same names and so I suspect that they were rulers of those countries.
6	*Chaitra Kṛaṣṇa Navami.*	Bharata, the first *Chakravartî* monarch and his sister Brāhmi were born to queen Nandā.
7	*First Kāmadeva.*	*Bāhubalî*, the first *Kāmadeva* and his sister *Sundarî* were born to queen Sunandā. Besides Bharata, queen Nandā was fortunate to have 99 other sons who were known as Vṛaṣabhasena and others.

No.	Period & Date.	Event.
8	*Aṣāḍa Kṛaṣṇā Pratipadā.*	*Vṛaṣbhadeva* caused to be established many a city, town, village, harbour etc., in the country which was divided in 52 tracts only and divided the people also into three classes, *i.e.*, Kṣatriya, Vaiśya and Sûdra on political grounds; since these were naturally required for the defence and prosperity of a nation. They were only to fulfill the national wants in the shape of Army, Finance and Labour.
9	*Coronation of Śrī Vṛaṣabha.*	*Nābhirāya* and other Kṣatriyas having proclaimed and anointed him as their monarch, *Vṛaṣabhadeva* assumed the powers of a paramount ruler. He established four Kṣatriya clans by name (1) Hari (2) Nātha (3) Ugra (4) and Kuru and appointed them to rule over the different provinces. He further appointed his sons to rule over the other provinces of the *Bharat Kṣetra.* To Bāhubali was given a tract of *Dakṣinā-patha.*
10	*Chaitra Kṛaṣṇā Navami.*	*Vṛṣabhadeva* with four thousand other Kings renounced the world and became a *Digambara* (naked) monk, practising austerities and penances in all silence. Dr. Stevenson's following remarks are noteworthy on the point: "the Jaina tradition which I imagine has a historical basis, is the account they give of the religious practice of Ṛṣabha, the first of their Tīrthaṃkaras. He, too, like Mahāvîra, is said to

No.	Period & Date.	Event.
10	*Chaitra Kṛṣṇā Navami.* — Contd.	have been a Digambara. In the Brahmanical Pūrānic records, he is placed second on the list of kings, in one of the royal families & said to have been father to that Bharat from whom India took its name. He is also, said, in the end of his life, to have abandoned the world, going about every where as a naked ascetic. It is so seldom that Jainas and Brahmans agree, that I do not see, how we can refuse them credit in this instance, where they do so." (Kalpasûtra, Intro : XVI).
11	*Period of asceticism.*	Kachcha, Mahā-Kachcha and other kings could not bear the difficulties of a naked ascetic's life: so they having abandoned the pursuit of that life, adopted various other shapes of monkhood. Vraṣabhadeva's gradson Mārichi was their leader and he preached his own philosophy akin to Sānkhya and Yoga.
12	"	Vṛaṣabhadeva took a vow to observe a fast continuously for six months in a *Kāyotsarga* (standing) position: during which period his hairs were grown in long curls. (संस्कारविरहात्केशा जटाभूतास्तदा विभो :)
13	"	Nami and Vinami, sons of Kachcha and Mahākachcha came to the great ascetic Vṛaṣabhadeva and begged of him for kingdom. Dhoranendra, the king of Nāgakumāras intervened and took them to the Vijayārdha-parvata ; where they were given kingdoms to rule over *Vidyādharas.*

No.	Period & Date.	Event.
14	*Vaiśākha Śukla Tratiyā.*	When full one year three months and nine days had elapsed, since He renounced the world, Śrî Vṛasabhadeva reached the city of Hastināpura in Kurudeśa, where lived king Somaprabha with his younger brother, Śreyānsa. Śreyānsa saw the World Teacher and did obeisance to Him with his brother. He recollected the memory of his previous birth and proceeded to offer the refreshing juice of the sugarcane to the World Teacher, in the approved way. The *devas* witnessed the auspicious sight and rained down fragrant water, heavenly flowers and small gems on the assembly. Vṛasabhadeva strolled away again into the forests after the partaking of the *ikṣurasa* and everybody present praised Prince Śreyānsa for his keen intelligence in finding out the approved way of entertaining a true Jaina Śramana, for the first time in this aeon of time. It was the third of the bright half in the month of Vaiśākha when Ṛṣbhadeva broke his fast at Hastināpur. The event is still commemorated on the date mentioned, which is known as the *Akhaya Tîja.*
15	*Phālguṇa Kṛasṇā Ekādaśî.*	Vṛasabhadeva observing the severest penances and austerities for complete 999 years 11 months and 2 days, reached one day to the town of *Purimatāla*; where in the park named '*Śakaṭa*,' He seated himself

No.	Period & Date.	Event.
15	*Phālguṇu Krishnā Ekādaśi*—Contd.	under a banyan tree, and got absorbed into deep meditation. It was the eleventh day of the dark half of the month *Phālguṇa* and the Uttarāṣādha *Nakṣatra* (constellation) that Śrî Vṛaṣabhadeva attained omniscience.
16	"	The *devas* and men perceived this great event in the life of the First Tîrthaṃkara and they flocked to worship the World Teacher. Under instructions from the *Indra* (Lord) of the first heaven, a heavenly Pavilion was erected for the Lord's Preaching, by celestial artisans. The World Teacher sat in it on a golden throne and preached to audience.
17	"	Emperor Bharata heard the good tidings of the attainment by his Divine Father of Self-realization, along with the news of birth of a son and heir to him and of a *Chakra-Ratna* as well. He proceeded to worship the great sage at once.
18	"	Bharata after hearing the religious discourse of the World Teacher took the vows of a householder. His brother Vṛaṣabhasena, the king of Purimatāla, went a step further on the Divine Path by adopting the strict life of a Jaina monk. He became the first Apostle of the Lord. "Somaprabha and Śreyānsa, at whose Palace the World Teacher had broken His first fast likewise became two ef the Apostles.

No.	Peried & Date.	Event.
18	*Phālguṇa Kṛishnā Ekādaśi*—Contd.	Brāhmî, the elder daughter of the World Teacher, became the first female saint. Sundarî, the second daughter of tha Lord, also renounced the world, and joined the sisterhood of nuns. A man by name Śrutakirti became the first, householder, and a pious lady, by name Priyāvarta, became the first lay female follower of the Lord. Another of Bharata's brothers, whose name was Anantavirya. atonce became a monk. He was the first to obtain *nirvāṇa* in this half-cycle of time. The four thousand chiefs and chieftains who had renounced the world with Ṛṣabhadeva and who had slunk away from *tapaścaraṇa* now came back to Him and entered the *Sangha* Mārichi, however, kept away, and set himself up separately as a teacher "
19	„	*Vṛaṣabhadeva* proceeded on His Divine mission and preached the Truth to the people of the following countries :— Kāśî, Kauśala, Kauśalya. Kusandhya, Aśvaṣṭa, Sālva, Trigarta, Panchāla Bhadrakāra, Pāṭaccara, Manka, Matsya, Kaniya, Sūrasena, Vrakārthaka Kalinga, Kurujāngla, Kaikeya, Atrey, Kāmboja, Vālhika, Yavanśruti, Sindhu, Gāndhāra, Sauvira, Sûra, Bhiru, Daśeruka, Bāḍawāna, Bhāradvāja, Kvāthatoya Tārṇa, Kārṇa and Pracchala.

To be Continued.

Select Contributions to Oriental Journals

1. *Indian Historical Quarterly*; Vol. XII, September, 1936 :—

   p. 524. *Picture Showmen: Maṅkha* by Dr. V. Raghavan, Ph. D., 'Picture showmen called Maṅkha was known also by two other names, *Gaurīputraka* and *Kedāraka*.'

2. *Epigraphia Indica*, Vol. XXII, pt. 5 :—

   A List of Inscriptions of Northern India written in Brāhmī and its derivative Scripts from about A. C. 300.—by Dr. D. R. Bhandarkara.

3. *Journal of the Asiatic Society of Bengal* (Letters), Vol. I, 1935, No. 3 :—

   The Kalabhra. What it means in South Indian History—by Dr. S. K. Aiyangar. "The Kalabhras, identified with the Kalvar or Kaḷavar, are referred to in the epigraphical records as having caused an interruption in the rule of the Paṇḍyas in the Tamil country, etc."

4. *Journal of the Bihar and Orissa Research Society*, Vol. XXII (June 1936.)

   Rājgir (Maniar Math) Stone Image Inscription by K. P. Jayaswal. "The writings inscribed in the characters of the 1st Century A. C. contain names of Mt. Vipula and King Śreṇika."

5. *Journal of the United Provinces Historical Society*, Vol. IX. (July 1936) :—

   Sacred places of the Jains by B. C. Law.

6. *Indian Culture*, July 1936 :—

   Distinguished Men and Women in Jainism (II p. 89) by Dr B. C. Law, Life Stories of Khemā Dedrāṇi, Pethaḍakumāra, Amarakumāra, Vimala Śāh, Srīpāla and Dṛḍha Prahāri are related.

   The Predecessors of Tīrthaṁkara Mahāvīra (p. 202) by K. P. Jain.

7. *Quarterly Journal of the Mythic Society*, Vol. XXVI, Nos. 3 & 4 :—

   The Gangas of Talakkād & Their Kongu Origin by S. V. Viswanātha.

   "The Gangas of Talakkād were only a continuation of the Koṅgu family and their history a later chapter of that of the Kings of Koṅgu Dēśa."

8. *The Poona Orientalists Vol. I, No. 3* (October 1936).

   The Numeral 18 by Prof. O. Stein.

   "........the rule played by the number 18 in Indian literature is remarkable. An explanation of that fact that 18 has been used in nearly every respect, in religion (Vedic, Jainism, Buddhism), philosophy, in law and administration, in psychology and classification of people and mostly in literature, is not easy, if at all possible" etc.

ॐ

THE
JAINA ANTIQUARY

An Anglo-Hindi quarterly Journal,

VOL. II—1936.

Editors:

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B., P.E.S.,
Professor of Sanskrit,
King Edward College, **Amraoti**, C. P.

Prof. A. N. UPADHYE, M.A.,
Professor of Prakrata,
Rajaram College, **Kolhapur**, S.M.C.

B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.,
Aliganj, Distt. Etah, U.P.

Pt. K. BHUJABALI SHASTRI,
Librarian,
The Central Jaina Oriental Library, **Arrah.**

Published at

THE CENTRAL JAIN ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:

Inland Rs. 4. | **Foreign Rs. 4-8.** | **Single Copy 1-4.**

CONTENTS.

RULES.

1. The "Jaina Antiquary" (जैन-सिद्धान्त भास्कर is an Anglo-Hindi quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e.*, in June, September, December, and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including postage and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs 1-4-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jain Sidhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc, from the earliest times to the modern period

7. Contributors are requested to send articles, notes, reviews, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

(*N.B.*—Journals in exchange should also be sent to this address.)

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting, or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders, if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI.

आरा जैन-सिद्धान्त-भवन की प्रकाशित पुस्तकें

(१)	मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित	...	१।)
	(मू० कम कर दिया गया है)		
(२)	ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित	...	१)
(३)	जैन-सिद्धान्त भास्कर, १म भाग की १म किरण	...	१)
(४)	" २य तथा ३य सम्मिलित किरणें	...	१।)
(५)	" २य भाग की चारों किरणें	.	४)
(६)	" ३य " "	...	४)
(७)	भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची	...	।।)
	(यह अर्ध मूल्य है)		
(८)	भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची	...	।।।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (विहार)

ध्यान-दीजिये—

मैंने अरसे से कुपारा (छिंदवाड़ा) में सत्यामृत-औषधालय स्थापित कर रखा है, जहाँ सब प्रकार की देशी शास्त्रोक्त औषधियां—शुद्ध रीति से तैयार की जाती हैं तथा खासकर अपने जैनियों के लिये बिना मधु के द्राक्षासव और च्यवनप्राश तैयार होता है। प्रत्येक जैनी भाई को एकबार मंगाकर अवश्य ही परीक्षा कर लाभ उठाना चाहिये।

सत्यंधर जैन वत्सल, आयुर्वेदाचार्य

सत्यामृत औषधालय

कुपारा जि० (छिंदवाड़ा)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.